महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

तुलनात्मक भारतीय साहित्य

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
तृतीय सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 16

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

तुलनात्मक भारतीय साहित्य

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : मई 2018

पाठ-रचना

प्रो॰ हरदीप सिंह
पूर्व प्रोफेसर
परा-स्नातक हिन्दी विभाग, सतीश चन्द्र धवन सरकारी कॉलेज, लुधियाना, पंजाब

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2, 3 एवं 4

श्री बृजेश अम्बर
उर्दू शाइर
जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 2 : इकाई – 1

डॉ॰ सुचिता त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, चेतगंज, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 2

डॉ॰ प्रदीप कुमार
अनुवादक
नागर विमानन मंत्रालय, भारत सरकार

खण्ड – 2 : इकाई – 3
खण्ड – 4 : इकाई – 1

डॉ॰ बन्दना झा
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, बसन्त महिला महाविद्यालय, राजघाट, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 4 एवं 5

डॉ॰ सय्यद मुज़म्मिलुद्दीन
एसोसिएट प्रोफेसर
ई-कॉमर्स अथवा विपणन, व्यवसाय प्रबंधन विभाग
अन्वारुल उलूम कॉलेज ऑफ़ बिज़नेस मैनेजमेन्ट
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

खण्ड – 3 : इकाई – 1

डॉ॰ दामोदर खड़से
वरिष्ठ साहित्यकार
पुणे, महाराष्ट्र

खण्ड – 3 : इकाई – 2

डॉ॰ कालूराम परिहार
कार्यक्रम अधिशासी
आकाशवाणी, जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 4 : इकाई – 2
खण्ड – 5 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ पद्मजा शर्मा
वरिष्ठ साहित्यकार
जोधपुर, राजस्थान

खण्ड – 5 : इकाई – 3

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग

श्री सचिन कृष्णराव नाखले (खण्ड – 2 : इकाई – 1)
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे (खण्ड – 2 : इकाई – 4, 5 एवं खण्ड – 3 : इकाई – 2)
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र इंटरनेट से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किये गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

तृतीय सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 16
पाठ्यचर्या का शीर्षक : तुलनात्मक भारतीय साहित्य

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : भारतीय साहित्य की अवधारणा

इकाई – 1 : भारतीय साहित्य का स्वरूप, भारतीय साहित्य का इतिहास, आधुनिक भारतीय साहित्य : प्रवृत्त्यात्मक परिचय
इकाई – 2 : भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ
इकाई – 3 : भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता, भारतीय साहित्य में आज के भारत का बिम्ब
इकाई – 4 : भारतीयता का समाजशास्त्र

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 1 : उर्दू : किया तुझ इश्क़ ने ज़ालिम ख़राब आहिस्ता आहिस्ता, सरोदे ऐश गावें हम अगर वो इश्वासाज़ आवे – वली दक्कनी
इकाई – 2 : बांग्ला : ब्राह्मण, भारत तीर्थ, धूलि मन्दिर – रवीन्द्रनाथ टैगोर
इकाई – 3 : तमिल : रे विदेशियो ! भेद न हममें, सब शत्रुभाव मिट जाएँगे – सुब्रह्मण्यम् भारती
इकाई – 4 : पंजाबी : सबसे ख़तरनाक, मेरी बुलबुल– पाश
इकाई – 5 : संताली : क्या तुम जानते हो, बिटिया मुर्मू के लिए, उतनी दूर मत ब्याहना बाबा ! – निर्मला पुतुल

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 1 : मलयालम : चेम्मीन (मछुआरे) – तकषि शिवशंकर पिल्लै
इकाई – 2 : ओड़िया : महामोह – प्रतिभा राय

खण्ड – 4 : नाटक

इकाई – 1 : मराठी : खामोश ! अदालत जारी है – विजय तेंडुलकर
इकाई – 2 : कन्नड़ : तुग़लक – गिरीश कार्नाड

खण्ड – 5 : कहानी

इकाई – 1 : बांग्ला : काबुलीवाला – रवीन्द्रनाथ टैगोर
इकाई – 2 : उर्दू : टोबा टेकसिंह – सआदत हसन मंटो
इकाई – 3 : राजस्थानी : दुविधा – विजयदान देथा

निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :

01. किया तुझ इश्क़ ने ज़ालिम ख़राब आहिस्ता आहिस्ता, सरोदे ऐश गावें हम अगर वो इश्वासाज़ आवे – वली दक्कनी
02. ब्राह्मण, भारत तीर्थ, धूलि-मन्दिर – रवीन्द्रनाथ टैगोर
03. रे विदेशियो ! भेद न हममें, सब शत्रुभाव मिट जाएँगे – सुब्रह्मण्यम् भारती
04. सबसे ख़तरनाक, मेरी बुलबुल– पाश
05. क्या तुम जानते हो, बिटिया मुर्मू के लिए, उतनी दूर मत ब्याहना बाबा ! – निर्मला पुतुल
06. मछुआरे – तकषि शिवशंकर पिल्लै (चयनित अंश)
07. महामोह – प्रतिभा राय (चयनित अंश)
08. ख़ामोश ! अदालत जारी है – विजय तेंडुलकर (चयनित अंश)
09. तुग़लक – गिरीश कार्नाड (चयनित अंश)
10. काबुलीवाला – रवीन्द्रनाथ टैगोर
11. टोबा टेकसिंह – सआदत हसन मंटो
12. दुविधा – विजयदान देथा

सहायक पुस्तकें :

01. आज का भारतीय साहित्य, अनुवाद : प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
02. कन्नड़ साहित्य का इतिहास, एस. मुगली, अनुवादक : सिद्ध गोपाल, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
03. टोबा टेकसिंह और अन्य कहानियाँ, सआदत हसन मंटो, राजपाल एण्ड सन्ज़
04. तमिल नवजागरण और सुब्रह्मण्यम भारती, एम. शेषन्
05. तमिल साहित्य : एक झाँकी, एम. शेषन्
06. तमिल साहित्य का इतिहास, मु. वरदराजन्, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
07. तुलनात्मक साहित्य : भारतीय परिप्रेक्ष्य, इन्द्रनाथ चौधुरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
08. तुलनात्मक साहित्य विश्वकोश, प्रधान सं. : जी. गोपीनाथन्, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा
09. तुलनात्मक साहित्य : सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य, सं. : हनुमानप्रसाद शुक्ल, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.
10. दक्खिनी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इकबाल अहमद, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. दक्खिनी हिन्दी का उद्भव और विकास, श्रीराम वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद
12. दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना
13. दक्खिनी हिन्दी भाषा और साहित्य, मुहम्मद कुंज मेत्तर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
14. बांग्ला साहित्य का इतिहास, सुकुमार सेन, अनुवादक : निर्मला जैन, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
15. भारतीय साहित्य, सं. : नगेन्द्र, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
16. भारतीय साहित्य, भोलाशंकर व्यास

17. भारतीय साहित्य, मूलचन्द गौतम
18. भारतीय साहित्य, रामछबीला त्रिपाठी
19. भारतीय साहित्य अध्ययन की नई दिशाएँ, प्रदीप श्रीधर, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
20. भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, नगेन्द्र, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
21. भारतीय साहित्य की अवधारणा, राजेन्द्र मिश्र, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
22. भारतीय साहित्य की पहचान, सं. : सियाराम तिवारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
23. भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
24. मराठी साहित्य : परिदृश्य, चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
25. मराठी साहित्य का इतिहास, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
26. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शिशिर कुमार घोष, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
27. विजय तेंडुलकर, देवेश ठाकुर
28. सुब्रह्मण्यम् भारती, रा. अ. पद्मनाभन्, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, संस्करण
29. सुब्रह्मण्यम् भारती, रवीन्द्र कुमार सेठ, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, संस्करण
30. सुब्रह्मण्यम् भारती, प्रेमा नन्दकुमार, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
31. सुब्रह्मण्यम् भारती : युग और चिन्तन, टी.एम.सी. रघुनाथन्, हिन्दी अनुवाद : एम. शेषन्, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
32. सुब्रह्मण्यम् भारती की प्रमुख गद्य-कृतियाँ, अनुवाद : एस. एन. गणेशन्, प्रकाशक : मद्रास विश्वविद्यालय

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	10 – 28
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	29 – 38
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	39 – 50
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	51 – 67
05.	खण्ड – 2	इकाई – 1	68 – 81
06.	खण्ड – 2	इकाई – 2	82 – 107
07.	खण्ड – 2	इकाई – 3	108 – 119
08.	खण्ड – 2	इकाई – 4	120 – 128
09.	खण्ड – 2	इकाई – 5	129 – 144
10.	खण्ड – 3	इकाई – 1	145 – 154
11.	खण्ड – 3	इकाई – 2	155 – 167
12.	खण्ड – 4	इकाई – 1	168 – 179
13.	खण्ड – 4	इकाई – 2	180 – 207
14.	खण्ड – 5	इकाई – 1	208 – 225
15.	खण्ड – 5	इकाई – 2	226 – 247
16.	खण्ड – 5	इकाई – 3	248 – 267

खण्ड – 1 : भारतीय साहित्य की अवधारणा

इकाई – 1 : भारतीय साहित्य का स्वरूप, भारतीय साहित्य का इतिहास, आधुनिक भारतीय साहित्य : प्रवृत्त्यात्मक परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य कथन
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. भारतीय साहित्य का स्वरूप
    1.1.2.1. भारतीय साहित्य का आशय
    1.1.2.2. भारतीय साहित्य की अवधारणा के सम्बन्ध में के. सच्चिदानन्द के विचार
1.1.3. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास
1.1.4. आधुनिक भारतीय साहित्य : प्रवृत्त्यात्मक परिचय
    1.1.4.01. तमिल
    1.1.4.02. तेलुगु
    1.1.4.03. कन्नड़
    1.1.4.04. मलयालम
    1.1.4.05. मराठी
    1.1.4.06. गुजराती
    1.1.4.07. बांग्ला
    1.1.4.08. असमिया
    1.1.4.09. उड़िया
    1.1.4.10. पंजाबी
    1.1.4.11. उर्दू
    1.1.4.12. हिन्दी
1.1.5. भारतीय वाङ्मय की रागात्मक एकता
1.1.6. भारतीय वाङ्मय की काव्य शैली और स्वरूपगत समानता
1.1.7. पाठ-सार
1.1.8. बोध प्रश्न

1.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भारतीय साहित्य के स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. भारतीय साहित्य के विकासक्रम की समझ विकसित कर सकेंगे।
iii. आधुनिक भारतीय साहित्य की मूलभूत प्रवृत्तियों को समझ सकेंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

भारतीय साहित्य की मूलभूत अवधारणा भारत में प्राचीन काल से विकसित और पल्लवित विभिन्न भाषाओं के सामूहिक स्वरूप से उत्पन्न हुई है। भारत उपमहाद्वीप शताब्दियों से गौरवशाली समुन्नत सभ्यता और संस्कृति का केन्द्र रहा है। विश्व मनीषा सदैव भारतीय चिन्तन परम्पराओं, साहित्य बोध तथा दार्शनिक पद्धतियों के प्रति विस्मयपूर्ण आदर का भाव प्रदर्शित करती रही है। भारतीय चिन्तन परम्परा में एक प्राचीन काल से वैश्विक दृष्टि समाहित रही है जिसके अंतस् में समूची मानव जाति के कल्याण की चेतना मौजूद रही है। इसी कारण भारत भूमि सदा से ही हर प्रकार के वैविध्य को आत्मसात करने में न केवल उदार रही है बल्कि हर उस नवीनता को स्वीकार कर उसके सर्वांगीण संवर्धन में सकारात्मक भूमिका निभाई है। भारत की यह समवेती और समावेशी प्रवृत्ति ही इसे अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों से भिन्न और विशिष्ट बनाती है। यह इस भूमि की ही महिमा है कि यहाँ युगों-युगों से असंख्य जातियाँ अपनी धार्मिक आस्थाओं, सांस्कृतिक विशिष्टताओं, सामाजिक रूढ़ियों और राजनैतिक प्रतिबद्धताओं को साथ लिए, सुरक्षित रहते हुए विकास के मार्ग प्रशस्त करती रहीं। संसार में ऐसी मिसाल कहीं नहीं मिलेगी जहाँ इतनी जातियाँ, भाषाएँ, संस्कृतियाँ और धार्मिक आस्थाएँ एक साथ पुष्पित और पल्लवित हो रहीं हों।

भारत की बहुभाषिकता, इस राष्ट्र की अस्मिता और शक्ति है। इसकी विविधता में एक अन्तर्लीन सांस्कृतिक समन्वय की ऊर्जा निहित है जो कि अनेकता में एकता की संचेतना को व्याप्त करने में सहायक है। वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक बहुलता के साथ लोगों के आचार-विचार-व्यवहार, धार्मिक और आध्यात्मिक चिन्तन के अन्तर्विरोध, सामाजिक रूढ़ियों और राजनैतिक विचारधाराओं के अन्तर्मन्थन की प्रक्रिया यहाँ निरन्तर गतिमान रही है। यही इस देश की बहुभाषिक संस्कृति की विशिष्टिता है।

1.1.2. भारतीय साहित्य का स्वरूप

1.1.2.1. भारतीय साहित्य का आशय

'भारतीय साहित्य' शब्द भारत की सभी भाषाओं में लिखित और मौखिक साहित्य के भण्डार को कहा जाता है। संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त 22 भाषाओं का साहित्य सम्मिलित रूप से भारतीय साहित्य है। यह एक समुच्चय है जो कि सभी भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का समेकित रूप है। भारतीय समाज को चित्रित करने वाला साहित्य ही भारतीय साहित्य है। केवल भाषापरक ही नहीं बल्कि इसकी पहचान इसके भारतीय सामाजिक सरोकार से बनी है। हर वह साहित्य जो भारतीय समाज के राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और आंचलिक पक्ष को उजागर करता है, भारतीय साहित्य कहलाने का हकदार है। भारतीयता को उसके समूचेपन के साथ प्रस्तुत करने वाला साहित्य ही भारतीय साहित्य हो सकता है इसलिए विदेशों में भारतीय स्थितियों और समाज की अन्तश्चेतना को प्रस्तुत करने वाला साहित्य भी भारतीय साहित्य की श्रेणी में स्थान प्राप्त करता है।

केवल संविधान में उल्लिखित भाषाएँ ही नहीं वरन अन्य भारतीय बोलियों और उपभाषाओं में रचित साहित्य भी भारतीय साहित्य के दायरे में आता है।

भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में अंग्रेज़ी भाषा का उल्लेख नहीं है किन्तु भारतीय लेखकों द्वारा रचित अंग्रेज़ी साहित्य, भारतीय साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय रचनाकारों के द्वारा रचित अंग्रेज़ी साहित्य की अपनी एक विशिष्ट पहचान है और इसे विश्व स्तर पर लोकप्रियता प्राप्त है। इस तरह भारतीय साहित्य के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं के साथ साथ भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य भी शामिल हो गया है।

भारतीय साहित्य की आधारभूत भारतीयता या एकता से परिचित होना तभी सम्भव होता है जब हम उसे अनेकता या भारतीय साहित्य की विविधता के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करते हैं। पश्चिमी विचारधारा प्रत्येक समस्या को द्वि-आधारी प्रतिमुखता में बदल देती है और इसके विपरीत भारतीय मन जीवन की साकल्यवादी दृष्टि में विश्वास करता है और परिणामतः एकता-अनेकता जैसे विरुद्धों के समूह को एक दूसरे के संपूरक के रूप में स्वीकार करना सहज हो जाता है और स्थानीय, प्रान्तीय तथा सर्व-भारतीयता तथा राष्ट्रीय अस्मिता में एक सजीव सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो पाता है। भारतीय साहित्य अपनी एकता में विविधता को अंगीकार करते हुए प्रदर्शित करता है और यही विश्व को भारत की देन है। अनेकता से एकता की ओर ले जाने वाला यह मॉडल भारत की अनन्यता है।

भारतीय साहित्य भाषिक बहुवचनीयता के साथ ही एक मूलभूत ऐक्य के तत्त्व को धारण किए हुए है, यह एक निर्विवाद सत्य है। भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता को प्रामाणित करने के लिए अनेकों ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक साक्ष्य मौजूद हैं। भारतीय साहित्य की एकता को प्रमाणित करने के उद्देश्य से सन् 1954 में साहित्य अकादेमी की स्थापना हुई। डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने तब कहा कि भारतीय साहित्य एक है यद्यपि वह बहुत-सी भाषाओं में लिखा जाता है। (Indian literature is one though written in many languages.) डॉ॰ सुनीतिकुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'लेंगवेजेज़ एंड लिटरेचर्स ऑफ इंडिया' में भारतीय साहित्य के लिए 'बहुवचन' शब्द का प्रयोग किया है।

साधारणतया भारतीय भाषाओं का उल्लेख हम एकवचन में करते हैं परन्तु जब भारतीय भाषाओं की बात की जाती है तब बहुवचन का प्रयोग होता है। भारतीय साहित्य में हमें विषयवस्तु की एकता मिलती है और शैली की विभिन्नता भी और साथ ही सांस्कृतिक विशिष्टताओं का एक वैविध्यपूर्ण संसार के साथसाथ साहित्यिक परम्पराओं के अपार उदाहरण। लेखकों द्वारा लगातार यह सिद्ध किया जाता रहा है कि भारत एक वैविध्यमय देश है जो बहुत सी जातियों, सभ्यताओं, प्रदेशों, धर्मों तथा भाषाओं का समाहार है। इसके किसी एक हिस्से का आविष्कार दूसरे हिस्से की खोज के लिए हमें रास्ता दिखाते हैं (हिन्दी का भक्तिकाव्य हमें अन्ततः तमिल आलवारों तक पहुँचा देता है) और इस तरह एक सम्पूर्ण भारत का पता लगता है। जब हम मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का उदाहरण लेते हैं, तब हम देखते हैं कि यह सर्वभारतीय घटना 6-7वीं शती में तमिल के आलवारों द्वारा घटित होकर कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान में प्रसारित होते हुए 13-14वीं शती में कश्मीर तक फैल जाती

है, और 15-16वीं शती तक मध्य देश को अपने घेरे में ले लेती है। श्री चैतन्य के फलस्वरूप भक्ति के इस रूप का नवरूपण होता है और बंगाल, असम तथा मणिपुर में इस आन्दोलन का प्रसार होता है। यह एक क्रान्ति थी, नवजागरण था जिसने भक्तों की कल्पना को झंझा की तरह झकझोर दिया। भक्ति साहित्य में अलग-अलग भाषाओं का प्रयोग हुआ है, इसमें अनेक सांस्कृतिक विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति विद्यमान है। विभिन्न भाषाओं में रचित इस साहित्य में मौजूद विविधता के बावजूद एक आम विश्वास, आस्था, मिथक तथा अनुश्रुतियाँ इनमें विषयवस्तु की एकता को दर्शाती हैं। इसी क्रम में आधुनिककाल के नवजागरण का उदाहरण भी लिया जा सकता है। वैज्ञानिक बुद्धिवादिता, व्यक्ति स्वाधीनता तथा मानवतावाद 14वीं शती के यूरोपीय नवजागरण की विशेषताएँ थीं। भारत में समय की माँग के अनुसार इनके स्थान पर राष्ट्रवाद, सुधारवाद तथा पुनरुत्थानवाद का प्रसार हुआ। एक ही विषयवस्तु – समाज सुधार को लेकर भारत की विभिन्न भाषाओं में पहला उपन्यास लिखा गया। तमिल में सैमुअल वेदनायकम पिल्लई, तेलुगु में कृष्णम्मा चेट्टी, मलयालम में चंदु मेनन, हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास, बांग्ला में मेरी हचिन्सन के उपन्यास की विषयवस्तु में समाज सुधार की ही प्रमुखताहै। वस्तुतः इन्हीं सब कारणों से यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि कोई भी एक भारतीय साहित्य एक दूसरे भारतीय साहित्य से कहीं न कहीं जुड़ा हुआ है अतएव भारतीय साहित्य का कोई भी अध्ययन एक साहित्य के सन्दर्भ में अध्ययन के प्रति न्याय नहीं कर सकता। इन सारी विविधताओं का समाधान 'अनुवाद' के माध्यम से ही सम्भव है। भारतीय साहित्य की भाषिक विविधता को दूर करने में 'अनुवाद' की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय साहित्य की अवधारणा भाषा साहित्य के समीकरण पर आधारित नहीं क्योंकि यहाँ बहुत सी भाषाएँ हैं। हमारी बहुभाषिक स्थिति में एक लेखक बहुत सी भाषाओं में लिखता है। इसीलिए भारतीय साहित्य को किसी एक भाषा से सम्बद्ध करके चिह्नित नहीं किया जा सकता। जब कोई भारतीय साहित्य की बात करता है तब एक भौगोलिक क्षेत्र और राजनैतिक एकता की बात उठती है। भौगोलिक क्षेत्र की अपेक्षा भारतीयता का आदर्श हमारे लिए ज़्यादा आवश्यक है। पण्डित नेहरू ने कहा है कि यह एक नेशन स्टेट नहीं है मगर एक राष्ट्र निर्मिति की स्थिति में है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि हमारा राष्ट्र मात्र भौगोलिक सत्ता नहीं, मृण्मय नहीं, वह एक विचार का प्रतीक है, वह चिन्मय है। हमारा राष्ट्रवाद हमारे प्राचीन आदर्शों तथा गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत बहुलवाद, आध्यात्मिक परम्परा, सत्य और सहिष्णुता के विचारों तथा नेहरू के समाजवादी तथा अपक्ष ग्रहण (non-alignment) के विचारों पर आधारित है। और सबसे बड़ी बात हमारे साहित्य की अवधारणा जनता तथा साहित्य के सम्पर्क की पहचान पर आधारित है। वस्तुतः भारत के साहित्य को केवल भाषा, भौगोलिक क्षेत्र और राजनैतिक एकता से ही पहचाना नहीं जाता मगर कहीं अधिक उस देश की जनता के आश्रय से पहचाना जाता है।

1.1.2.2. भारतीय साहित्य की अवधारणा के सम्बन्ध में के. सच्चिदानन्द के विचार

भारतीय साहित्य की अवधारणा को समझने के लिए श्री के. सच्चिदानन्द के साक्षात्कार का निम्नलिखित अंश महत्त्वपूर्ण है –

साक्षात्कारकर्त्ता : क्या भारतीय साहित्य की कोई समेकित अवधारणा निर्मित हो सकी है ? यदि हाँ तो उसकी सामान्य विशेषताएँ क्या हैं ?

श्री के. सच्चिदानन्द : अनेक विद्वानों ने भारतीय साहित्य के एक समेकित स्वरूप को स्थापित करने की कोशिश की है । डॉ॰ एस. राधाकृष्णन् ने एक समय पर कहा था, "विभिन्न भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद भारतीय साहित्य एक है ।" उसके बाद डॉ॰ रामविलास शर्मा, उमाशंकर जोशी, यू.आर. अनन्तमूर्ति, शिशिर कुमार दास, शेल्डान पोलॉक, वसुधा डालमिया, ए.के. रामानुजम् तथा कई अन्य साहित्यिक इतिहासकारों व विद्वानों ने भी अलग-अलग तरीके से भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा होने का समर्थन किया है । मेरे सहित भारतीय साहित्य के तमाम समकालीन अध्येता (मैं स्वयं को एक स्कॉलर नहीं मानता), जिनमें गणेश डेवी व ई.वी. रामकृष्णन् जैसे लोग शामिल हैं, सोचते हैं कि भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की विविधताओं को दरकिनार कर, एक एकीकृत भारतीय साहित्य की अवधारणा को स्थापित करना ख़तरनाक होगा । यू.आर. अनन्तमूर्ति ने एक अवसर पर कहा है, "जब हम भारतीय साहित्य की एकता को देखने चलते हैं तब इसकी विविधता सामने आ जाती है और जब हम इसकी विविधता को परखने चलते हैं तब इसकी एकता दिखाई देने लगती है ।" यही बात सत्य के सबसे नज़दीक लगती है । हालाँकि मैं निहार रंजन रे जैसे आलोचकों से सहमत नहीं हूँ, जिनके विचार में न ही हम किसी साहित्य को 'भारतीय साहित्य' कह सकते हैं और न ही किसी भाषा को 'भारतीय भाषा' । यह एक झूठी अवधारणा है, विशेषकर तब, जब हम 'यूरोपियन' जैसी किसी भाषा के न होते हुए भी 'यूरोपियन साहित्य' की बात करते हैं या फिर एक ही भाषा अंग्रेज़ी में लिखे हुए साहित्य को ब्रिटिश, अमेरिकन, आस्ट्रेलियन, कनाडियन अथवा भारतीय अंग्रेज़ी साहित्य जैसे अलग-अलग रूपों में देखते हैं । भाषा ही साहित्य के वर्गीकरण का एकमात्र आधार नहीं होती । आलोचकों ने वर्ग, जाति, लिंग, संरचना, उत्पत्ति, सैद्धान्तिकता, मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण आदि के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया है । वास्तव में हमें भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा को विकसित करने के बजाय उसके तुलनात्मक स्वरूप को सामने रखना चाहिए ताकि न तो हम भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्य में अन्तर्निहित एकता को नज़र-अंदाज़ कर सकें और न ही उनकी विविधताओं को ।

साक्षात्कारकर्त्ता : भारतीय साहित्य की एक समेकित अवधारणा किन-किन सामान्य तत्त्वों के आधार पर विकसित हो सकती है ?

श्री के. सच्चिदानन्द : भारतीय साहित्य के सामान्य आधार हैं; (i) साझा परम्पराएँ, जैसे संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि का साहित्य, (ii) साझे प्रभाव, जैसे फारसी व पाश्चात्य (यूरोपियन) साहित्य का असर, (iii) समान आन्दोलन, जैसे भक्ति व सूफी आन्दोलन, सामाजिक सुधारवाद एवं राष्ट्रवाद प्रगतिवाद, आधुनिकतावाद एवं अन्य सम्बद्ध या अन्तर्निहित आन्दोलन, जैसे दलित-विमर्श, स्त्री-विमर्श, आदिवासी-विमर्श आदि, (iv) हमारे रचनाकारों के साझे सामाजिक व सांस्कृतिक सरोकार, जैसे वर्ग, जाति, वर्ण, लिंग-स्वातन्त्र्य, मौलिक स्वातन्त्र्य, राष्ट्रीय एकता, धर्म-निरपेक्षता आदि से जुड़ी चिन्ताएँ, (v) प्राचीन महाकाव्यात्मक साहित्य, जैसे रामायण, महाभारत आदि का विभिन्न भाषाओं पर पड़ा समान प्रभाव । लेकिन मैं यहाँ यह भी जोड़ना चाहूँगा कि जब हम

इन बातों को बारीकी से देखते हैं तो यह भी पाते हैं कि जिस तरह से यह बातें विभिन्न भाषाओं में अभिव्यक्त होती हैं, उसमें भी काफी भिन्नता है और कुछ बातें पूरी विशिष्टताओं के साथ साझा भी नहीं होती हैं । जैसे कि पूर्वोत्तर भारत में संस्कृत महाकाव्यों का प्रभाव काफी कम रहा, विभिन्न भाषाओं में भक्ति-साहित्य की शैली अलग-अलग रही (शबद, बीजक, अभंग, वख, वचन, कीर्तन, धुन, भजन आदि) तथा आदिवासियों की भाषाओं के अपने अलग ही मौखिक अथवा श्रुत महाकाव्य एवं वाचिक परम्पराएँ हैं। जब हम सरसरी तौर पर कुछ कहते हैं तो उसमें बहुत कुछ छूट जाता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि प्रारम्भिक दौर के यूरोपीय इतिहासकारों ने जब भारतीय साहित्य की बात की तो उन्होंने मुख्यतः केवल संस्कृत भाषा के साहित्य की ही बात की, जबकि इन इतिहासों के लिखे जाने के अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी तक देश की लगभग सभी भाषाओं में श्रेष्ठ साहित्य का सृजन हो चुका था। उन्होंने तमिल-साहित्य तक को संज्ञान में नहीं लिया जिसकी उत्पत्ति तो लगभग ढाई हजार वर्ष पुरानी है ।

साक्षात्कारकर्त्ता : क्या भारतीय साहित्य के विभिन्न भाषायी घटकों के बीच अन्तर्सम्बन्ध बनाने में हिन्दी एक सेतु बन सकती है ? अब तक इस क्षेत्र में हिन्दी ने जो भूमिका निभाई है उसके बारे में आपके क्या विचार हैं ?

श्री के. सच्चिदानन्द : जब हम अन्य भारतीय भाषाओं के अन्तर्सम्बन्ध की बात करते हैं तो पाते हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में हिन्दी में काफी खुलापन है । कुछ भारतीय भाषाओं जैसे बांग्ला, कन्नड़ व मराठी आदि में विदेशी भाषाओं से तो खूब अनुवाद होते हैं लेकिन अन्य भारतीय भाषाओं से बहुत कम । हिन्दी में अनुवाद की एक लम्बी परम्परा है, लेकिन अभी भी बहुत किया जाना बाकी है। दूसरी भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी में भी बांग्ला से अनुवाद किए जाने की प्रचुरता रही है। हिन्दी में दू-दराज़ की अन्य साहित्य-सम्पन्न भाषाओं जैसे असमिया, ओड़िया, तमिल, मलयालम, मणिपुरी आदि से और ज्यादा अनुवाद किए जाने की आवश्यकता है।

साक्षात्कारकर्त्ता : भारतीय सहित्य के अन्तर्सम्बन्धों को मजबूत करने में कौन-कौन से तत्त्व उपयोगी हो सकते हैं ? इस क्षेत्र में हिन्दी भाषा के साहित्यकारों से आपको और क्या अपेक्षाएँ हैं ?

श्री के. सच्चिदानन्द : हमारी समस्या यह है कि हिन्दी के ऐसे बहुत कम वक्ता हैं जिन्होंने अन्य भारतीय भाषाएँ सीखी हों । इसी कारण से हिन्दी से अन्य भाषाओं में तथा अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद भी प्रायः दूसरी भाषाएँ बोलने वाले लोगों द्वारा ही किए जाते हैं। इस प्रवृत्ति ने अन्य भाषा-भाषियों के बीच हिन्दी के विरुद्ध काफी पूर्वाग्रह-भरी भावना पैदा की है, क्योंकि उन्हें लगता है कि अन्य भाषाएँ बोलने वाले तो हिन्दी सीखते हैं किन्तु हिन्दी बोलने वाले अन्य भारतीय भाषाएँ नहीं सीखना चाहते । हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करने लिए यह सबसे पहली समस्या है जिसका समाधान किया जाना चाहिए । और इसका एकमात्र समाधान इसी में निहित है कि हिन्दी-भाषी प्रदेशों की स्कूली-शिक्षा में अनिवार्य रूप से तथा कड़ाई के साथ त्रिभाषा फार्मूला लागू किया जाय। प्रारम्भिक आयु में तीन भाषाएँ सीखना किसी भी बच्चे के लिए कठिन काम नहीं है। इस शर्त को पूरा किए बिना हिन्दी सही मायनों में देश की सम्पर्क भाषा नहीं बन सकती है । इसी के

साथ ही हिन्दी में होने वाले अनुवादों की गुणवत्ता सुनिश्चित किया जाना भी बहुत ज़रूरी है, क्योंकि वर्तमान में जो अनुवाद अन्य भाषा-भाषियों द्वारा हिन्दी में किए जा रहे हैं, वे बहुत अच्छे और समसामयिक नहीं हैं।

साक्षात्कारकर्त्ता : इस क्षेत्र में आपकी जातीय भाषा के साहित्यकार की क्या भूमिका हो सकती है ? इस क्षेत्र में सेतु निर्मित करने वाले साहित्यकारों-अनुवादकों के योगदान पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

श्री के. सच्चिदानन्द : मैं यह भी ज़रूरी मानता हूँ कि क्षेत्रीय भाषाओं के लेखकों को भी अन्य भाषाओं का बेहतरीन साहित्य पढ़ना चाहिए तथा उसका ज्यादा से अनुवाद भी करना चाहिए । अपनी भाषा मलयालम के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ कि आज हिन्दी क्षेत्र से केवल तीन ही ऐसे जीवित व्यक्ति हैं, जो मलयालम से हिन्दी में सीधे अनुवाद कर सकते हैं। ये हैं यू.के.एस. चौहान, रति सक्सेना एवं सुधांशु चतुर्वेदी। इन लोगों ने मलयालम की कुछ प्रमुख कृतियों का हिन्दी में अनुवाद किया है। इनमें से पहले दो ने कविताओं का अनुवाद किया है और तीसरे ने कथा-कृतियों का। मलयालम से हिन्दी में किए गए बाकी अधिकांश अनुवाद तथा हिन्दी से मलयालम में किए गए लगभग समस्त अनुवाद ऐसे मलयालियों द्वारा ही किए गए हैं, जिन्हें हिन्दी आती है।

साक्षात्कारकर्त्ता : राष्ट्रीय एकता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य की क्या सकारात्मक भूमिका हो सकती है ?

श्री के. सच्चिदानन्द : भाषाओं और लोगों को करीब लाने में साहित्य की महती भूमिका होती है क्योंकि इसके माध्यम से ही लोगों में एक दूसरे की क्षेत्रीय संस्कृति, भौगोलिक पृष्ठभूमि, स्वभाव और रहन-सहन के बारे में समझ विकसित होती है। अगर मैं आज बंगालियों के बारे में इतना सब कुछ जानता हूँ तो वह केवल इसी कारण से है कि मैं बचपन से टैगोर, माणिक बन्दोपाध्याय, शरतचन्द्र चटर्जी, ताराशंकर बनर्जी, शंकर, जरासंधन, सुनील गंगोपाध्याय, महाश्वेतादेवी, विमलकर दिब्येन्दु पालित आदि की मलयालम में उपलब्ध कृतियों को पढ़ता रहा हूँ। यही बात हिन्दी के बारे में भी है। मैंने बचपन से प्रेमचन्द, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, निर्मल वर्मा, अज्ञेय आदि की कृतियों को मलयालम में पढ़ा है। इसी के कारण हम कलकत्ता, दिल्ली और मुंबई की सड़कों, बिल्डिंगों व सार्वजनिक स्थानों के बारे में इन शहरों का भ्रमण करने के पहले से ही अच्छी तरह से जान जाते हैं। इतना ही नहीं हम इन स्थानों की संस्कृति, रिश्ते-नातों व व्यवहार-विचार आदि के बारे में भी बहुत कुछ जान जाते हैं। अतः देश के विभिन्न हिस्सों के लोगों के बीच सम्बन्धों को पुख़्ता बनाने के लिए साहित्य से ज्यादा योगदान किसी और चीज़ का नहीं हो सकता है।

साक्षात्कारकर्त्ता : अहिन्दी भाषियों द्वारा रचे जाने वाले हिन्दी-साहित्य को साहित्य के इतिहास में कितनी जगह मिली है ? क्या आप इससे संतुष्ट हैं ? इसी प्रकार विभिन्न भाषाओं के अनूदित साहित्य के योगदान के बारे में आपका क्या मूल्यांकन है ?

श्री के. सच्चिदानन्द : मैं यह नहीं मानता कि गैर-हिन्दी भाषियों के हिन्दी लेखन को हिन्दी साहित्य की मुख्यधारा में कभी कोई जगह मिली है, हालाँकि उन्हें प्रोत्साहित और पुरस्कृत किए जाने की तमाम योजनाएँ हैं। यह स्थिति विचित्र लगती है क्योंकि इसी के बरक्स भारतीय भाषा-भाषियों का अंग्रेज़ी साहित्य देश के साहित्य की मुख्यधारा

में अपना स्थान बना चुका है, भले ही अभी कुछ अपवादों को छोड़कर उसे विश्व के अंग्रेज़ी साहित्य की मुख्यधारा में स्थान न मिला हो। ऐसे गैर-हिन्दी भाषी हिन्दी लेखकों को अपने क्षेत्र में भी समुचित सम्मान नहीं मिलता, भले ही जम्मू, नेपाल एवं राजस्थान की स्थिति कुछ भिन्न है। इसका मुख्य कारण यही है कि ज्यादातर क्षेत्रीय लेखक अपनी भाषा में ही लिखना पसन्द करते हैं और वे अंग्रेज़ी में तभी लिखना शुरू करते हैं जब वे अपनी भाषा में अच्छा लेखन नहीं कर पाते क्योंकि अंग्रेज़ी की स्वीकार्यता देश में तथा बाहर भी ज्यादा व्यापक है। यह प्रवृत्ति आगे भी बनी रहेगी और ज्यादा मज़बूत होगी क्योंकि विभिन्न कारणों से नई पीढ़ी का आत्माभिव्यक्ति के लिए अंग्रेज़ी की ओर ज्यादा झुकाव है। ये युवा जीवन-यापन की नई परिस्थितियों, शिक्षा, पहचान तथा ज्यादा पैसे कमाने जैसे उद्देश्यों को लेकर अपनी मातृभाषा से कटे जा रहे हैं। यहाँ यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे ज्यादातर लेखक सशक्त साहित्यिक विरासत वाली बांग्ला तथा मलयालम जैसी भाषाओं से निकलकर अंग्रेज़ी में आ रहे हैं, किन्तु साथ ही साथ इन भाषाओं में भी उत्कृष्ट साहित्य का रचा जाना जारी है। इसकी वज़ह से इन प्रदेशों की सामान्य साहित्यिक संस्कृति भी हो सकती है। लेकिन मैं किसी बंगाली या मलयाली को महत्त्वपूर्ण हिन्दी लेखन करते हुए नहीं देख रहा, हालाँकि उनमें से तमाम लोग हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यद्यपि हिन्दी में बड़े उत्कृष्ट लेखक हुए हैं और हिन्दी का साहित्य भी श्रेष्ठ है लेकिन हिन्दीभाषी प्रदेशों में केरल व बंगाल जैसी वह साहित्यिक संस्कृति नहीं है, जिसमें आम लोगों द्वारा साहित्यिकारों को विशेष आदर व सम्मान दिया जाता हो। इसका एक कारण वहाँ साक्षरता का स्तर बेहतर होना हो सकता है। अनूदित साहित्य ने सभी भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इससे नई प्रवृत्तियों, विधाओं, सोच तथा नए साहित्यिक आन्दोलनों तक का जन्म हुआ है। उदाहरण के लिए देखा जाय तो हम पाते हैं कि प्रेमचन्द, यशपाल, ताराशंकर, माणिक बंदोपाध्याय आदि के अनूदित साहित्य के साथ-साथ टॉलस्टाय, दास्तोवेस्की, गोर्की, मोपासा, एमिले, ज़ोला, बाल्ज़ाक आदि के अनूदित साहित्य के प्रभाव ने ही काफी हद तक मलयालम साहित्य में प्रगतिवाद को जन्म दिया। ऐसा ही आधुनिकतावाद जैसे अन्य आन्दोलनों के बारे में भी हुआ।

साक्षात्कारकर्त्ता : भारतीय साहित्य की अवधारणा को विकसित करने में साहित्य अकादेमी की क्या भूमिका है ? उसके लिए आप के क्या सुझाव हैं ? क्या इस तरह की और भी संस्थाएँ हैं ? क्या ऐसी अन्य संस्थाओं की ज़रूरत है ?

श्री के. सच्चिदानन्द : साहित्य अकादेमी ने अपनी गोष्ठियों, पाठों, परिचर्चाओं व अंग्रेज़ी पत्रिका 'इंडियन लिटरेचर' व हिन्दी पत्रिका 'समकालीन भारतीय साहित्य' जैसे प्रकाशनों के माध्यम से भारतीय साहित्य के बारे में काफी जानकारी पैदा की है। अकादमी ने अपनी हज़ारों आन्थोलॉजी की पुस्तकों, मोनोग्राफ व अनुवाद पुस्तकों द्वारा भी यही काम किया है। लेकिन भारत इतना बड़ा देश है और भारतीय भाषाओं का इतिहास इतना सम्पन्न है कि सिर्फ एक ही संस्था आवश्यकता के अनुरूप सभी कुछ नहीं कर सकती। नेशनल बुक ट्रस्ट ने भी अपने 'आदान-प्रदान' कार्यक्रम के माध्यम से कुछ उल्लेखनीय अनुवाद प्रकाशित किए हैं। क्षेत्रीय साहित्य अकादमियाँ भी प्रायः अपनी भाषा से अंग्रेज़ी में और कभी-कभी हिन्दी व अन्य भाषाओं में अनुवाद कराती हैं। मेरा सुझाव है कि सभी राज्यों को इस तरह के काम के लिए अनुवाद केन्द्र व ब्यूरो आदि स्थापित करने चाहिए। हिन्दी अकादमी

जैसी संस्थाओं को ऐसे काम करने चाहिए। यदि सरकार राजभाषा पर खर्च की जाने वाली अपनी धनराशि का एक चौथाई भी अनुवाद की संस्थाएँ और अनुवाद फंड स्थापित करने पर खर्च कर दे तो स्थिति बहुत बेहतर हो जाएगी। मुझे नहीं लगता कि हिन्दी की संस्थाओं ने भारतीय साहित्य को एक साथ लाने की कोई पर्याप्त कोशिश की है। पहले भोपाल का भारत भवन भारतीय काव्योत्सव व अनुवाद की कार्यशालाएँ आयोजित किया करता था लेकिन अशोक बाजपेयीजी के जाने के बाद वह भी अर्धमृत सा लगता है। भारतीय साहित्य के पुस्तकालय व भण्डारागारों की स्थापना, अनुवाद की परियोजनाओं का संचालन, अनुवादकों के लिए विभिन्न भाषाओं में अनुवाद का प्रशिक्षण, ऐसे अनेक कार्य हमें करने होंगे। चौबीस भारतीय भाषाओं में अनुवाद पुस्तकें प्रकाशित कर रही साहित्य अकादेमी ही एकमात्र संस्था है जो इस दिशा में कुछ करती हुई दिखाई पड़ रही है। वह विभिन्न प्रकार के एन्साइक्लोपीडिया, व्हूज़ हू, बिब्लिओग्राफी तथा प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक साहित्य की आन्थोलॉजी आदि के माध्यम से भारतीय साहित्य का एक डाटाबेस भी सृजित कर रही है। लेकिन सीमित कर्मी, बल व संसाधनों के बूते केवल एक ही संस्था इस बारे में कितनाकुछ कर सकती है!

1.1.3. प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास

भारतीय साहित्य में वह सब शामिल है जो 'साहित्य' शब्द में इसके व्यापकतम भाव में आता है: धार्मिक और सांसारिक, महाकाव्य तथा गीत, प्रभावशाली एवं शिक्षात्मक, वर्णनात्मक और वैज्ञानिक गद्य, साथ ही साथ मौखिक पद्य एवं गीत। वेदों में (3000 ईसा पूर्व-1000 ईसा पूर्व) जब हम यह अभिव्यक्ति देखते हैं, "मैं जल में खड़ा हूँ फिर भी बहुत प्यासा हूँ", तब हम ऐसी समृद्ध विरासत से आश्चर्यचकित रह जाते हैं जो आधुनिक और परम्परागत दोनों ही है। अतः यह कहना बहुत ठीक नहीं है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में हिन्दू, बौद्ध और जैनमतों का मात्र धार्मिक शास्त्रीय रूप ही सम्मिलित है। जैन वर्णनात्मक साहित्य, जो कि प्राकृत भाषा में है, रचनात्मक कहानियों और यथार्थवाद से परिपूर्ण है।

भारतीय साहित्य के स्वरूप को समझने के लिए अज्ञेय का यह मत उपयोगी होगा, "हम जब भारतीय लेखकों या भारतीय साहित्य की बात करते हैं तब हमारा ध्यान या तो संस्कृत की ओर होता है जिसकी परम्परा काफी समय पहले रुक गई : बारह सौ वर्ष पहले, छह सौ या तीन सौ या तीस वर्ष पहले, इसका कोई महत्त्व नहीं है – या फिर हम पश्चिम के संघात के बाद के भारतीय लेखन को ध्यान में रखते हैं यानी अंग्रेजी में लिखने वाले भारतीय लेखकों की बात सोचते हैं। यानी दूसरे सब तो हिन्दी या पंजाबी या या बांग्ला या गुजराती लेखक हैं प्रादेशिक भाषा के लेखक हैं। भारतीय लेखक या तो वह है जो किसी जमाने में संस्कृत में लिखता था या फिर आज वह है जो अंग्रेजी में लिखता है। अगर ऐसा सोचना संगत हो तो प्रश्न उठता है कि संस्कृत के ह्रास और भारतीय अंग्रेजी साहित्य के बीच के हजार-बारह सौ वर्षों में देश में क्या होता रहा ? क्या वह भी एक 'अन्धकार युग' है ? क्या उसमें भी न कोई भारतीय परम्परा है, न कोई भारतीय संस्कृति ही है ? बल्कि यों कहें न कोई भारत ही है – क्योंकि भारत तो एकाएक तब प्रकट हुआ जब पश्चिम एक संकट के तौर पर क्षितिज में पर आ गया ! या कि हमारे चिन्तन में कहीं एक बुनियादी भूल है कि हम कोई महत्त्व की बात भुलाए दे रहे हैं या अपनी उपेक्षा के कारण मिट जाने दे रहे हैं। मैं तो मानता हूँ कि एक भारतीय जीवन-दृष्टि थी और है, सदैव रही, कि वह संस्कृत से

भी पहले से चली आई है, संस्कृति में बनी रही। मैं मानता हूँ कि संस्कृत के 'ह्रास' के साथ वह विकसित हुई और फिर पश्चिम से टकराहट होने तक पुनः समपुंजित हो गई – कि वह कभी नष्ट नहीं हुई, बिखरी और संचित हुई लेकिन निरन्तर बनी रही।"

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बांग्ला और असमिया, मध्य पश्चिम में मराठी और गुजरती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है, जैसे कश्मीरी, डोंगरी, सिन्धी, कोंकणी, तुरु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिणाम – सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो वह यूरोप के संकलितवाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। "वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है – ज्ञान का अपार भण्डार, हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा, और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म।" (नगेन्द्र, भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता, (सं.) मूलचन्द गौतम, (2009) भारतीय साहित्य, दिल्ली : राधाकृष्ण, पृष्ठ 71) इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, हिन्दी और उर्दू की प्रदेश सीमाओं के मिले होने पर भी उनके अपने-अपने साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार मराठी और गुजराती का जन-जीवन ओतप्रोत होते भी उनके बीच किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। दक्षिण की भाषाएँ द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं किन्तु कन्नड़ और मलयालम, या तमिल और तेलुगु के स्वरूप में कोई शंका नहीं होती। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बांग्ला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम साहित्य, तेलुगु के द्वि अर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान साहित्य, मलयालम के सन्देश काव्य एवं कीर गीत (कलिप्पाट्टु) तथा मणिप्रवालं शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बांग्ला का मंगल काव्य, असमिया के वडगीत और बरुंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान और वीर गीत, उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी का रीतिकाव्य और छायावाद आदि अपने-अपने भाषा साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं।

1.1.4. आधुनिक भारतीय साहित्य : प्रवृत्त्यात्मक परिचय

लगभग सभी भाषाओं में आधुनिक युग का सूत्रपात सन 1857 के स्वतन्त्रता-संघर्ष के आसपास ही होता है। दक्षिण में अथवा बंगाल में पश्चिमी सभ्यता संस्कृति का प्रभाव मध्यदेश अथवा उत्तरपश्चिम की अपेक्षा कुछ पहले आरम्भ हो गया था, किन्तु वास्तव में आधुनिक युग का उदय पाश्चात्य सम्पर्क से न होकर उसके विरुद्ध संघर्ष के साथ – दूसरे शब्दों में प्रबुद्ध भारतीय चेतना के उदय के साथ होता है, और इस दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में आधुनिकता का समारम्भ लगभग समकालिक ही है। विगत शताब्दी में, स्वतन्त्रता से पूर्व सं 1947 तक

आधुनिक साहित्य के सामान्यतः चार चरण हैं – (i) पुनर्जागरण, (ii) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना का उत्कर्ष (जागरण-सुधार), (iii) रोमानी सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष और (iv) साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय। कुछ समय के अन्तर से भारत की सभी भाषाओं में उपर्युक्त प्रवृत्तियों का अनुसन्धान किया जा सकता है।

1.1.4.01. तमिल

तमिल में पुनर्जागरण के नेता थे रामलिंग स्वामिगल – इन्होंने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का प्रयत्न किया और सभी धर्मों की एकता का प्रतिपादन कर नवीन समन्वय दृष्टि का समावेश किया। उनके अनन्तर कवि सुब्रह्मण्यम् भारती ने भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति को अपने काव्य में वाणी प्रदान की। उनके साहित्य में राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष मिलता है। चिदम्बरम् पिल्लइ और बी.बी.एस. अय्यर ने भी इस राष्ट्रीय यज्ञ में सम्यक् योगदान किया। प्रकृति से तमिल यद्यपि परम्परानिष्ठ और संस्कारशील भाषा है, पर यहाँ भी साम्यवादी भावना का उदय हुआ और भारतीदासन और उनके परवर्ती कवियों ने अत्यन्त तीखे स्वर में जनक्रान्ति की भावना को मुखरित किया है।

1.1.4.02. तेलुगु

तेलुगु के पुनर्जागरण युग का नेतृत्व वीरेशलिंगम ने किया। उनका अनेक-रूप विशाल साहित्य नवीन जागरण की चेतना से अनुप्रेरित है। गुर्जाड अप्पाराव ने इस कार्य को आगे बढ़ाया और उनके पथ प्रदर्शन में अभिनव तेलुगु-आन्दोलन के द्वारा आधुनिक साहित्य का विकास हुआ। बीसवीं सदी के पहले चरण में रायप्रोलु सुब्बाराव आदि की कविता में रोमानी सौन्दर्यबोध की अभिव्यक्ति होने लगी और चौथे-पाँचवें दशक में श्रीरंगम, श्रीनिवासराव, दाशरथि प्रभृति साहित्यिक प्रखर सामाजिक चेतना से अनुप्राणित सम्य भावना का प्रचार करने लगे। का॰ श्रीश्री ने इस प्रवृत्ति को और आगे बढ़ाते हुए दिगम्बर पीढ़ी के तरुण कवियों के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

1.1.4.03. कन्नड़

कन्नड़ में नव-चेतना का उदय 1890 ई. में स्थापित कर्नाटक विद्यावर्धक संघ के आयोजित क्रियाकलाप द्वारा हुआ और इसके संस्थापकों ने, जो प्रायः अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त थे, अंग्रेजी तथा संस्कृत से अनेक महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किए। इस प्रकार प्राचीन को नवीन प्रकाश में देखने और जगाने का अवसर मिला। नवजागरण का प्रकाश गाँधी के असहयोग आन्दोलन से और उजागर होने लगा और श्रीकंठेया, गोविन्द पै, बेंद्रे, शंकर भट्ट आदि ने उत्कट देश भक्ति के वीरगीत लिख कर प्रदेश को नवीन स्फूर्ति से भर दिया। लगभग उसी समय रवि ठाकुर की सौन्दर्य चेतना का प्रभाव आरम्भ हो गया और पुट्टप्पा, गोकाक आदि ने रोमानी कविताएँ लिखीं। लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष तक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और रोमानी काव्यधाराओं का व्यापक प्रभाव रहा – उसके बाद यहाँ भी मार्क्सवादी विचारों का प्रवेश होने लगा और अ.न. कृष्णराव, करंत और निरंजन प्रभृति लेखक शोषित जनता के जीवनगीत गाने लगे। गोपालकृष्ण अडिग ने 'नव्य-काव्य' में और फिर नरसिंह स्वामी ने 'नवीन काव्य' में जीवन

तथा साहित्य के अन्तर्गत आधुनिक अथवा अत्याधुनिक मूल्यों का उद्घोष करते हुए इस परम्परा का और आगे विकास किया।

1.1.4.04. मलयालम

मलयालम के प्रदेश केरल में भी 19वीं शती के मध्य तक नयी प्रकार की शिक्षा का प्रभाव स्पष्ट होने लगा था। पाठ्यक्रम की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संस्कृत तथा अंग्रजी के गौरव ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। केरल वर्मा, वेनमणि, राजराज वर्मा आदि मलयालम साहित्य के पुनर्जागरण काल के नेता थे। राष्ट्रीय भावना का उत्कर्ष वल्लतोल की परवर्ती रचनाओं में हुआ। उन्होंने राष्ट्रीय गौरव के प्रत्येक चिह्न को काव्य का विषय बनाया और सामाजिक तथा आर्थिक वैषम्य के प्रति उग्र क्षोभ व्यक्त किया। रूमानी काव्य के अग्रदूत हैं शंकर कुरुप्प – उनके बाद च. कृष्णपिल्लै ने 'रमणन्' नामक एक करुण गोपगीत लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया। 1936 के आसपास मलयालम कविता का एक नया मोड़ आया। इसकी प्रमुख प्रेरणा वामपक्षी राजनीति रही है। 1927 त्रिचूर में एक सम्मेलन हुआ और उसी के परिणामस्वरूप 'जीवित साहित्यम्' नाम से एक साहित्यिक संस्था की स्थापना हुई। बाद में इस संस्था का नाम बदलकर 'पुरोगमन साहित्य' हो गया। इसको ए. बालकृष्ण पिल्ले, एम.पी. पाल, और जोसेफ मुंडाशेरि जैसे आलोचकों ने प्रेरणा दी। प्रगतिशील कवियों में एन. वी. कृष्णवारियर, अक्कितम्, वयलार, राम वर्मा, ओलप्पमन्, ओ.एन.वी. कुरुप्प, पी. भास्करन्, अनुजन् आदि उल्लेखनीय हैं। कला और साहित्य के विषय में इस प्रतिबद्ध दृष्टिकोण का नयी कविता के प्रवक्ताओं – माधवन्, के. चेरियन् तथा उनके अन्य सहयोगियों ने विरोध करते हुए कला की स्वायत्त सत्ता का प्रतिपादन किया।

1.1.4.05. मराठी

मराठी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में हो चूका था – बंबई प्रेसीडेंसी कॉलेज के अधिकारी एलफिन्सटन और मालकम की उदार शिक्षा नीति, बंबई एजुकेशन सोसाइटी और दक्षिण प्राइज कमेटी के कार्य, ईसाई धर्म प्रचार, बालशास्त्री जमेकर, तथा कृष्ण शास्त्री चिपलूणकर द्वारा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन, बाद में केशरी के प्रकाशन और अन्त में लोकमान्य तिलक, न्यायपति रानाडे तथा गोपालकृष्ण गोखले जैसे प्रबुद्ध विचारकों के योगदान के फलस्वरूप आधुनिक मराठी साहित्य का सूत्रपात हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अनेक प्रतिभावान् मराठी कवियों ने एक ओर कालिदास, भवभूति, शूद्रक आदि की रचनाओं का अनुवाद किया और दूसरी ओर मिल्टन, ड्राईडन, स्कॉट, पॉप, ग्रे, गोल्डस्मिथ, वर्ड्सवर्थ आदि से प्रेरणा ग्रहण कर मराठी काव्य में नयी भंगिमाओं का समावेश किया। इस वर्ग के कवियों में महाजनि, कीर्तिकर, कुंते आदि का विशिष्ट स्थान है। इन कवियों ने मराठी काव्य को नयी दिशा प्रदान की। राष्ट्रवादी चेतना का विकास हुआ – विचार-गाम्भीर्य, वैयक्तिक तत्त्व, सीधी अभिव्यंजना शैली आदि का प्रादुर्भाव हुआ। केशवसुत का काव्य 'तुतारी' (तुरही), कुन्ते का अपूर्ण महाकाव्य 'राजा शिवाजी', गोविन्दाग्रज तथा क्रान्तिकारी नेता सावरकर के पवाड़े राष्ट्रीय एकता के अम्रर प्रतीक हैं। रोमानी प्रवृत्ति का सूत्रपात यों तो केशवसुत की कृतियों से ही हो जाता है, परन्तु बी. बालकवि आदि की रचनाओं में उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हुआ। शरत, मुक्तिबोध, तथा करंदीकर आदि

कवि लेखक साम्यवादी भावना को पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त कर रहे हैं। इसी के साथ-साथ अतिबुद्धिवादी वैयक्तिक कविता, जिसे हिन्दी में प्रयोगवाद अभिदान प्राप्त है, उभर कर सामने आयी, मर्ढेकर जैसे कवियों ने इस वर्ग का नेतृत्व किया था। उनके परवर्ती पेंडसे, पाधे, रेगे आदि कवि कलाकारों ने नव्य काव्य की इसी बौद्धिक चेतना की अनेक रूपों में सूक्ष्म तरल अभिव्यक्ति मिलती है।

1.1.4.06. गुजराती

गुजराती इतिहासकार अपने आधुनिक साहित्य का तीन चरणों में विभाजन करते हैं – (i) 1825 से 1885, (ii) 1885 से 1920, (iii) 1920 से अद्यतन। गुजराती का यह चरण-निक्षेप अन्य भाषाओं के प्रायः समानान्तर ही है। प्रथम चरण अर्थात् नवजागरण काल के नेता थे नर्मद जो भारतेन्दु के समकालीन और एक प्रकार से सहकर्मी भी थे। दूसरे चरण में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ जिसका तृतीय चरण में और भी उत्कर्ष हुआ। इस प्रवृत्ति के प्रेरणास्रोत थे गाँधीजी, जिनसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्फूर्ति प्राप्त कर अनेक समर्थ कलाकार सामने आए। गाँधीजी के अतिरिक्त नान्हालाल, प्रो॰ ठाकोर, काका कालेलकर, आनन्दशंकर ध्रुव, उमाशंकर, सुन्दरम् और कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी जो वास्तव में इस धारा के उन्नायक हैं। रोमानी सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष हमे पूजालाल आदि की प्रगीत रचनाओं में मिलता है। उनकी रस चेतना में सूक्ष्म परिष्कार और अभिव्यक्ति में नवीन कल्पना-चित्र तथा भंगिमाएँ मिलती हैं। यहाँ भी सन् 1940 के आस-पास प्रगतिशील आन्दोलन की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगी और मणिकर आदि कवि सामने आए। इसी प्रकार नई बौद्धिक कविता के क्षेत्र में भी प्रयोग आरम्भ हो गए हैं और राजेंद्र शाह, उनके परवर्ती सुरेश जोशी तथा सुरेश दलाल आदि कवि इस नवीन चेतना को वाणी देने का प्रयास कर रहे हैं।

1.1.4.07. बांग्ला

भारतीय भाषाओं में कदाचित् सबसे समृद्ध आधुनिक साहित्य है बांग्ला का। उन्नीसवीं शती में राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि नेताओं और ईश्वरगुप्त, मधुसूदनदत्त तथा बंकिमचन्द्र प्रभृति साहित्य-महारथियों ने बंगाल के समाज और साहित्य में नवीन युग का प्रवर्तन किया। यहाँ भी नवीन युग की भूमिका पाश्चात्य शिक्षा-सभ्यता के सम्पर्क और संघर्ष से तैयार हुई थी – वस्तुतः पश्चिमी देशों की अपेक्षा बंगाल का पश्चिम के साथ सम्पर्क अधिक सीधा और घनिष्ठ था, इसलिए बांग्ला साहित्य का प्रथम उत्थान बड़े वेग से हुआ। फोर्ट विलियम कॉलेज, ईसाईयों का धर्म प्रचार और उसके उत्तर में भारतीय मनीषियों द्वारा स्वधर्म का आख्यान, स्कूल टेक्स्ट बुक सोसाइटी के प्रयत्न और अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद आदि द्वारा साहित्यिक नव-जागरण की प्रक्रिया यहाँ भी वैसी ही रही। दूसरे चरण में रवीन्द्रनाथ का उदय हुआ और बांग्ला साहित्य में एक नवीन रहस्य चेतना, एक सौन्दर्य भावना का विकास हुआ। रवीन्द्रनाथ की कवि दृष्टि व्यापक थी। उनकी रागात्मक चेतना राष्ट्र की परिधि को पार कर अखिल मानवता तक व्याप्त थी अतः उनकी राष्ट्र भावना का आधार मूलतः मानवीय और सांस्कृतिक ही रहा। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के कवि मानस से आधुनिक भारतीय काव्य की दो वेगवती धाराएँ प्रवाहित हुईं – (i) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और (ii) रोमानी (रहस्यवादी-छायावादी)। इनमें से यद्यपि

पहली का गौरव भी कम नहीं है, किन्तु दूसरी का प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। भारतीय कविता में जो नई रोमानी प्रवृत्तियाँ उद्‌बुद्ध हुईं, उन पर रवि ठाकुर का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य रहा है। चौथे दशक में आकर बांग्ला में भी प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और वामपक्ष की विचारधारा से प्रभावित कवि और कथाकार रवीन्द्र और शरत की बुर्जुआ मनोवृत्ति का प्रच्छन्न या अप्रकट रूप से विरोध करने लगे। कविता के क्षेत्र में सुभाष मुखोपाध्याय आदि में और कथा साहित्य में माणिक वंद्योपाध्याय आदि में साम्यवादी स्वर स्पष्ट सुनाई देने लगा। अन्त में बांग्ला में भी नयी बौद्धिक कविता का जन्म हुआ – भावतत्त्व, बिम्ब-विधान और अभिव्यक्ति के अन्य उपकरणों के साथ बांग्ला कवि विष्णु दे आदि अनेक प्रकार के प्रयोग कर रहे हैं। इसी प्रकार असमिया और उड़िया में भी आधुनिक साहित्य की गतिविधि प्रायः समान ही रही है।

1.1.4.08. असमिया

असमिया में आनन्दराम फुकन राष्ट्रीय जागृति के अग्रदूत थे – उनके सहयोगी थे कमलाकान्त भट्टाचार्य, हेमचन्द्र बरुआ आदि जिन्होंने वीरगीतों के द्वारा देशभक्ति का प्रचार किया और व्यंग्य कथाओं और लेखों द्वारा सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। दूसरे चरण का नेतृत्व तीन लेखकों ने किया – चन्द्रकुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ और हेमचन्द्र गोस्वामी। वास्तव में इन्हें वर्तमान असमिया साहित्य का निर्माता कहा जा सकता है। देशप्रेम की जिस लहर ने आधुनिक असमिया साहित्य में नव-जीवन का संचार किया था, वह इन तीनों लेखकों और इनसे प्रभावित अन्य लेखकों की रचनाओं में विविध दिशाओं में फूट पड़ी। राष्ट्रीय भावना के उत्कर्ष के साथ नवीन रोमानी काव्य-चेतना का प्रथम स्फुरण भी इनकी रचनाओं में मिलता है। इस रोमानी प्रवृत्ति का विकास आगे चलकर हितेश्वर बरबरुआ, यतींद्रनाथ दुवरा और देवकान्त बरुआ जैसे कवि कलाकारों ने किया। इन कवियों की कृतियाँ प्रायः व्यक्तित्व-प्रधान हैं – इन पर अंग्रेजी रोमानी कवि और रवि बाबू का गहरा प्रभाव है। 1942 के आन्दोलन के बाद असमिया के युवक-साहित्यकार समाजवाद की ओर झुकने लगे और 1946 में प्रकाशित 'आधुनिक असमिया कविता' में पूँजीवादी शोषण तथा वर्गवाद के विरुद्ध हुँकार साफ सुनाई देती है। इधर वर्तमान दशक में असमिया के नए कवि भी इलियट आदि से प्रेरणा ग्रहण कर नवीन बौद्धिक धारणाओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। महेन्द्र बोरा द्वारा प्रकाशित 'नूतन कविता' नामक संकलन में इस प्रवृत्ति के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

1.1.4.09. उड़िया

उड़िया का विकासक्रम भी प्रायः असमिया के समान ही है। वहाँ नवप्रभात के सन्देशवाहक हैं – फकीरमोहन सेनापति, राधानाथ और मधुसूदन। इन लेखकों ने जिस राष्ट्रीय भावना को उद्‌बुद्ध किया उसका उत्कर्ष आगे चलकर गोपबंधुदास और उनके सहयोगी कवि लेखकों में मिलता है। गोपबंधु का सत्यवादी दल उड़ीसा की राष्ट्रीय-सामाजिक जागृति का केन्द्र था और अनेक साहित्यकार प्रत्यक्ष या अपरोक्ष रूप में इसके साथ सम्बद्ध थे। इस वर्ग के लेखकों का दृष्टिकोण आरम्भ से ही इतना नीति-कठोर था कि कुछ समय उपरान्त काव्य-चेतना रस के लिए जैसे छटपटाने लगी। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप 'सबुजा वर्ग' का जन्म हुआ जो रवि

बाबू से प्रेरणा ग्रहण कर स्वछन्दतावादी काव्य-रचना में प्रवृत हुआ। बैकुंठ पट्टनायक की अधिकांश काव्यकृतियों में और कालिंदीचरण पाणिग्रही के कथा-साहित्य में इस प्रवृत्ति का परिपाक मिलता है। इस शताब्दी के तीसरे दशक में रवि ठाकुर का प्रभाव समाजवादी और साम्यवादी विचारों की आभा के प्रसार से कुछ कम पड़ने लगा। और चौथे दशक के अन्त तक शची राउतराय तथा अन्य कवियों के स्वरों पर आरूढ़ होकर वह उड़िया साहित्य में तेज़ी से फ़ैल गया। इसके बाद अब टी.एस. इलियट की गूढ़-रूपात्मक संकल्पना की ओर विनोद राउतराय तथा विनोदनायक प्रभृति तरुण कवियों का आकर्षण बढ़ता जा रहा है।

अब रह जाती हैं उत्तर-पश्चिम की तीन भाषाएँ – पंजाबी, उर्दू और हिन्दी। इन भाषाओं में उन्नीसवीं सदी के मध्य में नव-जागरण का आरम्भ होने लगा था।

1.1.4.10. पंजाबी

पंजाबी के सर अतर सिंह, उर्दू के सर सैयद अहमद खां और हिन्दी के अशासकीय क्षेत्र के भारतेन्दु तथा शासकीय क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने शिक्षा-क्रम की व्यवस्था कर, अंग्रेजी तथा संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद प्रस्तुत कर अथवा करा के तथा समाचार पत्रों के प्रकाशन द्वारा नए ज्ञान के लिए द्वार खोला। उधर ईसाई प्रचार ने भी अपना कार्य किया। 1852 ई. में लुधियाना में क्रिस्चन मिशन ने बाइबिल का पंजाबी अनुवाद और 1854 में पंजाबी भाषा का शब्दकोश प्रकाशित किया।

1.1.4.11. उर्दू

उर्दू में आधुनिक काव्य के अग्रदूत थे हाली, जिन्होंने कविता को प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त कर नवीन जीवन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं को वाणी प्रदान की। उधर गद्य के क्षेत्र में सर सैयद ने आधुनिक गद्य को जन्म दिया। सं. 1862 में सर सैयद ने अंग्रेजी के अमर ग्रन्थों का अनुवाद करने के लिए एक साहित्यिक वैज्ञानिक संस्था की स्थापना की और सं. 1870 में 'तहजीबुल अख़लाक़' नामक एक पत्रिका निकाली जिसने उर्दू के विख्यात गद्य लेखकों का निर्माण किया और भाषा शैली में क्रान्तिकारक परिवर्तन किए।

1.1.4.12. हिन्दी

हिन्दी में यह कालखण्ड भारतेन्दु युग के नाम से प्रसिद्ध है। भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवियों ने साहित्य के प्राचीन रूपों का नवीनीकरण और अनेक नवीन रूपों का सृजन कर नव-जीवन की चेतना को अभिव्यक्त किया। यह युग सृजन के उत्साह और स्फूर्ति का युग था। इस युग में हिन्दी के गद्य तथा पद्य साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हो गया। ईसाई धर्म-प्रचारक और अंग्रेज़ प्रशासक भी अपने-अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस दिशा में प्रयत्नशील थे। हिन्दी और उर्दू दोनों में मसीही धर्म ग्रन्थों के अनुवाद और भाष्य प्रकाशित किए गए – फोर्ट विलियम कॉलेज और उसके बाहर भी अंग्रेजी शासन की ओर से पाठ्य-ग्रन्थों के निर्माण और

उनके प्रकाशन के सद्प्रयत्न हुए। नव जागृति की ये उमंगें आगे चलकर प्रतिफलित हुईं जबकि पंजाबी, हिन्दी और उर्दू के साहित्यकारों में राष्ट्रीय-चेतना का स्वर ऊँचा और स्पष्ट होने लगा। पंजाबी में गुरुमुख सिंह 'मुसाफिर', हीरा सिंह दर्द आदि कवियों में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य का उत्कर्ष मिलता है, उर्दू में इक़बाल सूर्य के समान जाज्वल्यमान हैं। उदार भावना की दृष्टि से चकबस्त और अकबर की कविता अधिक लोकप्रिय हुई। हिन्दी में यह राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के उत्कर्ष और विकास का युग है। माखनलाल चतुर्वेदी, 'नवीन' आदि उनके सहयोगी थे। बाद में चल कर सियारामशरण गुप्त और दिनकर के काव्य में इस कविता में नए स्वर गूँज उठे। आधुनिक साहित्य की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति स्वछन्दतावाद का पूर्ण उत्कर्ष हमें हिन्दी में मिलता है। प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी जैसे विभूतिमान कलाकारों द्वारा संवर्धित हिन्दी का छायावादी काव्य भारतीय वाङ्मय की अमर उपलब्धि है। पंजाबी में भाई वीर सिंह और पूरन सिंह इस प्रवृत्ति के अग्रणी कवि हैं और उर्दू में अख्तर शीरानी तथा मजाज़ आदि की रचनाएँ रूमानी रंग से सराबोर हैं। इसके बाद समाजवादी प्रभाव का आरम्भ हो जाता है और वामपक्षीय चिन्तनधारा से प्रेरित साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उभर कर सामने आने लगती हैं। पंजाबी और उर्दू में जनक्रान्ति का स्वर और भी बुलंद है – उर्दू में जोश मलीहाबादी, फ़िराक गोरखपुरी, अली सरदार जाफ़री आदि की और पंजाबी में अमृता प्रीतम और करतार सिंह दुग्गल जैसे लेखकों की कृतियों में जन क्रान्ति की उग्र भावनाएँ मुखरित हैं। हिन्दी में पंत की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में, नरेन्द्र अंचल, सुमन, नागार्जुन आदि की स्फुट रचनाओं में और यशपाल आदि के कथासाहित्य में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रेरणा सर्वदा स्फुट है। वर्तमान साहित्य की अत्याधुनिक प्रवृत्ति थी प्रयोगवाद जिसका कुछ समय बाद नई कविता में रूपान्तरण हो गया। इसका नामकरण चाहे हुआ हो या न हुआ हो, हिन्दी की भाँति पंजाबी और उर्दू में भी पिछले 15-20 वर्षों से नवीन बुद्धिवादी साहित्यकारों में इसके प्रति आकर्षण बढ़ता रहा है। हिन्दी अज्ञेय आदि, पंजाबी में प्रीतम सिंह सफ़ीर और उर्दू में फैज़, नून, मीम, राशिद की रचनाएँ प्रमाण हैं।

आधुनिक भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी स्वतन्त्रता की प्राप्ति जिसने सभी भाषाओं के साहित्य को प्रभावित किया है। भारत ने सत्य और अहिंसा के द्वारा प्राप्त अपनी स्वतन्त्रता को विश्व-मुक्ति के रूप में ग्रहण किया है। हमारे लिए यह भौतिक मुक्ति का प्रतीक न होकर आध्यात्मिक मुक्ति का पर्याय है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में इस अवसर पर मंगलगान लिखे गए जो सात्त्विक उल्लास और लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात हमारी विश्वमैत्री की सफल विदेश नीति की प्रेरणा से प्रायः सभी भाषाओं में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति को संवर्धना मिली है और आज भारतीय साहित्य का प्रधान स्वर यही है जो कश्मीर से लेकर केरल तक और आसाम से लेकर सौराष्ट्र तक गूँज रहा है। स्वाधीन भारत में भारतीय भाषाओं का महत्त्व बढ़ा है और देश की बढ़ती हुई शैक्षिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इन सभी के विकास के संगठित प्रयत्न हो रहे हैं। किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात युवा समाज में जिन नई आकांक्षाओं का उदय हुआ था, अनेक कारणों से उनकी पूर्ति नहीं हो सकी। इसका परिणाम हुआ अवसाद और मोहभंग जो तरुण लेखकों की रचनाओं में अनेक रूपों में व्यक्त हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के आधुनिक साहित्य का विकासक्रम कितना समान है।

1.1.5. भारतीय वाङ्मय की रागात्मक एकता

विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद और सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नयी रोमानी सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नये जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्दरूप देने के नए प्रयोग, स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार और अन्त में युवा समाज की नवीनीभूत समाज की आशा-आकांक्षाओं की विफलताजन्य अवसाद और मोहभंग की भावना– यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

भारतीय वाङ्मय में, इन चिर-प्रवाहित धाराओं के अतिरिक्त कुछ स्फुट प्रवृत्तियाँ भी ऐसी हैं जिनमें एक प्रकार का सुखद साम्य मिलता है। उदाहरण के लिए महाभारत और रामायण पर आश्रित काव्यों की अजस्र परम्पराएँ प्रायः सम्पूर्ण देश में मिलती हैं। तमिल में कम्ब रामायण, तेलुगु में रंगनाथ-रामायण तथा भास्कर रामायण आदि, कन्नड़ में पम्प रामायण, मलयालम में एजुत्तच्चन् की अध्यात्म रामायण, मराठी में मोरोपंत की रामकथा, बांग्ला में कृत्तिवास रामायण, असमिया में माधव कंदलि की रामायण, उड़िया में सारलादास की विलंका-रामायण, तथा बलरामदास की रामायण और हिन्दी में तुलसी रामायण (रामचरितमानस) एक व्यापक परम्परा के ही अंग हैं। इसी प्रकार महाभारत-काव्य की शृंखला भी समस्त भारत में फैली हुई है : तेलुगु में तीन प्राचीन महाकवियों – नन्नय, तिक्कन् और एर्रन् ने क्रमशः महाभारत की रचना की, कन्नड़ में पम्प और कुमार व्यास के महाभारत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मलयालम में एजुत्तच्चन् का महाभारत उनकी रामायण से भी अधिक मौलिक और पूर्ण है। मराठी में श्रीधर ने 'पाण्डव-प्रताप' लिखा है किन्तु उसका महत्त्व अधिक नहीं है; सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में बांग्ला में महाभारत के तीस से अधिक रूपान्तर हुए जिनमें काशीरामदास-कृत महाभारत सर्वश्रेष्ठ है। असमिया में रामसरस्वती ने महाभारत के आधार पर अनेक वध काव्यों की रचना की, उड़िया में महाभारत के रचयिता हैं – सारलादास जो उत्कल व्यास के नाम से प्रसिद्ध हैं। पंजाबी ने कृष्णलाल ने महाभारत का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया और हिन्दी में मध्ययुग में अनेक महाभारत लिखे गए जिनमें गोकुलनाथ आदि और सबलसिंह चौहान के महाभारत और आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त का 'जय-भारत' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसी प्रकार भागवत के रूपान्तर भी प्रायः सभी भाषाओं में होते रहे हैं। ये रूपान्तर भारतीय भाषाकाव्यों के लिए दृढ़ सम्बन्ध सूत्र रहे हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र का सार्वभौम प्रभाव भी भारतीय वाङ्मय की एकता का स्थायी आधार है। भरत का 'नाट्यशास्त्र', आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक', दण्डी का 'काव्यादर्श', मम्मट का 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' और पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' आदि भारत की सभी भाषाओं के काव्य पण्डितों में लोकप्रिय रहे हैं और इनके समय-समय पर अनुवाद या आख्यान होते रहे हैं। इसी कारण से भारतीय भाषाओं के काव्यशास्त्रों में एक ही स्रोत से उद्भूत होने के कारण एक तरह की मौलिक समानता विद्यमान है।

1.1.6. भारतीय वाङ्मय की काव्य शैली और स्वरूपगत समानता

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है; किन्तु उसकी काव्य शैलियों और काव्य रूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सम्पूर्ण साहित्य में संस्कृत से प्राप्त काव्य शैलियाँ – महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा की भी अनेक शैलियाँ, जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा शैली, रास, पद-शैली आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द – दोहा, चौपाई आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्यरूपों और छन्दों का – जैसे प्रगीत काव्य और उसके अनेक भेदों, जैसे सम्बोधन-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का और मुक्तछन्द, गद्यगीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएँ दो विभिन्न परिवारों – आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएँ हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंश के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएँ सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएँ अपनी व्यंजनात्मक और लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द निर्माण के लिए निरन्तर संस्कृत के भण्डार का उपयोग करती रही हैं और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेजी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है। पिछले पचास वर्ष से भारत की सभी भाषाएँ उसकी नवीन प्रयोग भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं को सचेष्ट रूप से ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी अधिक है; हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंग्रेजी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आन्तरिक समानता मिलती है जो समान विषयवस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

1.1.7. पाठ-सार

समग्रतः यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है।' देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्य शोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्त्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसन्धान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा रखता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा-भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बांग्ला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य के शोध में असफल रहेगा। उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धाराओं में भी अवगाहन करना होगा। गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में अनेक छिद्र रह जाएँगे। हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएँ सांयोगिक-सी

प्रतीत होती हैं, वे वास्तव में वैसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बांग्ला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य वर्णन हिन्दी-काव्य में घटने वाली आकस्मिक या एकान्तिक घटना नहीं थी। गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में, पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्णगाथा में, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बड़गीतों में अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझाकर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक रूढ़ियाँ विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्यों का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर पश्चिम की भाषाओं – कश्मीरी, सिन्धी, पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के 'रामचरितमानस' में राम के स्वरूप की कल्पना को हृदयगत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था। वहाँ के कृष्ण काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अन्तःसाहित्यिक शोध प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियाँ अनायास ही मिल जाएँगी, अगणित जिज्ञासाओं का सहज ही समाधान हो जाएगा और उधर भारतीय चिन्तन की धारा और रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

बीसवीं सदी के आठवें दशक से लेकर इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक के अन्त तक आधुनिक भारतीय साहित्य में नई प्रवृत्तियाँ हावी हो गई हैं। जहाँ बीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में भारतीय साहित्य में भू-मण्डलीकरण की छाप दिखाई देती है वहीं उत्तर-आधुनिकता, नारी विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श और थर्ड जेंडर को लेकर भी नई प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। पर्यावरण को लेकर भी भारतीय साहित्य में नवीन चेतना दिखाई पड़ती है।

1.1.8. बोध प्रश्न

1. भारतीय साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय साहित्य के विकासक्रम को स्पष्ट कीजिए।
3. आधुनिक भारतीय साहित्य की मूलप्रवृत्तियाँ स्पष्ट कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : भारतीय साहित्य की अवधारणा

इकाई – 2 : भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ
1.2.2.1. भारतीय साहित्य के स्वरूप के निर्धारण की समस्या
1.2.2.2. भारतीय भाषाओं के ज्ञान अर्थात् समझ की समस्या
1.2.2.3. भारतीय साहित्य का अध्ययन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में करने की समस्या
1.2.2.4. भारतीय साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों के अध्ययन की समस्या
1.2.2.5. भारतीय साहित्य में साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा की समस्या
1.2.2.6. संस्कृत, प्राकृत भाषा-तन्त्र तथा देशी भाषाएँ
1.2.2.7. भारतीय-देशी भाषाओं के अन्तर्विरोध की समस्या
1.2.3. पाठ-सार
1.2.4. बोध प्रश्न

1.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भारतीय साहित्य के स्वरूप-निर्धारण की समस्या को समझ सकेंगे।
ii. विभिन्न भारतीय भाषाओं के ज्ञान की समस्या को समझ सकेंगे।
iii. भारतीय साहित्य को अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता की जानकारी लेंगे।
iv. भारतीय साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों के अध्ययन की समस्या को समझेंगे।
v. भारतीय साहित्य में देशी भाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा की जानकारी लेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि भारतीय साहित्य का स्वरूप विविधमुखी और सागर की तरह विशाल है। भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बांग्ला और असमिया, मध्य पश्चिम में मराठी और गुजरती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है, जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिन्धी, कोंकणी, तुरु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिणाम – सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि

आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो वह यूरोप के संकलितवाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। 'वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है – ज्ञान का अपार भण्डार, हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा, और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, हिन्दी और उर्दू की प्रदेश सीमाओं के मिले होने पर भी उनके अपने-अपने साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार मराठी और गुजराती का जन-जीवन ओतप्रोत होते भी उनके बीच किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। दक्षिण की भाषाएँ द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं किन्तु कन्नड़ और मलयालम, या तमिल और तेलुगु के स्वरूप में कोई शंका नहीं होती। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बांग्ला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं। यहीं से भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ सामने उपस्थित होती हैं। जिनका विवेचन प्रस्तुत पाठ में किया जाएगा।

1.2.2. भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ

भारतीय साहित्य के अध्ययन की मुख्य समस्याएँ निम्नलिखित हैं–

1.2.2.1. भारतीय साहित्य के स्वरूप के निर्धारण की समस्या

सबसे पहले यह समझना आवश्यक है कि भारतीय साहित्य का स्वरूप और उसका इतिहास कैसा है ? 'भारतीय साहित्य का इतिहास', इतना कहते ही अनेक समस्याएँ सामने प्रस्तुत हो जाती हैं।

क्यों न ऐसा माना जाए कि भारतीय साहित्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। किसी समय भारत का बहुत-सा साहित्य संस्कृत में रचा गया था। चाहें तो उसे भारतीय साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। उसके रचने वाले अनेक प्रदेशों के लोग थे। और ये सब प्रदेश अधिकांशतः उत्तर भारत में हैं। यह संस्कृत साहित्य थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में रचा गया था। सामान्य जनता न संस्कृत बोलती थी, न संस्कृत पढ़ती थी। ऐसे संकुचित आधार वाले साहित्य को भारतीय साहित्य अर्थात् राष्ट्रीय साहित्य की संज्ञा कैसे दी जा सकती है!

कहा जा सकता है कि संस्कृत के विपरीत पालि लोकभाषा थी। उसमें लिखा हुआ साहित्य राष्ट्रीय साहित्य कहलाएगा। किन्तु इस भाषा में जो कुछ लिखा गया है, वह अधिकतर बौद्ध धर्म से सम्बद्ध है, यह एक अलग समस्या है। प्रश्न उठता है कि एक धर्म विशेष से सम्बद्ध साहित्य को राष्ट्रीय साहित्य कैसे कह सकते हैं! प्राकृतों में बहुत-सा साहित्य रचा गया है पर इसके रचने वाले भी अधिकतर जैन विद्वान् हैं। इसके सिवा प्राकृतें वास्तव में लोक-भाषाएँ थीं, यह धारणा संदिग्ध है। इन प्राकृतों में सैकड़ों शब्द णकार से आरम्भ होते हैं जबकि भारत की नदियों, पर्वतों, नगरों, ग्रामों, जनपदों, देवियों, देवताओं, मुनियों, मनुष्यों में किसी का नाम भी णकार से आरम्भ नहीं होता। अतः इस मान्यता पर भी प्रश्न-चिह्न लगता है।

इस तरह क्या यह समझा जाए कि भारत का प्राचीन साहित्य भारतीय कहलाने का अधिकारी नहीं ठहरता। ऐसा समझना भूल होगी। अपभ्रंशों की बात ही करना बेकार है क्योंकि उनका क्षेत्र बहुत ही सीमित है। ये लोकभाषाएँ थीं, यह धारणा भी प्रमाण-सिद्ध नहीं है। विद्यापति लोकभाषा मैथिल में लिख रहे थे, इसके साथ उनकी कीर्तिलता अपभ्रंश में है। इनमें कौन सी लोकभाषा है, कौन सी कृत्रिम साहित्यिक भाषा है, यह निर्णय करना कठिन नहीं है।

जो साहित्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखा गया है, उसे भारतीय कहना और भी कठिन है। जिस युग में इस देश के विभिन्न भागों के पण्डितजन संस्कृत का व्यवहार करते थे, उस युग में भारत राष्ट्र की कल्पना की भी जा सकती है किन्तु जब आधुनिक भाषाओं का उदय हुआ और वे साहित्य का माध्यम बनीं तब जो राष्ट्रीय एकता भी थी, वह छिन्न-भिन्न हो गई। अनेक इतिहासकार मानते हैं कि अंग्रेजों के आने से पहले यहाँ राष्ट्रीय एकता की भावना का अभाव था। अंग्रेजी राज्य कायम होने के बाद ही यहाँ राष्ट्रीय एकता का जन्म हुआ और स्वाधीनता प्राप्ति के लिए वह एकता किसी सीमा तक दृढ़ की गई। इस एकता की वाहक अंग्रेजी भाषा थी। भारतीय भाषाओं में राष्ट्रवादी भावनाएँ भले ही व्यक्त हुई हों, वे राष्ट्रभाषा नहीं थीं, प्रादेशिक भाषाएँ थीं। इनमें हिन्दी को कुछ लोग राष्ट्रभाषा कहते है पर वह किसी प्रदेश की भाषा है, इसमें भी सन्देह है। फिर स्वाधीनता प्राप्ति से पहले और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से अब तक हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रयत्न ही किया जाता रहा है, अभी तक वह राष्ट्रभाषा बनी तो नहीं है। बहुत से दूरंदेश लोग अंग्रेजी को बनाए रखने के पक्ष में इसलिए हैं कि इस भाषा के माध्यम से राष्ट्रीय एकता का जन्म हुआ और वह एक सीमा तक संवर्धित हुई। उसके न रहने से राष्ट्रीय एकता खण्डित हो जाएगी और भारतीय साहित्य क्या, भारत देश की बात करना भी कठिन हो जाएगा।

इस स्थिति का एक पक्ष यह भी है कि अंग्रेजी राज से मुक्ति पाने के लिए जो एकता कायम की गई, वह नकारात्मक थी। अंग्रेजों का विरोध करना था, इसलिए विभिन्न प्रदेशों के लोग एकता की बातें करने लगे। जब वह विरोध समाप्त हो गया, तब एकता की बातें भी समाप्त हो गईं। राष्ट्रीय एकता को प्रेरित करने वाली कोई ऐसी सकारात्मक भावना यहाँ नहीं थी जिसका अंग्रेजों के आने-जाने से कोई सम्बन्ध न होता।

निष्कर्ष यह निकला कि भारतीय साहित्य का इतिहास लिखना ही हो तो अंग्रेजी में भारतवासियों ने जो कुछ लिखा है, उसका इतिहास लिखा जा सकता है। इससे पहले का और भी साहित्य जोड़ना हो तो अधिक से अधिक संस्कृत साहित्य उसमें जोड़ा जा सकता है। इस तरह भारतीय साहित्य के इतिहास का अर्थ होगा अंग्रेजी और संस्कृत में भारतवासियों द्वारा लिखे गए साहित्य का इतिहास। इसमें वह संस्कृत साहित्य भी सम्मिलित किया जा सकता है जो 20वीं सदी में, विशेषतः उसके उत्तरार्द्ध में रचा जाता रहा है। इसके अतिरिक्त और किसी साहित्य को भारतीय साहित्य नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्र की पहचान क्या है ? शायद यह अंग्रेजी के नेशन शब्द का हिन्दी पर्याय है। ब्रिटेन एक राष्ट्र है। वहाँ के रहने वाले एक नेशन हैं, उनकी नैशनल लैंग्वेज या राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। भारत में बहुत-सी भाषाएँ बोली जाती हैं। यही नहीं, इतिहासकार चाहे मार्क्सवादी हो, चाहे गैर-मार्क्सवादी, भारतीय साहित्य का इतिहास लिखेगा तो

उसे विभिन्न भाषाओं के साहित्य में आपसी सम्बन्धों पर ध्यान देना होगा। यदि उसे किसी एक भाषा का साहित्य लिखना हो तो भी अन्य भाषाओं के साहित्य से उसके सम्बन्धों पर ध्यान देना होगा। वास्तविकता यह है कि भारत की किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास सही ढंग से अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही लिखा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में रामविलास शर्मा के इस मत को निर्णायक माना जा सकता है कि "इस भारत में किसी भी काल, किसी भी भाषा में जो भी साहित्य रचा गया है, उसका विवेचन भारतीय साहित्य के अन्तर्गत होना चाहिए। किसी भी भाषा के साहित्य का विवेचन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही करना उचित है। यह इसलिए नहीं कि हमें भारतीयता पर कोई एहसान करना है वरन् इसलिए कि इस परिप्रेक्ष्य के बिना हम किसी एक भाषा के साहित्य का विवेचन कर ही नहीं सकते। जैसे आर्य या द्रविड़ भाषाओं का विकास दोनों परिवारों को अलग रखने से समझ में नहीं आ सकता अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टि से उसका इतिहास नहीं लिखा जा सकता। जो आर्य परिवार की भाषाएँ हैं, उनमें रचा हुआ साहित्य तो सम्बद्ध इकाई है ही, जो द्रविड़ भाषाएँ हैं उनमें रचा हुआ साहित्य भी आर्यभाषाओं में निर्मित साहित्य से सुदृढ़ रूप से सम्बद्ध है।"

1.2.2.2. भारतीय भाषाओं के ज्ञान अर्थात् समझ की समस्या

भारतीय भाषाओं के विकास के बारे में अज्ञान क्षम्य है किन्तु इन भाषाओं में रचे हुए साहित्य की अखिल भारतीयता के बारे में अज्ञान अक्षम्य है। यह कौन नहीं जनता कि भक्ति आन्दोलन के स्रोत दक्षिण भारत में थे, यह आन्दोलन दक्षिण भारत से फैलता हुआ उत्तर भारत में आया और इसके उद्भव और प्रसार में द्विज और शूद्र दोनों वर्णों के लोगों का हाथ था। यह सारा इतिहास भुलाकर यदि कोई तमिलभाषी अपने ही साहित्य को आर्य और द्रविड़, ब्राह्मण और शूद्र में विभाजित कर दे, तो इससे औरों की हानि बाद में होगी, सबसे पहले वह तमिल साहित्य के इतिहास को ही चौपट करेगा, सबसे पहले वह तमिल जाति की संस्कृति का नाश करेगा। देखना यह चाहिए कि तमिल साहित्य में सामन्त विरोधी तत्त्व कौन से हैं, न कि यह कि इस साहित्य का लिखने वाला द्विज है या शूद्र। देखना यह चाहिए कि तमिल भाषा के इस सामन्त विरोधी साहित्य ने दूसरी भाषाओं को कहाँ तक प्रभावित किया है, उन भाषाओं के सामन्त विरोधी साहित्य ने तमिल साहित्य को कहाँ तक प्रभावित किया है। इसके बदले यदि कोई साहित्य में आर्य और द्रविड़ तत्त्व ढूँढता फिरे तो क्या यह सामन्तवाद की सेवा न होगी! भारतीय साहित्य की प्रगतिशील धारा आर्य और द्रविड़ दो भागों में नहीं बाँटी जा सकती। उसकी प्रगतिशीलता का एक प्रमाण ही यह है कि वह इस प्रकार विभाजित नहीं हो सकती। उसके निर्माता साम्राज्यवाद के दलाल नहीं थे, वे साम्राज्यवादियों के नस्सलवादी सिद्धान्त के उपासक नहीं थे। उनकी उदार मानवतावादी वाणी विश्व कल्याण के लिए है, इस देश की समस्त जनता के कल्याण के लिए है।

सांस्कृतिक तत्त्वों का विनिमय भाषा तत्त्वों के विनिमय से कुछ अधिक ही होता है और यह बिल्कुल सम्भव है कि विनिमय की जिस दशा से हम बीसवीं सदी में परिचित हैं, वह सोलहवीं सदी में वैसी न रही हो, यानी यह सम्भव है कि अंग्रेजी राज्य में आर्य-द्रविड़ साहित्य में जैसा सम्पर्क रहा, उससे बहुत अधिक सम्पर्क अंग्रेजी

राज्य से पहले रहा हो, भले ही उस समय सूचना और प्रसारण के साधन आज की अपेक्षा नितान्त अविकसित रहे हों।

1.2.2.3. भारतीय साहित्य का अध्ययन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में करने की समस्या

किसी एक भाषा के साहित्य का अध्ययन अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में हो, इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक है कि यह अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य स्थापित किया जाए। पर उसकी स्थापना तभी हो सकती है जब विभिन्न भाषाओं के साहित्य का अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए। भारत की सभी भाषाओं के साहित्य का इतिहास अभी अनेक समस्याओं में उलझा हुआ है। किसी को समस्यों का ज्ञान न हो और वह प्राप्त इतिहासों से संतुष्ट हो, वह बात अलग है। प्रत्येक भाषा के साहित्य में निरन्तर अनुसन्धान हो रहा है, नई सामग्री सामने आ रही है, इतिहास की टूटी हुई कड़ियाँ जोड़ी जा रही हैं। यह प्रक्रिया अभी काफी दिन चलेगी। इसलिए भारतीय साहित्य का इतिहास लिखना दुष्कर है।

किन्तु इस कारण इतिहास लिखने का काम छोड़ न देना चाहिए। यदि अधूरे ज्ञान के बल पर – दूसरों की भाषाओं के साहित्य का ही अधूरा ज्ञान नहीं, अपनी भाषा के भी अधूरे ज्ञान के बल पर – कोई भारतीय साहित्य के इतिहास की मुख्य समस्याओं का विवेचन करे, तो इस कार्य की सीमित उपयोगिता स्वीकार करनी चाहिए। यदि समस्याओं का विवेचन संतोषजनक न हो, विवेचन के लिए पर्याप्त सामग्री का उपयोग न किया गया हो, यदि सभी समस्यों पर ध्यान केन्द्रित न किया गया हो, पर कुछ समस्याएँ ऐसी प्रस्तुत की गई हों जो इतिहास-लेखन के लिए आधारभूत हों, तो भी यह कार्य अंशतः उपादेय होगा।

1.2.2.4. भारतीय साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों के अध्ययन की समस्या

अब हम इस समस्या पर विचार करेंगे कि भारत में चार भिन्न भाषा-परिवार विद्यमान हैं। ये सब शब्द-भण्डार और व्याकरण की दृष्टि से एक दूसरे से अलग हैं। इन परिवारों की भाषाएँ बोलने वाले एक ही राष्ट्र में कैसे शामिल किए जा सकते हैं ?

पहले तो यह देखना चाहिए कि राष्ट्र के निर्माण और विकास से भाषा-परिवारों की भिन्नता का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह निर्माण और विकास इस बात पर निर्भर है कि भिन्न भाषा बोलने वाली जातियों के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं, उनकी ऐतिहासिक परम्पराओं में कितनी समानता है, उनके आपसी आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध कैसे हैं, इत्यादि।

ऐसे परिवारों की भाषाएँ हैं जो एक दूसरे से नितान्त भिन्न हैं। इनमें एक आर्य भाषा परिवार है जो एक और बड़े इंडो-यूरोपियन परिवार की शाखा है। यह शाखा पहले भारत-ईरानी रूप में संयुक्त थी। आगे चलकर भारतीय आर्य और ईरानी प्रशाखाएँ विभक्त हो गईं। क्या यह सत्य नहीं है कि संस्कृत, तमिल की अपेक्षा, ईरानी भाषा (अथवा भाषाओं) के अधिक निकट है ? दूसरा प्रसिद्ध द्रविड़ भाषा परिवार है। 19वीं सदी में काल्डवेल ने

इसका सम्बन्ध शक भाषा परिवार से जोड़ा था। 20वीं सदी में द्रविड़ भाषा विशेषज्ञ बरो ने इस शक परिवार को सीमित करके फिनोउग्रियन परिवार से द्रविड़ समुदाय का सम्बन्ध जोड़ा है। प्रायः सभी भाषा वैज्ञानिक सम्प्रदायों के विद्वान् मानते हैं कि आर्यों ने भारत में उत्तर-पश्चिम से प्रवेश करके द्रविड़ों को परास्त किया, उनकी भूमि पर अधिकार किया, उन्हें दास बनाया और विन्ध्याचल के दक्षिण में उन्हें खदेड़ दिया। इससे पहले तो यह सिद्ध हुआ कि आर्यों के आगमन से पहले यहाँ द्रविड़ भाषाएँ बोली जाती थीं। द्रविड़ लोग दक्षिण भारत में भले खदेड़ दिए गए हों, उनकी भाषाओं का नाश नहीं हुआ। आर्यों के आने से पहले से लेकर अंग्रेजों के जाने के बाद तक ये भाषाएँ जीवित रही हैं। अनेक भाषाओं का व्यवहार भारत में अनादि काल से अब तक होता रहा है। ऐसे देश को राष्ट्र की संज्ञा कैसे दी जा सकती है ? फिर विजेता आर्यों के साहित्य के साथ विजित द्रविड़ों के साहित्य को गिनना, दोनों को एक ही राष्ट्र के साहित्य के अन्तर्गत मानना, क्या जले पर नमक छिडकना नहीं है ? क्या यह उन्हीं आर्यों की प्रभुत्वभावना नहीं है जो भारतीयता, राष्ट्रीयता आदि के नाम पर अर्येत्तर जनों को दास बनाते रहे हैं, जिन्होंने द्रविड़ों को विन्ध्याचल के दक्षिण में खदेड़ने के बाद भी उनका पीछा नहीं छोड़ा, वहाँ भी ब्राह्मणों का आधिपत्य कायम किया, संस्कृत भाषा और साहित्य के केन्द्र स्थापित किए, और इस प्रकार आर्य उत्तर भारत द्वारा आर्येतर दक्षिण भारत को गुलाम बनाते रहने का प्रयत्न निरन्तर चालू रहा ? भारतीय साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयत्न क्या उसी शृंखला की ओर एक कड़ी नहीं है ? द्रविड़ों के अतिरिक्त यहाँ कोल और मुंडा परिवार की भाषाएँ भी बोली जाती हैं। भाषा विज्ञानी कहते हैं कि कोल भाषा बोलने वाले लोग यहाँ द्रविड़ों से पहले रहते थे। द्रविड़ों ने उन्हें हटाया, आर्यों के आने पर द्रविड़ और कोल मिलकर आर्यों से लड़े पर जीत न पाए। जो भी हो, ये मुंडा लोग भी भारत में बाहर से आए थे और इनका भाषा समुदाय उस आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार की शाखा माना जाता है और दक्षिण-पूर्वी एशिया से लेकर प्रशान्त महासागर के दीप समूह को पार करता हुआ आस्ट्रेलिया तक चला गया है। इस परिवार की भाषाओं में बहुत कम साहित्य लिखा गया है, इसलिए भारतीय साहित्य का इतिहास लिखते समय किसी हद तक उसकी उपेक्षा की जा सकती है। किन्तु जब भारत राष्ट्र की बात करें, तब उसकी उपेक्षा से काम नहीं चलेगा। और इस धारणा का सामना करना होगा कि आर्य-द्रविड़ परिवारों के साथ यहाँ यह तीसरा भाषा परिवार भी है जो राष्ट्र सम्बन्धी कल्पना को खण्डित करता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी एक ही परिवार की भाषाएँ बोलने वाले लोग कहीं भी एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं हैं; पूरा परिवार तो बड़ी बात है, उसकी एक शाखा मात्र की भाषाएँ बोलने वाले लोग भी एक राष्ट्र में संगठित नहीं हैं। जर्मनी, आस्ट्रिया, हालैंड, डेनमार्क, नौर्वे, स्वीडन आदि देशों में जर्मन शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं पर ये सब राष्ट्र अलग-अलग हैं। फ्रांस, स्पेन, इटली, रूमानिया में लैटिन शाखा की भाषाएँ बोली जाती हैं, पर ये सब राष्ट्र अलग हैं। फिर अनेक भिन्न परिवार की भाषाएँ जहाँ बोली जाती हों, वहाँ भारत जैसे देश में राष्ट्र की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

एक नाग (चीनी-तिब्बती) परिवार अभी और है। मणिपुर, नागालैंड, अरुणाचल, असम के कुछ क्षेत्रों आदि में इस परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। यह चौथा नाग भाषा-परिवार काफी पुराना है। कुछ भाषाविज्ञानियों के अनुसार इस परिवार की भाषा बोलने वाले लोग भारत में आज जहाँ दिखाई देते हैं, उसकी अपेक्षा पुराने जमाने में भारत के और अधिक विस्तृत प्रदेशों में बसे हुए थे। इनकी भाषाओं में भी साहित्य रचना

कम हुई है। इसलिए भारतीय साहित्य का इतिहास लिखते समय फ़िलहाल इनकी उपेक्षा भी की जा सकती है पर कोलों की तरह ये नाग लोग भी राष्ट्र सम्बन्धी कल्पना के आड़े आते हैं।

भारत जैसे देश में राष्ट्रीयता का विकास सुदीर्घ ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है। ऐसा नहीं है कि किसी विशेष संवत्, मास या तिथि में, शुभ मुहूर्त देखकर, इस राष्ट्रीयता का जन्म हो गया, फिर वैसे ही किसी विशेष संवत्, मास, और तिथि में वह राष्ट्रीयता निर्वाण को प्राप्त हो गई। उस प्रक्रिया के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक अनेक कारण हैं, और वह प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई है। भारतीय साहित्य का इतिहास लिखना उचित है या अनुचित, इस बाते में शंका हो सकती है, पर भारत का इतिहास लिखना चाहिए या नहीं, इस बारे में किसी को शंका नहीं है। सैकड़ों देशी विदेशी इतिहासकार भारत का इतिहास लिखते आए हैं, अब भी लिख रहे हैं। इस इतिहास में वे केवल आधुनिक भारत का इतिहास नहीं लिखते जब अंग्रेजों की कृपा से, मान लीजिए, यहाँ राष्ट्रीय एकता कायम हो गई थी।

इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से पहले बंगाल, पंजाब, सिन्ध और कश्मीर में साहित्य रचना काफी बड़े पैमाने पर हो रही थी। इस साहित्य का माध्यम बांग्ला, पंजाबी, सिन्धी और काश्मीरी भाषाएँ थीं। साहित्य रचने वाले अधिकतर मुसलमान थे। अंग्रेजी राज कायम होने के बाद कश्मीरी, पंजाबी और सिन्धी में साहित्य रचना बहुत कम हो गई। बंगाल में साहित्य रचना जोरों से हुई किन्तु इसमें भाग लेने वाले मुसलमानों की संख्या नगण्य थी। इससे एक निष्कर्ष यह निकलता है कि मुसलमानों के राजत्वकाल में कश्मीरी, सिन्धी आदि जातियों का सांस्कृतिक विकास अवरुद्ध नहीं हुआ। वह अवरुद्ध हुआ अंग्रेजों के ज़माने में।

हिन्दी राष्ट्रभाषा हो, चाहे न हो, वह भारत की एक भाषा अवश्य है। यदि भारतीय साहित्य के अन्तर्गत इस देश की विभिन्न भाषाओं में रचा हुआ साहित्य विवेचित होगा तो उसमें हिन्दी साहित्य का विवेचन शामिल किया जाएगा। मान लीजिए, हिन्दी राष्ट्रभाषा बना दी गई है, केन्द्रीय राजकाज और अन्य अखिल भारतीय कार्यों में उसका व्यवहार होने लगा है, अंग्रेजी के व्यवहार पर रोक लगा दी गई है, तो क्या इससे भारतीय साहित्य वही साहित्य कहलाएगा जो हिन्दी में लिखा गया होगा ? अन्य भाषाओं में रचे गए साहित्य को अभारतीय कह कर क्या उसकी उपेक्षा की जाएगी ? यदि कोई ऐसा करना चाहे तो उसका यह प्रयत्न राष्ट्रीय एकता का नाश करने वाला कहा जाएगा। राष्ट्रीय एकता का अर्थ अनेक भाषाओं का सह-अस्तित्व, उनका परस्पर सहयोग है, उनका विनाश या दमन नहीं है।

इस तरह की तमाम भ्रान्तियाँ इस कारण पैदा होती हैं कि ब्रिटेन को एक भाषा वाला राज्य मानकर लोगों ने उसे राष्ट्र संज्ञा का आदर्श उदाहरण मान लिया है। वे समझते हैं, भारतीय साहित्य किसी एक भाषा का साहित्य हो सकता है, फिर वह भाषा संस्कृत हो, अंग्रेजी हो, चाहे हिन्दी हो। किन्तु यदि राष्ट्र बहुजातीय होते हैं, उनमें अनेक भाषाओं का व्यवहार होता है, तो यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि भारतीय साहित्य के अन्तर्गत अनेक

भाषाओं में रचे गए साहित्य का विवेचन किया जाए। किसी एक भाषा में रचे गए साहित्य को ही भारतीय समझना अस्वाभाविक होगा।

1.2.2.5. भारतीय साहित्य में साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा की समस्या

भारतीय भाषाओं में साहित्य रचने की प्रक्रिया एक साथ आरम्भ नहीं होती। इसका कारण क्या है ? जिन भाषाओं में विलम्ब से साहित्य रचा गया, क्या यह माना जाए कि उनका जन्म विलम्ब से हुआ था ? जहाँ तक द्रविड़ भाषाओं का सम्बन्ध है, उनमें इस समस्या का एक रूप है; आर्य भाषाओं के सम्बन्ध में इसी समस्या का रूप दूसरा है । द्रविड़ भाषाओं में सबसे पहले तमिल में, कम से कम चौथी सदी ईसा पूर्व से, साहित्य रचना होने लगती है। मलयालम में यह क्रम लगभग दो हजार साल बाद आरम्भ होता है। कुछ लोग मानते हैं कि पहले मलयालम का स्वतन्त्र अस्तित्व ही न था। 14वीं सदी में मलयालम में साहित्य रचा जाने लगा। उससे कुछ पहले इस भाषा का जन्म मान लीजिए। कन्नड़ में साहित्य रचना नवीं सदी से होने लगती है। कन्नड़ तमिल की बोली है, कोई नहीं कहता, पर इस विलम्बित साहित्य रचना का कारण क्या है ? क्या कन्नड़ का जन्म भी विलम्ब से हुआ ?

तमिल साहित्य के आरम्भिक काल में तमिलनाडु भारत से कटी हुई अलग इकाई था शेष भारत से उसका सम्पर्क भी था ? उत्तर भारत में जो साहित्य संस्कृत में रचा जा रहा था, क्या उससे तमिल साहित्यकार परिचित थे ? जिस समय तमिल भाषा साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, उस समय अन्य द्रविड़ भाषाओं का अस्तित्व था या नहीं ? इसी के साथ इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए। तमिल के समानान्तर उत्तर भारत में लोक भाषाओं का अस्तित्व था या नहीं ? इस प्रश्न के साथ ही और बहुत सी समस्याएँ सामने आ जाती हैं। संस्कृत बोलचाल की भाषा थी या नहीं ? यदि बोलचाल की भाषा नहीं थी तो कब से नहीं थी ? क्या प्राकृतें वास्तविक लोकभाषाएँ थीं ? क्या अपभ्रंश भाषा प्राकृतों का सहज विकास है ? जिन भाषाओं को देशी कहा गया है, वे प्राकृत-अपभ्रंश से भिन्न हैं या उन्हीं का दूसरा नाम देशी भाषा है ? क्या आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म अपभ्रंश से हुआ है ? अपभ्रंश में किन देशी भाषाओं के तत्त्व मिलते हैं ? जिस समय अपभ्रंश काल समाप्त होता है, उस समय भारत पर तुर्क आक्रमण होते हैं, भारत में तुर्क राज्य स्थापित होता है। अपभ्रंश से भिन्न देशी भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है। क्या तुर्कों को युग परिवर्तक माना जाए, साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा का श्रेय उन्हें दिया जाए ? संस्कृत-प्राकृत-देशी भाषा, इस विकास प्रक्रिया से भिन्न क्या आधुनिक भाषाएँ एक दूसरे के विकास में सहायक हुई हैं ? क्या इन भाषाओं को बोलने वाली जातियाँ किसी के साहित्यिक विकास में बाधक भी हुई हैं ?

क्या पुरानी हिन्दी, पुरानी गुजराती, पुरानी बांग्ला जैसी कोई भाषाएँ थीं ? इनका अपभ्रंश से क्या सम्बन्ध था ? जहाँ किसी साहित्य सामग्री को एक से अधिक जातियाँ अपनी सम्पत्ति कहती हैं, वहाँ निर्णय कैसे हो ? जिस समय आधुनिक भाषाओं में साहित्य रचा जाने लगता है, उसे भारतीय साहित्य का आधुनिककाल माना जाए या मध्यकाल ? साहित्य के विभाजन में कालविभाजन का आधार क्या हो ? जो भी भारतीय साहित्य का इतिहास लिखेगा, उसे इन प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होगा।

1.2.2.6. संस्कृत, प्राकृत भाषा-तन्त्र तथा देशी भाषाएँ

संस्कृत-प्राकृत के भाषातन्त्र से जनपदीय भाषाओं का अन्तर्विरोध अखिल भारतीय है। संस्कृत के साथ-साथ दक्षिण भारत में 18वीं सदी तक प्राकृत काव्यों की रचना होती रही। तेलुगु और प्राकृत के सम्बन्धों पर के. सीतारामैया ने लिखा है – "इस प्रदेश के शासक कार्य में प्राकृत का उपयोग करते थे। राजकीय आदेशपत्र, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि में प्राकृत का प्रयोग होता था। यहाँ के नरेशों ने प्राकृत में लिखे गए साहित्य को प्रोत्साहित किया। आन्ध्र राजाओं के काल में 'सतसई' (सप्तशती) नामक पद्य संकलन प्राकृत में लिखे गए।" (तेलुगु साहित्य का इतिहास, सम्पादक के. लक्ष्मीरंजनम्, हैदराबाद, 1967, पृष्ठ 23)

आन्ध्रप्रदेश में प्राकृत के विशेष प्रभाव का कारण बताते हुए उन्होंने आगे लिखा है – "ईसा से पहले इस देश में बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार था। सामन्त वर्ग ही नहीं, बहुसंख्यक जनता भी बौद्ध धर्म को मानती थी। बौद्धों के सभी ग्रन्थ प्राकृत में थे। उनके विहारों में भी प्राकृत का उपयोग होता था। प्रवचन तथा दैनिक कार्यों में भी बौद्ध स्थविर यहाँ की प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा प्राकृत का ही उपयोग करते थे। बौद्धों के इस प्रभाव के कारण तेलुगु का अधिक प्रसार न हो सका। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ब्राहमण वैदिक धर्म के प्रचार के लिए संस्कृत का प्रयोग करते थे, (इससे तेलुगु भाषा) पनप न सकी।" (तेलुगु साहित्य का इतिहास, सम्पादक के. लक्ष्मीरंजनम्, हैदराबाद, 1967, पृष्ठ 22-24)। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जब तक बौद्ध धर्म था या हिन्दू धर्म का नाश न हो जाए तब तक तेलुगु जैसी भाषा साहित्य का माध्यम नहीं बन सकती। पर यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि जहाँ का सामन्त वर्ग अधिक शक्तिशाली तथा रूढ़िवादी था, वहाँ जातीय भाषा के माध्यम से जातीय साहित्य के विकास में अवश्य बाधा पड़ी।

1.2.2.7. भारतीय-देशी भाषाओं के अन्तर्विरोध की समस्या

संस्कृत-प्राकृत भाषातन्त्र से जनपदीय भाषाओं का जो अन्तर्विरोध रहा है, उसके अतिरिक्त देशी भाषाओं में आपसी अन्तर्विरोध भी रहा है। सामन्ती व्यवस्था में राज्यों की सीमाएँ भाषा क्षेत्रों की सीमाओं के अनुरूप नहीं होतीं, इसलिए कोई एक भाषा बोलने वाला दल दूसरी भाषा के क्षेत्र पर अंशतः या पूर्णतः हावी हो जाए, यह स्वाभाविक है। अंग्रेजों ने यहाँ के सामन्तों की सहायता से अपना राज्य कायम किया। उन्होंने इस पुरानी सामन्ती नीति को बहुत जगह नया रूप दिया देशी भाषाओं के ऐसे अन्तर्विरोध प्राचीन काल में थे। इनका नमूना तमिल और मलयालम का अन्तर्विरोध है। ऐसे अन्तर्विरोध तथाकथित मध्यकाल में थे। इनका नमूना मराठी और कन्नड़, मराठी और गुजराती के बीच है। अंग्रेजी राज में इस तरह का अन्तर्विरोध बांग्ला और उड़िया, बांग्ला और असमिया के बीच रहा है। भारतीय साहित्य का अध्ययन करते समय इन अन्तर्विरोधों को ध्यान में रखना आवश्यक है।

जिस भाषा में साहित्य रचना पहले हो, वह भाषा अपने परिवार की प्राचीनतम सदस्य हो, यह आवश्यक नहीं है। द्रविड़ भाषाओं में तमिल का साहित्य सबसे पुराना है, इससे कुछ लोगों को यह मिथ्या धारणा पैदा हुई है

कि तमिल भाषा द्रविड़ भाषाओं में सबसे पुरानी है। इस धारणा के वशीभूत होकर वे तमिल और मलयालम का सम्बन्ध सही रूप में नहीं देख पाते। तमिल की अपेक्षा प्राचीनता के लक्षण मलयालम में अधिक हैं। हिन्दी आदि आर्य भाषाओं के समान तमिल में क्रियारूप लिंगभेद व्यंजित करते हैं। मलयालम में यह स्थिति नहीं है। बांग्ला के समान मलयालम के क्रियारूप लिंगभेद व्यक्त नहीं करते। इन दोनों भाषाओं में यह लक्षण अत्यन्त प्राचीन हैं, इनमें साहित्य रचना चाहे जितने विलम्ब से हुई हो। केरल के काफी हिस्से पर तमिलनाडू के राजा शासन करते थे। इस कारण मलयालम को साहित्य का माध्यम बनने का अवसर न मिला। एक ओर संस्कृत-प्राकृत का भाषातन्त्र, दूसरी ओर राजभाषा तमिल का दबाब, केरल की इस विशेष स्थिति में वहाँ की भाषा मलयालम में साहित्य रचना का कार्य विलम्ब से हुआ। इस विलम्ब का अर्थ लोग यह मानते हैं कि मलयालम भाषा का जन्म ही विलम्ब से हुआ।

17वीं सदी में जब मराठों ने अपना राज्य विस्तार किया, तब इसका प्रभाव पड़ोसी भाषाओं की स्थिति पर भी पड़ा। कन्नड़ भाषा पर इस प्रभाव की चर्चा करते हुए आर. एस. पंचमुखी ने लिखा है – "सत्रहवीं सदी में कर्नाटक पर मराठा शासन लाया गया। सांस्कृतिक रूप से वह शासन स्वस्थ था, उसकी आत्मा विरोधी नहीं थी, फिर भी किसी प्रदेश के विकास के लिए जो भाषागत एकरूपता आवश्यक है, उसकी उपेक्षा के लिए रास्ता साफ़ हो गया। कुछ ही दशकों में सारे उत्तरी कर्नाटक पर मराठे छा गए। इससे मराठी के लिए आग्रह बढ़ा और वहाँ की धरती की भाषा के पीछे कन्नड़ की उपेक्षा का भाव बढ़ा।

1.2.3. पाठ-सार

समग्रतः कहा जा सकता है कि भारत की विभिन्न भाषाओं में रचित साहित्य ही भारतीय साहित्य है। भारतीय साहित्य के अध्ययन में आने वाली समस्याओं में मुख्य इस प्रकार हैं – भारतीय साहित्य से स्वरूप के निर्धारण की समस्या, भारतीय भाषाओं की समझ की समस्या, अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में भारतीय साहित्य के अध्ययन की समस्या, भारतीय साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों के अध्ययन की समस्या, भारतीय साहित्य में साहित्य में देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा की समस्या, भारतीय देशी भाषाओं के अन्तर्विरोध की समस्या आदि। लेकिन इन समस्याओं का समाधान भी किया जा सकता है। आवश्यकता केवल धैर्य और मेहनत करने की है। इसके लिए अनवरत प्रयास करते रहना अनिवार्य है।

1.2.4. बोध प्रश्न

1. भारतीय साहित्य के अध्ययन की मुख्य समस्याओं की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
2. भारतीय साहित्य को अखिल भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता क्यों है?
3. भारतीय साहित्य में भिन्न-भिन्न भाषा-परिवारों के अध्ययन की समस्या को समझाइए।
4. भारतीय साहित्य में देशी भाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा की क्या आवश्यकता है?

❖❖❖

खण्ड – 1 : भारतीय साहित्य की अवधारणा

इकाई – 3 : भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता, भारतीय साहित्य में आज के भारत का बिम्ब

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य कथन
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. भारतीय सहित्य की मूलभूत एकता के आधार तत्त्व
  1.3.2.1. समान जन्मकाल
  1.3.2.2. भारतीय साहित्य के विकास का समानान्तर विकास क्रम
  1.3.2.3. भारतीय साहित्य के समानान्तर विकास क्रम का आधार
  1.3.2.4. सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य
  1.3.2.5. साहित्यिक पृष्ठाधार
1.3.3. भारतीय साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ
  1.3.3.1. नाथ साहित्य
  1.3.3.2. चारण काव्य
  1.3.3.3. सन्तकाव्य
  1.3.3.4. प्रेमाख्यानक काव्य
  1.3.3.5. वैष्णव काव्य
  1.3.3.6. अभिनेय साहित्य
  1.3.3.7. आधुनिक साहित्य
1.3.4. पाठ-सार
1.3.5. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

i. भारतीय साहित्य के स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता समझ लेंगे।
iii. भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता के आधारभूत तत्त्वों को समझ सकेंगे।

1.3.1. प्रस्तावना

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है – उत्तर पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बांग्ला और असमिया, मध्य पश्चिम में मराठी और गुजरती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएँ हैं, जिनका साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है, जैसे

कश्मीरी, डोगरी, सिन्धी, कोंकणी, तुरु आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में प्रत्येक का, अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिणाम – सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो वह यूरोप के संकलितवाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता पर विचार करते हुए डॉ॰ नगेन्द्र का कहना है कि – "वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है – ज्ञान का अपार भण्डार, हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा, और ब्रह्म की कल्पना से भी अधिक सूक्ष्म।" (नगेन्द्र, भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता, (सं.) मूलचन्द गौतम, (2009) भारतीय साहित्य, दिल्ली, राधाकृष्ण, पृष्ठ 71) इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतन्त्र और प्रखर वैशिष्ट्य है, जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, हिन्दी और उर्दू की प्रदेश सीमाओं के मिले होने पर भी उनके अपने-अपने साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार मराठी और गुजराती का जन-जीवन ओतप्रोत होते भी उनके बीच किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं है। दक्षिण की भाषाएँ द्रविड़ परिवार की विभूतियाँ हैं किन्तु कन्नड़ और मलयालम, या तमिल और तेलुगु के स्वरूप में कोई शंका नहीं होती। यही बात बांग्ला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है। बांग्ला के गहरे प्रभाव को पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी अपनी विशिष्ट विभूतियाँ हैं। तमिल का संगम साहित्य, तेलुगु के द्विअर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान साहित्य, मलयालम के सन्देश काव्य एवं कीर गीत (कलिप्पाट्टू) तथा मणिप्रवालं शैली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बांग्ला का मंगल काव्य, असमिया के वडगीतऔर बरुंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान और वीर गीत, उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी का रीतिकाव्य और छायावाद आदि अपने अपने भाषा साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्ज्वल प्रमाण है। फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों केरहते हुए भी भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान भी सहज सम्भव है। भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहाँ इस एकता के आधार तत्त्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

1.3.2. भारतीय सहित्य की मूलभूत एकता के आधार तत्त्व

1.3.2.1. समान जन्मकाल

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषा ओं का जन्मकाल प्रायः समान ही है। तेलुगु-साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ है 'कविराजमार्ग', जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट वंश के नरेश नृपतुंग (814-877 ई.) और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है 'रामचरितम्' जिसके विषय में रचनाकाल और भाषा स्वरूप की अनेक समस्याएँ

हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शताब्दी की रचना है। गुजरती तथा मराठी का अविर्भाव काल लगभग एक ही है। गुजराती का आदिग्रन्थ सन 1185 ई. में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का 'बाहु-बलिरास' है और मराठी के आदिम साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है। बांग्ला के चर्यागीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी। असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं – हेम सरस्वती की रचनाएँ 'प्रहलाद चरित्र' तथा 'हर-गौरी संवाद'। उड़िया भाषा में भी तेहरवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं। उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का अविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती से व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएँ ऐसी हैं, जिनका जन्मकाल भिन्न है – तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है और उर्दू, जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता। हालाँकि कुछ विद्वान् उर्दू का भी उद्भव 13-14 वीं शदी के बाबा फरीद, अब्दुल हमीद नागोरी तथा अमीर खुसरो की रचनाओं से मानने लगे हैं ।

1.3.2.2. भारतीय साहित्य के विकास का समानान्तर विकास क्रम

आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी समान ही हैं। प्रायः सभी का आदिकाल पन्द्रहवीं शती तक चलता है। पूर्व-मध्यकाल की समाप्ति मुग़ल वैभव के अन्त अर्थात् सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर-मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्य का विकास क्रम लगभग एक सा ही है। सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

1.3.2.3. भारतीय साहित्य के समानान्तर विकास क्रम का आधार

भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्य के इस समानान्तर विकास क्रम का आधार है भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास क्रम। बीच-बीच में व्यवधान होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनैतिक व्यवस्था रही है। मुग़ल शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्ण-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। मुगलों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुगल शासन के पहले भी राज्य विस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एकछत्र भारत सम्राट तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारतवर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे। शासन भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन प्रणाली प्रायः एक-सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में तो अंग्रेजों ने केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनैतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

1.3.2.4. सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य

राजनैतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ, जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति और सिद्धान्त प्रतिपादन दोनों के लिए कवि-कर्म में प्रवृत होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी सन्त-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफ़ी-मत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। सन्त सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे। सूफ़ी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी, किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफ़ी सन्तों का यद्यपि उत्तर पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बीजापुर और गोलकुंडा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहाँ भी अनेक प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त हुए। इसके पश्चात वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ, जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला गान से गुंजरित हो उठा। उधर, मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरन्तर बढ़ रहा था। ईरानी संस्कृति के अनके आकर्षक तत्त्व जैसे – वैभव विलास, अलंकरण सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और नई दरबारी या नागर संस्कृति का अविर्भाव हो रहा था। राजनैतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ, जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा संस्कार लाए और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजों का प्रभुत्व सारे देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बनाकर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उसके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा। प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

1.3.2.5. साहित्यिक पृष्ठाधार

भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य – अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन और अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला। शास्त्र के अन्तर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियाँ, आदि और उधर काव्यशास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ – 'नाट्यशास्त्र', 'ध्वन्यालोक', 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण रसगंगाधर' आदि की विचार विभूति का उपयोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय

भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा स्रोत हैं और प्रायः सभी को समान रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनैतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

1.3.3. भारतीय साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

1.3.3.1. नाथ साहित्य

सबसे पहली प्रवृत्ति, जो भारतीय वाङ्मय में प्रायः सर्वत्र समान मिलती है, नाथ साहित्य है। दो-चार को छोड़कर प्रायः सभी भाषाओं के प्रारम्भिक साहित्य के विकास में नाथपन्थी तथा शैव साधुओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। स्वभावतः नाथ साहित्य का सृजन दक्षिण में उत्तरी और पूर्वी भारत की अपेक्षा बहुत कम हुआ है। दक्षिण में शैव धर्म का तो अत्यधिक प्रचार था परन्तु वहाँ के कवि शैव-योगियों की अपेक्षा शिवभक्त ही अधिक थे। शैव दर्शन से प्रभावित तान्त्रिक साधना का प्रचार वहाँ नहीं था वरन् शिव की सगुण भक्ति ही वहाँ प्रमुख थी। तमिल के नायनमार, तेलुगु के पाल्कुरिकि तथा उनके परवर्ती कवि, कन्नड़ में वीरशैववाद के उन्नायक बसवेश्वर आदि उत्तर भारत के नाथ और सिद्ध कवियों से मूलतः भिन्न थे। दक्षिणात्य कवि शुद्ध भक्त कवि थे, उत्तर और पूर्व के सिद्ध और नाथ कवि योगी अथवा तान्त्रिक साधक थे। फिर भी नाथ प्रभाव सुदूर दक्षिण तक पहुँच गया था। नवनाथचरित्रम (तेलुगु) आदि कृतियाँ इसका प्रमाण हैं।

मराठी और बांग्ला में नाथ साहित्य की विशिष्ट धारा प्रवाहित हुई। मराठी में तो स्वयं गोरखनाथ की ही वाणी मिलती है जिसका नाम है 'अमरनाथ सनवड'। इस वर्ग में दूसरा प्रसिद्ध नाम है गैगिनाथ का। बांग्ला वस्तुतः नाथ सम्प्रदाय का गढ़ था। गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से बांग्ला का नाथ साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है। उसमें बौद्धों के सहजिया सम्प्रदाय का साहित्य और चर्यागीत की धारा भी घुलमिल गई है। असमिया तथा उड़िया के प्राचीन काव्य में यद्यपि नाथ आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है किन्तु इस प्रकार की कोई स्पष्ट काव्यधारा यहाँ प्रवाहित नहीं हुई।

बंगाल के बाद इस सम्प्रदाय का दूसरा विकास-केन्द्र था पंजाब। बंगाल में जहाँ बौद्ध प्रभाव में इसका पल्लवन हुआ वहाँ पंजाब में इस्लाम और सूफी प्रभाव का जोर रहा। पंजाबी के इतिहासकार गोरखनाथ और चर्पटनाथ को अपने साहित्य के आरम्भिक लेखक मानते हैं। उनके समसामयिक फ़रीद आदि कई मुस्लिम पीरों ने भी इस प्रकार के साहित्य का संवर्धन किया। इस साहित्य के स्रष्टा गुरु, नाथ, सिद्ध, पीर और बाबा के नाम से प्रसिद्द थे। यही काव्य-प्रवाह हिन्दी में भी आया और कदाचित् पंजाबी का गहरा पुट लेकर आया। वास्तव में उस युग की हिन्दी और पंजाबी में भेद करना कठिन है। नाथपन्थी साधुओं की अनेक गद्य-पद्यमयी रचनाएँ हिन्दी में उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में नाथ साहित्य की एक व्यापक प्रवृत्ति विद्यमान है जो उत्तरी-पश्चिमी, पूर्वी और मध्यदेशीय – सभी भाषाओं में परिव्याप्त है।

1.3.3.2. चारण काव्य

दूसरी आरम्भिक प्रवृत्ति है चारण काव्य। यह भी अधिकांश भाषाओं में प्रायः समान है। अपनी प्राचीनता के अनुरूप ही तमिल में चारण काव्य संगम काल (ई. पू० ५००-२००) के आरम्भ से ही मिलता है। पतुप्पाट्टू (दस लघु-वर्णनिकाओं) में से कई में चारण काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। पोरुनरात्रुप्पदइ अर्थात् 'सेनापति की बात' करइकल के राजा की स्तुति में लिखी गई है। कवि ने यहाँ सतत प्रवाहमान कावेरी के कारण चोल राज्य की उर्वरता, कृषि तथा उद्योग-वैभव और चोलराज के विवेक एवं प्रताप का यशोगान किया है। चौथी लघु-वर्णनिका पेरुम्मनात्रुपदइ में कांची के शासक की प्रशंसा है। पद्रिटुप्पात्त में विभिन्न कवियों द्वारा चेर राजवंश के राजाओं का गुण-कीर्तन किया गया है। संगम युग का प्रसिद्ध महाकाव्य सिलप्पदिकारम भी एक प्रकार से चारण-काव्य ही है। इसका कवि चेर-सम्राट का पुत्र था जो बाद में तपस्वी हो गया था। तेलुगु में श्रीनाथ का लोकप्रिय काव्य पलनाटिवीरचरित्रम् इस वर्ग का अत्यन्त श्रेष्ठ काव्य है। जनभाषा में रचित काव्य पलनाडु (गुंटूर) के योद्धाओं के शौर्य और साहस का अत्यन्त ओजोदीप्त वर्णन प्रस्तुत करता है। मलयालम के आदिम काव्य संग्रह 'पझय पाट्टुकल' में अनेक चरित्र-गीत हैं। उधर पर्सी मैक्वीन ने बड़ी संख्या में मलयालम चारण गीतों का संकलन किया है। मराठी के मध्ययुगीन वीराख्यान अथवा वीरगीत रूप पवाड़े चारणकाव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। इनमें चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं और वीरों के शौर्य और प्रताप का यशोगान किया है। गुजराती साहित्य में श्रीधर रचित 'रणमल्ल छन्द' और पद्माभ का 'कान्हड्डे प्रबन्ध' आदि अनेक वीर-रस-प्रधान काव्य भारतीय चारण काव्य परम्परा की अमूल्य विभूतियाँ हैं। पंजाबी में गुरु गोबिंद सिंह ने वीर रसपूर्ण अमर काव्य की रचना की है। किन्तु उनका चण्डी काव्य चारणकाव्य नहीं है। बाद में सिख वीरों की प्रशस्ति में कुछ पंजाबी कवियों ने चारणगीतों की रचना की है जो इधर-उधर बिखरी पड़ी है। हिन्दी के आदि युग को तो इतिहासकारों ने वीरगाथाकाल नाम ही दे दिया है। हिन्दी में आदिकाल में ही नहीं मध्यकाल में भी निरन्तर चारणकाव्य की रचना होती रही। आरम्भ में पृथ्वीराज रासो तथा उसके पूर्ववर्ती-परवर्ती अनेक रासो ग्रन्थ और उधर आल्हखण्ड प्रभृति वीररसपरक आख्यान – गीत तथा मध्ययुग में भूषण, सूदन, आदि की रचनाएँ चारणकाव्य के इतिहास में अक्षय गौरव की अधिकारिणी हैं।

1.3.3.3. सन्तकाव्य

भारतीय वाङ्मय की तीसरी प्रमुख प्रवृत्ति है सन्तकाव्य। इसकी परम्परा भी प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। तमिल के 'अठारह सिद्ध' सन्त कवि थे जिन्होंने सरल वाणी में रहस्यवादी रचनाएँ की हैं। तेलुगु में वेमन, वीरब्रह्मं, और कन्नड़ के सर्वज्ञ आदि इस वर्ग के प्रमुख कवि हैं। मराठी का सन्तकाव्य तो अत्यन्त प्रसिद्ध है ही। महानुभाव सम्प्रदाय के सन्त ज्ञानदेव, उनके अनुयायी नामदेव और वारकरी पंथ के अन्य सन्त तथा एकनाथ आदि अत्यन्त प्रसिद्ध महात्मा शताब्दियों तक अपनी ज्ञानभक्तिमयी कविता द्वारा इस परम्परा का संवर्धन करते रहे – जिनके फलस्वरूप मराठी में सन्त-काव्य का अत्यन्त समृद्ध कोष तैयार हो गया। गुजराती में यह प्रवृत्ति हमें सत्रहवीं शती में अखो की रचनाओं – चित्तविचार संवाद, अनुभव बिन्दु तथा अखोगीता – में और सहजानन्द, प्रीतमदास आदि सन्त कवियों की कविता में मिलती है। इन कवियों में शास्त्रसम्मत वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों विशेषकर गुजरात में

प्रवर्तित वल्लभ सम्प्रदाय के विरुद्ध आवाज़ उठायी और शृंगारिक अर्चा-विधियों का तिरस्कार करते हुए सहज भक्ति एवं पवित्र जीवन का महत्त्व प्रतिपादित किया। बंगाल में बाउल गीतों का सत्रहवीं-अठारहवीं शती में बड़ा प्रचार हुआ। ये बाउल गीत हिन्दू-मुसलमान जनता की समन्वित धार्मिक मान्यताओं को सीधी-सादी भाव-प्रवण भाषा में व्यक्त करते हैं। इनके रचयिता ग्रामीण सन्त कवि थे जिन्होंने संसार से वैराग्य ले लिया था और मानों किसी दिव्य प्रेम के उन्माद में सामान्य सामाजिक रीति-नीति को तिलांजली दे दी थी। उड़िया के कवि भीमाभाई ने उन्नीसवीं शताब्दी में इस परम्परा को उद्दीप्त किया। परन्तु सब मिलाकर सन्तकाव्य का सर्वाधिक प्रचार उत्तर-पश्चिम की भाषाओं – हिन्दी, पंजाबी और उर्दू में रहा। पंजाबी में गुरु नानक तथा अन्य सिख कवियों और अनेक हिन्दू-मुसलमान सन्तों की अमृतवाणी से पोषित सन्त-काव्य का अनन्त भण्डार विद्यमान है। इसी प्रकार कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि की दिव्य-प्रतिभा से आलोकित हिन्दी का सन्तकाव्य भी गुण एवं परिणाम दोनों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। उधर उर्दू साहित्य में भी सूफ़ी मुक्तक कवियों ने इस प्रवृत्ति के संवर्धन में योगदान किया है। वास्तव में मध्ययुग में सन्तकाव्य और प्रेमाख्यानक काव्य – ये दो ही प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो उर्दू में भी समान रूप से उपलब्ध होती हैं।

1.3.3.4. प्रेमाख्यानक काव्य

अब प्रेमाख्यानक काव्य की परम्परा को लीजिए। वह भी भारतीय भाषाओं में प्रायः समान रूप से व्याप्त है। भारतीय वाङ्मय के अध्येता को यह देखकर एक प्रकार का सुखद विस्मय होता है कि सम्पूर्ण देश में प्रायः एक जैसे प्रेमाख्यानक उपलब्ध होते हैं।अनेक कथानक ऐसे हैं जो थोड़े बहुत परिवर्तन से भारत की बहुत सी भाषाओं में काव्यबद्ध किए गए हैं । तेलुगु में राजशेखरचरित्रम्, प्रभावती-प्रद्युम्न, कलापूर्णोदयम्, चन्द्रमतीप्रणयम्, रसिकजनमनोभिरामम् और चन्द्रलेखाविलासम् आदि प्रेमगाथाएँ काव्य और कथानक दोनों की दृष्टि से रमणीय हैं। गुजराती में प्रेमगाथाओं की परम्परा और भी समृद्ध है। प्राचीन गुजराती में असायत ने हंसावलि (1371 ई.), भीम ने सदयवत्स-कथा (1410 ई.), और हीरानन्द ने विद्याविलासिनी (1429 ई.) की रचना की। इनके बाद सोलहवीं शती में इस प्रकार की रोमानी कथाओं का प्रसार और बढ़ गया। नरपति की नन्दबत्तीसी और पंचदण्ड, गणपति का माधवानल-कामकंदला दोग्धक (1528 ई.), मधुसूदन व्यास का हंसावती-विक्रमचरित-विवाह (1560 ई.), कुशललाभ की ढोलामारू चौपाई (1561 ई.) और नयनसुन्दर-कृत रूपचन्द्रकुंवर रास (1581 ई.) इस वर्ग की अत्यन्त प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। अठारहवीं शताब्दी में शामल ने इन रम्याद्भुत काव्य-कथाओं का सम्यक् उपयोग करते हुए पद्मावती (1718 ई.), सुडा बहुतेरी (1765 ई.) विनयचन्दनी वार्ता और मदनमोहना आदि प्रेमाख्यानों की सर्जना की।

बांग्ला में इन प्रेमगाथाओं की केन्द्र थी विद्यासुन्दर की प्रणय-कथा। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस कथा को लेकर अनेक कवियों ने काव्यबद्ध प्रेमाख्यान लिखे – जिनमें सर्वोपरि है भारतचन्द्र। भारतचन्द्र से एक सौ वर्ष पूर्व अनेक सूफ़ी कवियों ने हिन्दू जीवन को लेकर प्रेमकथाएँ लिखीं। आराकान दरबार के सैयद आलाओल जायसी के पद्मावत का बांग्ला पद्य में अनुवाद प्रस्तुत कर चुके थे जो इस प्रकार के काव्य के लिए अनमोल प्रेरणा-

स्रोत सिद्ध हुआ। उत्तर-पश्चिम की भाषाओं में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक विकसित हुई। पंजाबी और हिन्दी में प्रेमाख्यानों की परम्परा अत्यन्त विस्तृत है। प्रमुख पंजाबी प्रेमाख्यान निम्नलिखित हैं –

युसूफ-जुलेखा, गोपीचन्द्र, सस्सी-पुन्नू, चन्द्रभागा, हीर-राँझा, सिंहासन बत्तीसी, ढोल-सम्मी, बेताल पचीसी, शीरीं-फ़रहाद, सोरठ वीजा, लैला-मजनू, पद्मनी, रूप-बसन्त, गुलसनोबर, कामरूप कामलता, उर्वशी, माधवानल-कामकंदला, तिलोत्तमा, बहराम गोर, उखा, चन्दर बदन मेआर, भरथरी, हातिमताई, देवयानी, पूरन भगत, सुन्दरा, बाजमती, नल-दमयंती, मृगावती, रसालूकोकिला, सखी सरवर, सैफुलमुलुक, सोहनी-महीवाल, मिर्जा-साहिबां, रोड़ा जलाली, खैरा सम्मी, सुलेमान वलकीस, गुग्गा, चित्रावली आदि।

इनमें कथानक की रोचकता और रम्याद्भुत वैभव की दृष्टि से वारिसशाह की रचना 'हीर' सर्वोत्कृष्ट है। उनके पूर्ववर्ती कवि दामोदर तथा मुकबिल और परवर्ती हामिद, अब्दुल हक़ीम, मोहम्मद मुस्लिम, बुधा सिंह, अहमद यार, और हासम आदि के काव्यों की भी अपनी विशेषता और अपना पृथक महत्त्व है।

हिन्दी का प्रेमाख्यान काव्य कदाचित और भी समृद्ध है – गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से। हिन्दी में लगभग 40 प्रेमाख्यानों का शोध किया जा चुका है और अभी और भी आशा है। इन सबकी मुकुटमणि है जायसी का 'पद्मावत' जिसे कदाचित् प्रस्तुत वर्ग की समस्त भारतीय रचनाओं में मूर्धन्य स्थान का अधिकारी माना जा सकता है। वास्तव में उसका प्रबन्ध कौशल और विरह-वर्णन वारिसशाह की हीर से भी अधिक उत्कृष्ट है। शेष आख्यानों में से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं – मधुमालती, चित्रावली, ज्ञानदीप, हंस जवाहिर, अनुराग बाँसुरी, ढोला मारू रा दूहा, बेलि किस्न रुक्मणी री, रस रतन, माधवानल-कामकंदला के चार विभिन्न संस्करण, रूप-मंजरी, बीसलदेव रासो, रमणशाह छबीली भटियारी की कथा, प्रेमपयोनिधि, पुहुपावती, नलदमन आदि।

उधर उर्दू में भी लौकिक-अलौकिक विरह-प्रधान मसनवियों की सुन्दर शृंखला मिलती है। इसका आरम्भ सत्रहवीं शती में दक्षिण में हुआ और मुल्ला वजही ने क़ुतुबमुश्तरी (1609 ई.), गुब्बासी ने सैकुलमुल्क आयर बदीउल जमाल, तथा शुक-सप्तति पर आधारित तोतीनामा (1639 ई.), इब्न निशाती ने फूलवन, बहरी ने मान लगन और वली वेल्लोर ने रतन-ओ-पदम की रचना की। उत्तर भारत के उर्दू शायरों ने भी प्रेम-गाथाएँ लिखीं किन्तु उनका रंग कुछ बदला हुआ था। भारतीय जन-जीवन के प्रेम विरह की प्रकृत माधुरी के स्थान पर उनमें फारस का रंग गहरा हो चला था और अलंकरण की प्रवृत्ति तथा आभिजात्य की ओर प्रभाव बढ़ गया था। मीर हसन, पण्डित दयाशंकर नसीम आदि की मसनवियाँ इसका प्रमाण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमाख्यानमयी यह काव्यधारा मुलतान और सिन्ध से लेकर आन्ध्रप्रदेश तक और उधर गुजरात से लेकर बंगाल तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही थी।

1.3.3.5. वैष्णव काव्य

भारतीय वाङ्मय की सबसे प्रबल प्रवृत्ति है वैष्णव काव्य, जो उतना ही व्यापक भी है। भारतीय साधना पद्धति में भक्ति का बड़ा महत्त्व है। आरम्भ से ही यहाँ भक्ति साहित्य का बड़ा प्राचुर्य रहा है। दक्षिण की भाषाओं

में भक्ति-भावना का प्राबल्य अपेक्षाकृत अधिक है और वहाँ का भक्ति साहित्य अधिक प्राचीन भी है। तमिल में वैष्णव काव्य का संग्रह नालायिरप्रबन्धम् नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता बारह आलवार भक्त हैं और इसमें 4000 छन्द हैं। इनमें परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक योगदान तिरुमगै आलवार और नम्मालवार का है। भावना की विह्वलता के कारण कवयित्री अंदाल का भी अपना पृथक् स्थान है।

उत्तरकाल (1200 से 1750 ई.) में पिल्लै पेरुमाल अय्यंगर प्रसिद्ध वैष्णव कवि हुए हैं। उनकी अष्टप्रभुबन्धनम्' काव्यकृति अत्यन्त प्रसिद्ध है। तेलुगु में वैष्णव काव्य की रामकाव्य और कृष्णकाव्य दोनों ही धाराएँ अत्यन्त समृद्ध हैं। वहाँ रामकथा पर आश्रित छोटी बड़ी डेढ़ सौ से ऊपर काव्य-रचनाएँ हैं। वस्तुतः राम की भक्ति का प्रचार यहाँ अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक रहा है। प्रसिद्ध गायक और गीतकार त्यागराज ने अपने कीर्तन राम को समर्पित किए हैं। तेलुगु की प्राचीनतम रामायण रंगनाथ रामायण है जिसकी रचना तेरहवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुई थी। उसके अतिरिक्त भास्कर रामायण, बुद्धा रेड्डी की रामायण आदि की भी विशेष प्रसिद्धि है। रामकाव्य की यह परम्परा बाद तक चलती रही और कुम्मरि मोल्ल ने रामायणम् नामक विशाल काव्य की रचना की जो अपने काव्य-गुण, सरल शैली और आकर्षक वर्णनों के कारण आन्ध्र में बहुत ही लोकप्रिय है। कृष्णकाव्य का अनुपम ग्रन्थ है बम्मेर पोतन रचित 'भागवतम्'। यह संस्कृत भागवत से प्रभावित होते हुए भी अपने मौलिक कवित्व गुण की दृष्टि से उससे हीन नहीं है।

प्रबन्ध युग (1500 से 1750 ई.) में तिम्मन के 'पारिजातापहरणम्' की विशेष ख्याति है। मदुरा-साहित्य के अन्तर्गत शृंगाररसाप्लावित 'सत्यभामा सांत्वनम्' और परवर्ती ह्रासयुग में दाक्षिणात्य कवयित्री मुद्दुपलणि की काव्य-कृति 'राधिकासांत्वनम्' कृष्णकाव्य की सरस रचनाएँ हैं। प्राचीन कन्नड़ साहित्य के इतिहास का तृतीय चरण वैष्णव काल के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो राम और कृष्ण को लेकर कन्नड़ में अनेक महाकाव्य लिखे गए परन्तु वे वैष्णव काव्य नहीं हैं। शुद्ध वैष्णव काव्य के दर्शन हमें सत्रहवीं शती के पुरन्दरदास, कनकदास आदि भक्त कवियों के असंख्य कीर्तनों में होते हैं जो अपनी भक्ति माधुरी, लोकप्रिय प्रगीत शैली के कारण आज तक जीवित हैं। उधर इसी युग में संस्कृत के अमर ग्रन्थों – रामायण और महाभारत के कन्नड़ में अनुवाद किए गए। मलयालम में वैष्णव काव्य का आदिग्रन्थ कृष्णगाथा (15वीं शती) है। काव्य की विषयवस्तु कृष्ण के जन्म से स्वर्गारोहण तक की कथा है। इसके अन्तर्गत 47 कथाएँ हैं जिनमें सर्वत्र ही कवि की भक्ति-भावना अकुण्ठित रही है। कवि वैसे तो नवरसों का पारंगत है किन्तु शृंगार उसका मुख्य रस है। शृंगार के अतिरिक्त वात्सल्य का चित्रण भी अद्भुत है। इसके उपरान्त 'भास-भागवतम्', हरिनामकीर्तनम्' और उधर कृष्ण के जीवन को लेकर 'कृष्णनाट्यम्' आदि अनेक अट्टकथाओं का सृजन हुआ। रामकाव्य की परम्परा यहाँ कदाचित और भी प्राचीन थी।

मलयालम में तमिल सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण कृति 'रामचरितम्' और उधर निरणम कवि परिवार की 'कण्णश्श रामायणम्' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। किन्तु इस वर्ग की सबसे प्रमुख रचना है एजुत्तच्चन् की 'अध्यात्मरामायण'। वाल्मीकि ने राम को महापुरुष और उदात्त शासक माना है किन्तु एजुत्तच्चन् ने तुलसीदास की भाँति उनको ईश्वर माना है और कई स्थानों पर भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की है। रामकथा पर आश्रित अनेक चम्पूकाव्यों में 'रामायण चम्पू' सर्वश्रेष्ठ है। उधर अट्टकथाओं में रामनाट्टम् की प्रसिद्धि सर्वाधिक है। मराठी में

एकनाथ ने भागवतधर्म को आनन्दवनभुवन नाम से अभिहित किया और अपने लघु आख्यान काव्यों और अभंगों द्वारा आनन्दमयी भक्ति का प्रचार किया। उनके बाद सत्रहवीं शती के आरम्भ में ही तुकाराम के अभंगों में वैष्णव भक्तिभाव को व्यापक अभिव्यक्ति मिली। तुकाराम के अभंगों का प्रभावमहाराष्ट्र में सर्वत्र छा गया। वे वास्तव में भगवत धर्म के अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक थे। वैष्णव काव्यधारा का सबसे अधिक वेग गुजराती और पूर्वी भाषाओं अर्थात् बांग्ला, असमिया और उड़िया साहित्य में मिलता है। गुजराती काव्य में अपने सगोत्रीय ब्रजभाषा काव्य की भाँति ही कृष्णभक्ति का प्राधान्य है। नरसी मेहता, भालण, नाकर, विष्णुदास, प्रेमानन्द आदि कवि भारतीय कृष्णकाव्य की अमर विभूतियाँ हैं। ये कवि विशेषकर नरसी, भालण और प्रेमानन्द, चंडीदास, सूरदास और नन्ददास की कोटि के कवि हैं। संयोग-वियोग के प्रसंगों, लीलाओं और बाल वर्णन के रमणीय चित्रों से जगमग गुजराती कृष्णकाव्य अपना प्रतियोगी आप ही है। पूर्व की भाषाओं विशेषकर बांग्ला का वैष्णव साहित्य भी कम समृद्ध नहीं है। वैसे तो चैतन्य महाप्रभु से पहले भी वहाँ चंडीदास जैसे भक्तकवि हो चुके थे, किन्तु महाप्रभु के बाद तो भक्तिरस की ऐसी धारा प्रवाहित हुई कि बांग्ला के ही नहीं असमिया और उड़िया के कवि भी उसमें निमग्न हो गए। 16वीं शताब्दी से डेढ़ सौ वर्ष बाद तक बांग्ला में चैतन्य मत के प्रत्यक्ष प्रभाव से अभिभूत होकर जो साहित्य रचा गया उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है – (i) गीति काव्य और (ii) चरित काव्य। चैतन्य के समसामयिक एवं अनुयायी गीतिकारों में मुरारिगुप्त, नरहरि सरकार, वासुदेव घोष और रामानन्द बसु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में कवियों का जो पृथुल प्रवाह आया उनमें ज्ञानदास, गोविन्ददास, लोचनदास, बलरामदास और शेखर (कवि शेखर, राय शेखर) का अपनी कविताओं के गुण और परिमाण दोनों के कारण ऊँचा स्थान है। उधर बंगाल का वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय – जो प्रेम को अपनी साधना का साध्य भी मानता था और साधन भी – वैसे तो वैष्णव मत की ही शाखा प्रतीत होता है पर वस्तुतः वह मूल सहजिया सम्प्रदाय का ही उत्तराधिकारी था। उनके अनुसार हर पुरुष के कायिक रूप के पीछे उसका जो मूल स्वरूप होता है वह कृष्णत्व है, इसी तरह हर स्त्री साक्षात् राधा होती है। साधना में पहले कृष्ण अथवा राधा का साक्षात्कार करना होता है और फिर दोनों के सम्मिलन से अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्द की सिद्धि होती है। इन सहजियामतानुयायियों ने प्रचुर गीत-साहित्य और सैद्धान्तिक निबन्धों का प्रणयन किया है। इस प्रकार बांग्ला के वैष्णव काव्य में कृष्णभक्ति का ही प्रमुख्य रहा है। किन्तु रामकाव्य का भी वहाँ अभाव नहीं रहा। कृत्तिदास ओझा की रामायण अकेली ही भारतीय वाङ्मय की अमर विभूति है। असमिया भाषा में रामकाव्य के प्रमुख कवि हैं माधव कंदलि, शंकरदेव, और माधवदेव (14-15वीं शती) जिन्होंने असमिया रामायण की रचना की है। माधव कंदलि की दूसरी रचना देवजित में वैष्णव काव्य की कृष्णभक्ति धारा का स्पष्ट आभास मिलता है। इसमें उन्होंने विष्णु के अवतारों में श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। पन्द्रहवीं शती में शंकरदेव ने भागवत के आधार पर कीर्तन पदावली की रचना की और उनके शिष्य माधवदेव ने इस संग्रह में अपने सहस्रघोषा (टेक) वाले पदों का समावेश कर 'संयुक्त कीर्तन घोषा' का सम्पादन किया जो असमिया वैष्णवों का पवित्र धर्मग्रन्थ बन गया। इनका प्रचलित नाम है बड़गीत, जो असमिया का अपना विशिष्ट काव्यरूप है। यों तो बड़गीतों में विनय, आत्मोपदेश तथा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के समस्त प्रसंग मिलते हैं, परन्तु इनका प्रमुख विषय है बालवर्णन जो काव्य-सौष्ठव में ब्रज भाषा कृष्णकाव्य के बाल वर्णन के समकक्ष है। उड़िया में भी कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और चैतन्य प्रतिपादित माधुर्य भाव का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उड़िया साहित्य के इतिहासकार उसको आज अमिश्र लाभ

मानने को तैयार नहीं हैं। उड़िया कृष्णभक्ति शाखा के प्रमुख कवि हैं – दीन कृष्णदास, अभिमन्यु सामन्त सिंहर, कविसूर्य बलदेव, भक्तचरण और गोपालकृष्ण आदि जिनके रचनाकाल का प्रसार सत्रहवीं से उन्नीसवीं शती तक है। इन कवियों ने विनय के अतिरिक्त कृष्ण जीवन की संयोग-वियोगमयी अनेक लीलाओं को लेकर भावविह्वल कविता रची है। रामकाव्य के अन्तर्गत बलरामदास की उड़िया रामायण का मूर्धन्य स्थान है। उर्दू में भी रामकृष्ण को लेकर भक्तिपरक रचनाएँ हुई हैं – केवल हिन्दू कवियों ने ही नहीं, नजीर अकबराबादी जैसे मुसलमान कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति की नज्में लिखी हैं किन्तु यह कविता उर्दू काव्य की आत्मा से मेल नहीं खाती और वास्तव में गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से नगण्य है। पंजाबी में भी प्रायः यही स्थिति है। वहाँ पहले इस्लाम का और फिर निर्गुण मत से प्रभावित सिख धर्म का व्यापक प्रचार रहा – अतः वैष्णव काव्य के विकास के लिए विशेष अवकाश नहीं मिला। यों तो स्वयं सिख-गुरु गोविन्द सिंह ने राम और कृष्ण का चरित्र गान किया है, परन्तु उसमें वैष्णव प्राण का स्पन्दन नहीं है। उत्तर-पश्चिमी भाषा वर्ग के अन्तर्गत हिन्दी में वैष्णव काव्य का अनन्त भण्डार मिलता है। यहाँ कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायों के अन्तर्गत काव्य रचना हुई। वल्लभसम्प्रदाय का तो ब्रज में बहुत बड़ा गढ़ ही था। निम्बार्क, गौड़ीय, माध्व भक्त-कवियों की वाणी का विस्तार भी कम नहीं है। इनके अतिरिक्त हितहरिवंश का राधावल्लभ सम्प्रदाय और मधुराभक्ति को लेकर चलने वाले कतिपय अन्य सम्प्रदायों का भी योगदान गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अत्यन्त श्लाघ्य है। रामकाव्य का क्षेत्र ब्रज से पूर्व में राम की जन्मभूमि अवध था। हिन्दी का रामकाव्य तुलसी की सार्वभौम प्रतिभा के प्रकाश से आलोकित है। भक्ति, दर्शन और कवित्व तीनों की दृष्टि से तुलसी का काव्य अद्वितीय है। हिन्दी के रामकाव्य में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं – पहली, तुलसी द्वारा प्रभावित मर्यादावादी प्रवृत्ति और दूसरी माधुर्य भाव से प्रेरित शृंगारिक प्रवृत्ति जो राम को रसिक नायक के रूप में ग्रहण करती है और इसका साहित्य भी परिमाण में कम नहीं है। वास्तव में मध्ययुग का भारतीय साहित्य प्रधानतः भक्ति साहित्य ही है। भक्ति के क्षेत्र में वैष्णव भावना का प्रचार अधिक रहा और वैष्णव काव्य में भी माधुर्य संवलित कृष्णकाव्य का।

1.3.3.6. अभिनेय साहित्य

इसी प्रसंग में भारतीय भाषाओं के अभिनेय साहित्य का स्मरण हो आता है। उसकी अन्तर्भूत एकता और भी विचित्र है। कृष्णलीला तथा अन्य पौराणिक उपाख्यानों पर आश्रित लोकनाट्यों की परम्परा मध्ययुग में अत्यन्त लोकप्रिय थी, और प्रायः सभी भाषाओं में किसी न किसी रूप में उसका साहित्य विद्यमान है। तेलुगु और कन्नड़ में यक्षगान, मलयालम में आट्टकथा, मराठी में ललित, बांग्ला तथा अन्य पूर्वी भाषाओं में यात्रा और गुजराती तथा हिन्दी में रास नाम से अभिहित अभिनेय आख्यान प्रायः सभी भाषाओं के नाट्य साहित्य की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। इनकी कथावस्तु का साम्य इतना विचित्र नहीं जितना शैली और रूप का साम्य। प्रगीत तत्त्व का प्राधान्य, कार्य व्यापार की न्यूनता, भक्ति अथवा उसके आभास की प्रेरणा वहाँ प्रायः सर्वत्र समान रूप से दृष्टिगत होती है।

1.3.3.7. आधुनिक साहित्य

आधुनिक साहित्य के विकास की रेखाएँ तो सभी भारतीय साहित्य में और भी अधिक समान रही हैं। लगभग सभी भाषाओं में आधुनिक युग का सूत्रपात सन 1857 के स्वतन्त्रता-संघर्ष के आसपास ही होता है। दक्षिण में अथवा बंगाल में पश्चिमी सभ्यता संस्कृति का प्रभाव मध्यदेश अथवा उत्तरपश्चिम की अपेक्षा कुछ पहले आरम्भ हो गया था, किन्तु वास्तव में आधुनिक युग का उदय पाश्चात्य सम्पर्क से न होकर उसके विरुद्ध संघर्ष के साथ – दूसरे शब्दों में प्रबुद्ध भारतीय चेतना के उदय के साथ होता है। इस दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में आधुनिकता का समारम्भ लगभग समकालिक ही है। विगत शताब्दी में, स्वतन्त्रता से पूर्व सं 1947 तक आधुनिक साहित्य के सामान्यतः चार चरण हैं : (i) पुनर्जागरण, (ii) राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भावना का उत्कर्ष (जागरण-सुधार), (iii) रोमानी सौन्दर्य दृष्टि का उन्मेष और (iv) साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय। कुछ समय के अन्तर से भारत की सभी भाषाओं में उपर्युक्त प्रवृत्तियों का अनुसन्धान किया जा सकता है।

1.3.4. पाठ-सार

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्मकाल प्रायः समान ही है। आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी समान ही हैं। इस समानान्तर विकास क्रम का आधार है भारत के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास क्रम। राजनैतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य अधिक रहा है। भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण, महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य – अर्थात् कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक और जयदेव आदि की अमर कृतियाँ, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन और अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला।

1.3.5. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, रामविलास (1986), भारतीय साहित्य के इतिहास की समस्याएँ, दिल्ली, वाणी प्रकाशन.
2. मिश्र, राजेन्द्र (2006), भारतीय साहित्य की अवधारणा, दिल्ली, तक्षशिला प्रकाशन.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : भारतीय साहित्य की अवधारणा

इकाई – 4 : भारतीयता का समाजशास्त्र

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य कथन
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. भारतीयता का अर्थ
1.4.3. भारतीयता का समाजशास्त्र
    1.4.3.1. जनसंख्या
        1.4.3.1.1. भारतीय जनसांख्यिकीय संरचना
        1.4.3.1.2. भारत में गिरता हुआ स्त्री-पुरुष अनुपात
        1.4.3.1.3. साक्षरता
        1.4.3.1.4. भारतीय जनसंख्या में आयु संरचना
    1.4.3.2. सामाजिक संस्थाएँ
        1.4.3.2.1. जाति एवं जाति व्यवस्था
            1.4.3.2.1.1. अतीत में जाति व्यवस्था
        1.4.3.2.2. जनजातीय समुदाय
            1.4.3.2.2.1. स्थायी विशेषक
            1.4.3.2.2.2. अर्जित विशेषक
    1.4.3.3. परिवार, विवाह और नातेदारी
            1.4.3.3.1. मूल एवं विस्तारित परिवार
            1.4.3.3.2. परिवार के विविध रूप
1.4.4. बाजार का समाजशास्त्र
1.4.5. सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप
    1.4.5.1. सामाजिक विषमता
    1.4.5.2. जाति : एक भेदभावपूर्ण व्यवस्था
    1.4.5.3. अस्पृश्यता
1.4.6. पाठ-सार
1.4.7. बोध प्रश्न

1.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

i. भारतीयता का अर्थ समझ सकेंगे।
ii. भारतीयता की विशेषताएँ जान सकेंगे।

iii. भारत की जनसंख्या की जनसांख्यिकीय संरचना को समझ सकेंगे।
iv. भारतीय समाज के विभिन्न घटकों से परिचित हो सकेंगे।
v. जाति एवं जाति-व्यवस्था का परिचय प्राप्त करेंगे।
vi. जनजातीय समुदाय के स्थायी और अर्जित विशेषकों का अभिप्राय समझ सकेंगे।
vii. सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप को जान सकेंगे।
viii. बाजार किस प्रकार समाज का अंग है ! यह समझ सकेंगे।

1.4.1. प्रस्तावना

भारतीय समाज और इसकी संरचना की समझ आपको एक सामाजिक नक्शा प्रदान करती है जिसमें आप अपने ठौर-ठिकाने, स्थान का पता लगा सकते हैं। भौगोलिक नक्शे की तरह, स्वयं का सामाजिक नक्शे में पता लगाना इस अर्थ में उपयोगी हो सकता है कि इससे आपको यह जानकारी मिलती है कि समाज में दूसरों से सम्बन्ध में आपकी स्थिति क्या है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आप अरुणाचल प्रदेश में रहते हैं। अगर आप भारत के भौगोलिक नक्शे को देखेंगे तो आपको पता चलेगा कि आपका राज्य भारत के उत्तर-पूर्वी कोने में स्थित है। आपको यह भी पता चलेगा कि आपका राज्य अनेक बड़े राज्यों जैसे, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र या राजस्थान की तुलना में छोटा है, परन्तु यह अनेक अन्य राज्यों जैसे, मणिपुर, गोवा, हरियाणा या पंजाब से बड़ा है। यदि आप प्राकृतिक विशेषताओं के नक्शे को देखेंगे तो आपको यह जानकारी मिल सकती है कि भारत के अन्य क्षेत्रों एवं राज्यों की तुलना में अरुणाचल का भूभाग कैसे पर्वतीय, वनों से भरपूर है, यहाँ कौन-कौन से प्राकृतिक संसाधन भरपूर मात्रा मेंपाए जाते हैं एवं इसी तरह की अन्य बातों के बारे में आप जान पाएँगे।

1.4.2. भारतीयता का अर्थ

अज्ञेय के शब्दों में, "भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्ति की छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे संसार से पृथक करता है। भारतीयता मानवीयता का निचोड़ है, उसकी हृदय मणि है, उसका शिर सावतंस है, उसके नाक का बेसर है ...।" भारतीयता के लक्षणों पर विचार करते हुए अज्ञेय कहते हैं कि – "भारतीयता का पहला लक्षण या गुण है सनातन की भावना, काल की भावना, काल के आदिहीन-अन्तहीन प्रवाह की भावना और काल केवल वैज्ञानिक दृष्टि से क्षणों की सरणी नहीं, काल हम से, भारतीय जाति से विशिष्ट और निजी क्षणों की सरणी के रूप में सम्बद्ध है। भारतीयता का दूसरा विशिष्ट गुण है स्वीकार की भावना। किसी हद तक यह पहली विशेषता का परिणाम ही है।"

'भारतीय' शब्द को स्पष्ट करते हुए प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र ने लिखा है – " 'भारतीय' होने का मतलब है भारतभूमि में रहने की जीवन-व्यवस्था में शामिल होना। भारत कहें या 'इंडिया' यह मूलतः एक भौगोलिक स्थान और उसकी परिधि को रेखांकित करता है। इस भूभाग को 'जम्बू द्वीप', 'आर्यावर्त', 'भारतवर्ष' और 'हिन्दुस्तान' के नाम से भी जानते हैं। हिमालय और सागर इसकी सीमाएँ बनाते हैं। 'शस्यश्यामलां' के देशगान और 'जन-

गण-मन' के राष्ट्रीयगान में जीवन्त भारतमाता को जिस रूप में स्मरण किया गया है वह भौगोलिक अवधारणा ही नहीं उसकी सीमा में रहने वाले बाशिंदों की सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता पर बल देती है जिसका एक भावात्मक रूप भी है। भारत एक सामाजिक श्रेणी भी है जो समाज द्वारा रचित और स्वीकृत है। यह उस सामाजिक आकांक्षा का प्रतीक भी है जो एक आदर्श स्थिति की दिशा में जाने के लिए प्रेरित करती है। आधुनिक युग में एक स्वतन्त्र जनतन्त्र के रूप में एक राज्य की स्थापना हुई और सहमति से एक संविधान बना और सामाजिक आकांक्षा को एक मूर्त रूप मिला। हमने उसमें आवश्याकतानुसार बदलाव भी किया है। इस इकाई के सदस्य के रूप में हमारी एक भारतीय पहचान है।"

आज हर भारतीय की एक बहुआयामी पहचान बनती है। वह हिन्दू, बंगाली, मुस्लिम, गुजराती, कश्मीरी, बिहारी, ब्राह्मण, ओ.बी.सी., जैन, ईसाई आदि वाली एक साथ कई तरह की पहचान रखता है। ये भिन्न-भिन्न पहचानें अक्सर एक दूसरे की विरोधी न होकर पूरक होती हैं। सांस्कृतिक रूप से वे गहरी पैठी हैं और उनके साथ लोगों का गहरा सार्वजनिक लगाव भी है। वस्तुतः हर भारतीय की पहचान (आइडेंटिटी) की अलग व्यवस्था है। कोई एक यूनीफॉर्म पैमाना नहीं है जो यह तय करे कि कई पहचानों में से कौन सबसे ऊपर 'नंबर वन' पर है। यह एक बड़ा तरल या 'फ्लुइड' मामला है। आज पूजा-पाठ, संगीत और स्वास्थ्य लाभ के अनेक केन्द्र भारत भर में फैले हुए हैं जहाँ आने-जाने से हिन्दू, ईसाई, सिख और मुसलमान किसी को भी परहेज नहीं होता। कई पहचान के साथ रहना अस्पष्टता तो पैदा करता है, पर शायद दूसरों के लिए। वस्तुतः हर भारतीय कई (उप) संस्कृतियों में जीता है और ये सब मिलकर उसकी पहचान बनाती हैं। इस अर्थ में हर भारतीय शायद बहुसांस्कृतिक है और उसकी पहचान बहुआयामी।

देश की छवि देशवासियों के आत्मगौरव का माध्यम होती है। आज के भारत का अंग होना, उसे 'बिलोंग' करना हमको आर्थिक प्रगति की ओर अग्रसर एक देश, एक आर्थिक 'पावर' के साथ जुड़ने का एहसास देता है। दूसरी ओर भ्रष्टाचार, अशिक्षा, अव्यवस्था, सामाजिक कुरीतियों और भेदभाव के कारण मन में थकान, उदासीनता और असहायता की भावना भी आती है। इस सबके बावजूद एक भारतीय का बोध ज़रूर है जो पंजाबी, मराठी या गुजराती होने, अलग जाति, वर्ग और समुदाय का सदस्य होने पर भी सबको भारतीय बनाता है। कभी-कभी 'विविधता में एकता' वाले नेहरूजी का भारत अपरिभाषेय या अव्याख्येय लगता है। भारत को एक विस्तृत सांस्कृतिक इकाई के रूप में देखने पर कुछ विचार उभरते हैं जो भारतीय होने के अर्थ को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होते हैं। इनमें प्रमुख हैं धर्म, कर्म, पुनर्जन्म को किसी न किसी रूप में स्वीकारना, सामाजिक इकाई – परिवार, जाति, समुदाय के स्तर पर अपने अस्तित्व को महसूस करना, सेक्स, विवाह और अन्य व्यक्तियों के प्रति खास दृष्टिकोण अपनाना, बहुलता का स्वीकार और खुले, कुछ-कुछ असंगठित किस्म की आत्म या सेल्फ की अवधारणा का स्वीकार और किसी न किसी रूप में किसी बड़ी ज्ञात-अज्ञात सत्ता से जुड़ाव की अभिलाषा और परिवेश, प्रकृति और सृष्टि के साथ साझेदारी तथा परस्पर अनुपूरकता का भाव।

भारतीय गौरव को समझने के लिए फिल्म 'नमस्ते लंदन' का यह संवाद महत्त्वपूर्ण है – "नमस्ते सर ! मेरा नाम है अर्जुन सिंह, पाँच हजार पुरानी सभ्यता की वजह से हम हिन्दुस्तानी सबको ऐसे ही झुक कर प्रणाम करते

हैं। ऐसी सभ्यता जिसमे प्रधानमंत्री की कुर्सी एक कैथोलिक औरत एक सिख के लिए छोड़ देती है और एक सिख प्रधानमंत्री पद की शपथ एक मुस्लिम राष्ट्रपति से लेता है, उस देश की बागडोर सँभालने के लिए जिसमें अस्सी प्रतिशत लोग हिन्दू हैं। आपकी मातृभाषा अंग्रेजी पूरे विश्व में हमारेही देश में बोली जाती है। आपको यह भी नहीं पता होगा कि अंग्रेजी के ज्यादातर शब्द संस्कृत से लिए गए हैं। संस्कृत का शब्द मातृ अंग्रेजी में मदर बना, भ्रातृ बना ब्रदर, ज्यामिति बनी जिओमैट्री और त्रिकोणमिति बनी ट्रिग्नोमैट्री। आपको शायद यह बात दिलचस्प लगे कि हमारे यहाँ इक्कीस भाषाओं में पाँच हजार छह सौ अख़बार और तीन हजार पाँच सौ मैग्ज़ीन छपती हैं जिन्हें पढ़ने वालों की संख्या बारह करोड़ है। आपके देश के मुकाबले कई गुना ज्यादा है। चाँद तक पहुँच गए हम लेकिन अब भी हम हिन्दुस्तानियों के हाथ में साँप की बीन ही नज़र आती है। डॉक्टर्स, इंजिनियर्स और साइंटिस्ट्स की गिनती में जनाब हम सिर्फ दो मुल्कों से पीछे हैं। ये थी दिमाग की बात। अब करते हैं ताक़त की बात, दुनिया में तीसरी सबसे बड़ी फ़ौज हमारे यहाँ है आपके यहाँ नहीं, फिर भी मैं आपके सामने झुक कर आपको प्रणाम करता हूँ क्योंकि हम किसी को अपने आप से छोटा या कमजोर नहीं समझते। नमस्ते !"

वस्तुतः भारतीयता का अर्थ उन मूल्यों, शक्तियों और गुणों से है जो कश्मीर से कन्याकुमारी तक और पूर्वोत्तर भारत से पश्चिम भारत के अन्तिम सिरे तक शील, शक्ति, सौन्दर्य, त्याग, तपस्या और सेवा के माध्यम से मानव को श्रेष्ठ से श्रेष्ठ धरातल तक ले जाते हैं। यह भावना उस समय एक-एक भारतवासी के दिल में हिलोरें लेती हुई सामने आती है जब भारत के मुकाबला चाहे खेल के क्षेत्र में हो या युद्ध के क्षेत्र में, चाहे ज्ञान के क्षेत्र में हो या विज्ञान के क्षेत्र में। भारतीयता विश्वकल्याण की भावना है जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के माध्यम से जाहिर होती है। यह विश्व-शान्ति और विश्व-मैत्री की भावना ही है जिसका सूत्रपात पण्डित जवाहरलाल नेहरु ने किया था और अब दुनिया भर में इसका डंका भारत के वर्तमान प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदीजी बजा रहे हैं। यह भारतीयता की भावना ही वह सूत्र है जो भारत में भिन्न-भिन्न धर्मों, भिन्न-भिन्न जातियों, भिन्न-भिन्न भाषाओं, भिन्न-भिन्न भौगोलिक स्थितियों के बीच एकता कायम करती है।

1.4.3. भारतीयता का समाजशास्त्र

भारतीयता के समाजशास्त्र को समझने के लिए इसके मुख्य घटकों को समझना होगा। ये प्रमुख घटक इस प्रकार हैं –

1.4.3.1. जनसंख्या

1.4.3.1.1. भारतीय जनसांख्यिकीय संरचना

भारत विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार इसकी कुल जनसंख्या 121.09 करोड़ (लगभग 1 अरब 21 करोड़) है। भारत के महापंजीयक की ओर से जारी आँकड़ों के मुताबिक देश में हिन्दुओं की आबादी 79.8%, मुस्लिमों की 14.2%, ईसाईयों की 2.3%, सिखों की 1.7%, बौद्धों की 0.7%, जैनों की 0.4% है। इसके अनुसार 121.09 करोड़ की आबादी में हिन्दुओं की संख्या 96.63

करोड़, मुस्लिमों की संख्या 17.22 करोड़, ईसाईयों की 2.78 करोड़, सिखों की 2.08 करोड़, बौद्धों की 0.84, और जैनों की 0.45 करोड़ है। अनुमानित तौर पर कुछ दशकों में भारत चीन को पीछे छोड़कर विश्व का सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश बन जाएगा। यहाँ सवाल यह है कि जनसंख्या के कौन से पक्ष सामाजिक तौर पर महत्त्वपूर्ण हैं एवं भारतीय परिदृश्य में इन मोर्चों पर क्या हो रहा है !

1.4.3.1.2. भारत में गिरता हुआ स्त्री-पुरुष अनुपात

स्त्री-पुरुष अनुपात जनसंख्या में लैंगिक या लिंग अनुपात का एक महत्त्वपूर्ण सूचक है। भारत में स्त्री-पुरुष अनुपात पिछली एक शताब्दी से कुछ अधिक समय से गिरता जा रहा है। 20वीं शताब्दी की शुरुआत में भारत में प्रति 1,000 पुरुषों के साथ स्त्रियों की संख्या 972 थी, लेकिन 21वीं शताब्दी की शुरुआत में स्त्री-पुरुष अनुपात घटकर 933 हो गया है। लेकिन जनसांख्यिकीविदों, नीति निर्माताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और इस विषय से जुड़े नागरिकों को वास्तव में जिस तथ्य ने डरा दिया है वह है बच्चों के लैंगिक यानी कि बालक-बालिका अनुपात में आयी भारी गिरावट। वस्तुतः 1991 से 2001 तक के दशक के आँकड़ों में यह असमानता दिखाई देती है कि 0-6 आयु वर्ग स्त्री-पुरुष अनुपात (जिसे बाल स्त्री-पुरुष अनुपात) कहा जाता है, 18 अंकों का गोता लगाकर 945 से घटकर 927 के स्तर पर आ गया है। सन् 2011 के अनुमानित आँकड़ों के अनुसार स्थिति और ख़राब हो गई और बाल स्त्री-पुरुष अनुपात मात्र 914 रह गया है।

जनसांख्यिकीविदों और समाजशास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष अनुपात में कमी के अनेक कारण बताए हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी मुख्य कारण यह है कि स्त्रियों का गर्भ धारण करना और फिर बच्चा पैदा करना। इसलिए यह प्रश्न उठाना प्रासंगिक है कि क्या स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट का एक कारण यह हो सकता है कि केवल स्त्रियों को ही बच्चा पैदा करने में मौत की जोखिम उठानी पड़ती है ? किन्तु यह माना जा सकता है कि विकास के साथ मातृ-मृत्यु दर में गिरावट आती है क्योंकि विकास की बदौलत पोषण, सामान्य शिक्षा और जागरूकता का स्तर बढ़ जाता है और चिकित्सा और संचार की सुविधाओं में भी सुधार होता है। इसलिए यह मुश्किल लगता है कि मातृ-मृत्यु दर के कारण स्त्री-पुरुष अनुपात की हालत बिगड़ी है।

एक अन्य तथ्य यह भी है कि बाल स्त्री-पुरुष अनुपात में अधिक तेजी से गिरावट आई है। समाजविज्ञानियों का विश्वास है कि इस गिरावट के कारण को बालिका शिशुओं यानी बच्चियों के प्रति भेदभावपूर्ण रवैये में खोजना होगा।

बाल स्त्री-पुरुष अनुपात में गिरावट के अनेक कारण हैं जैसे – शैशवकाल में बच्चियों की देखभाल की घोर उपेक्षा, जिससे उनकी मृत्यु दर उच्च हो जाती है। लिंग विशेष के गर्भपात जिससे बच्चियों को पैदा ही नहीं होने दिया जाता। बालिका शिशुओं की हत्या (धार्मिक-सांस्कृतिक अन्धविश्वासों के कारण शैशवावस्था में ही बच्चियों की हत्या)। इनमें से प्रत्येक कारण एक गम्भीर सामाजिक समस्या की ओर इशारा करता है। इस बात के कुछ प्रमाण भी मिलते हैं कि ये सब कारण भारत में मिलते रहे हैं। अनेक क्षेत्रों में बालिका हत्या की प्रथाएँ अब

भी प्रचलित हैं। सोनोग्राम जिसे मूल रूप से भ्रूण के जननिक या अन्य विकारों का पता लगाने के लिए विकसित किया गया था अब सम्भवतः भ्रूण का पता लगाने और चयनात्मक आधार पर बालिका भ्रूण को गर्भ में ही नष्ट कर दिए जाने में प्रयोग किया जाने लगा है।

1.4.3.1.3. साक्षरता

जनसंख्या जितनी अधिक साक्षर होगी आजीविका के विकल्पों के बारे में उसमें उतनी ही अधिक जागरूकता उत्पन्न होगी और लोग ज्ञान आधारित अर्थव्यवस्था में उतना ही अधिक भाग ले सकेंगे। इसके अलावा साक्षरता से स्वास्थ्य के प्रति भी जागरूकता आती है और समुदाय के सदस्यों की सांस्कृतिक और आर्थिक कल्याण कार्यों में सहभागिता बढ़ती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में साक्षरता के स्तर में काफी सुधार आया है एवं हमारी जनसंख्या का दो-तिहाई भाग अब साक्षर है। फिर भी साक्षरता दर को भारत की जनसंख्या वृद्धि की दर के साथ मुकाबला करने के लिए संघर्ष करना पड़ता है क्योंकि हमारी जनसंख्या वृद्धि दर अब भी काफी उच्च है। साक्षरता में पाई जाने वाली असमानताएँ इस लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनकी वजह से पीड़ियों के बीच भी असमानताएँ उत्पन्न होती हैं। निरक्षर माता-पिता यह सुनिश्चित करने की सुविधा से और ज्यादा वंचित हैं कि क्या उनके बच्चे अच्छी तरह से सुशिक्षित हैं।

1.4.3.1.4. भारतीय जनसंख्या में आयु संरचना

जनसंख्या की आयु संरचना से तात्पर्य है कि कुल जनसंख्या के विभिन्न आयु वर्गों में व्यक्तियों का अनुपात क्या है। यह आयु संरचना विकास के स्तरों और औसत आयु सम्भाविता के स्तरों में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार बदलती रहती है। भारत की जनसंख्या में अधिकांश भारतीय युवावस्था में हैं। भारत की जनसंख्या बहुत जवान है यानी अधिकांश भारतीय युवावस्था में हैं और यहाँ की आयु का औसत भी अधिकांश अन्य देशों की तुलना में कम है। देश की सम्पूर्ण जनसंख्या में 15 वर्ष से कम आयु वाले वर्ग का हिस्सा जो 1971 में 42% के सर्वोच्च स्तर पर था घटकर 2001 में 35% के स्तर पर आ गया है। 15-60 के आयु वर्ग का हिस्सा 53% से कुछ बढ़कर 59% हो गया है जबकि 60 वर्ष से ऊपर की आयु वाले वर्ग का हिस्सा बहुत छोटा है लेकिन वह उसी अवधि के दौरान (5% से 7%तक) बढ़ना शुरू हो गया है। लेकिन अगले दो दशकों में भारतीय जनसंख्या की आयु संरचना में काफ़ी परिवर्तन आने की उम्मीद है और यह परिवर्तन अधिकांशतः आयु क्रम के दोनों सिरों पर आएगा। 0-14 आयु वर्ग का हिस्सा लगभग 11%घट जाएगा (यह 2001 में 34% था जो 2026 में घटकर 23% हो जाएगा) जबकि 60 वर्ष से अधिक के आयु वर्ग में लगभग 5% की वृद्धि होगी (यह 2001 के 7% से बढ़कर 2026 में 12% हो जाएगा)।

1.4.3.2. सामाजिक संस्थाएँ

भारतीय समाज में मुख्य रूप से निम्नलिखित सामाजिक संस्थाएँ उपलब्ध हैं –

1.4.3.2.1. जाति एवं जाति व्यवस्था

जाति भारतीय समाज से जुड़ी अनूठी संस्था है। हालाँकि विश्व के अन्य भागों में भी समान प्रभाव उत्पन्न करने वाली सामाजिक व्यवस्थाएँ पाई जाती हैं, परन्तु जाति व्यवस्था अपने आप में अपवाद ही है। हालाँकि, यह हिन्दू समाज की संस्थात्मक विशेषता है पर इसका प्रचलन भारतीय उपमहाद्वीप के अन्य धार्मिक समुदायों में भी फैला हुआ है, खासकर मुसलमानों, ईसाइयों और सिखों में जाति भारतीय उपमहाद्वीप से जुड़ी अनूठी संस्था है। हालाँकि विश्व के अन्य भागों में भी समान प्रभाव उत्पन्न करने वाली सामाजिक व्यवस्थाएँ पाई जाती हैं, परन्तु जाति व्यवस्था अपने आप में अपवाद ही है।

1.4.3.2.1.1. अतीत में जाति व्यवस्था

माना जाता है कि अंग्रेज़ी के शब्द कास्ट (Cast) की उत्पत्ति पुर्तगाली मूल के शब्द कास्टा (Casta) से हुई है। पुर्तगाली कास्टा का अर्थ है विशु (नस्ल)। अंग्रेजी शब्द कास्ट का अर्थ एक विस्तृत संस्थागत व्यवस्था से है जिसे भारतीय भाषाओं में (प्राचीन संस्कृत भाषा से प्रारम्भ करते हुए) दो विभिन्न शब्दों – वर्ण और जाति – के अर्थ में उपयोग किया जाता है। वर्ण, जिसका शाब्दिक तात्पर्य है 'रंग', समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार श्रेणियों के विभाजन को वर्ण कहा जाता है। हालाँकि इस विभाजन में जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग शामिल नहीं है जो कि 'जाति बहिष्कृत विदेशियों, दासों, युद्धों में पराजित लोगों एवं अन्य लोगों से मिलकर बना है। इन्हें कभी-कभी 'पंचम' या पाँचवीं श्रेणी भी कहा जाता है। जाति एक व्यापक शब्द है जो किसी भी चीज के प्रकार या वंश-किस्म (स्पीशीज) को सम्बोधित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इसमें अचेतन वस्तुओं से लेकर पेड़-पौधों, जीव-जन्तु और मनुष्य भी शामिल होते हैं। भारतीय भाषाओं में 'जाति' शब्द का प्रयोग सामान्यतः जाति संस्था के सन्दर्भ में ही किया जाता है। हालाँकि यह दिलचस्प है कि भारतीय भाषा बोलने वाले लोग, अंग्रेज़ी शब्द 'कास्ट' का प्रयोग भी करने लगे हैं।

'वर्ण' और 'जाति' के आपसी सम्बन्ध की सटीक व्याख्या क्या हो ! यह प्रश्न विद्वानों के बीच बहस का विषय रहा है। सबसे सामान्य व्याख्या यह है कि 'वर्ण' को एक अखिल भारतीय सामूहिक वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है, वहीं 'जाति' को क्षेत्रीय या स्थानीय उप-वर्गीकरण के रूप में समझा जा सकता है जिसमें सैकड़ों या यहाँ तक कि हजारों जातियों एवं उफ्जातियों से बनी अत्यधिक जटिल व्यवस्था शामिल होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ चारव र्णों का वर्गीकरण पूरे भारत में समान है, वहीं जाति अधिक्रम के वर्गीकरण क्षेत्रीय हैं जो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलते रहते हैं।

इस बात पर भी मतभेद है कि जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का सुनिश्चितकाल क्या है ! सामान्यतः यह माना जाता है कि चार वर्णों का वर्गीकरण लगभग तीन हजार साल पुराना है। हालाँकि, विभिन्न समय कालों में 'जाति व्यवस्था' के विभिन्न स्वरूप रहे हैं इसलिए यह मान लेना कि एक समान व्यवस्था तीन हजार वर्षों से चली आ रही है अपने आप को भ्रमित करना होगा। अपने प्रारम्भिक काल, वैदिक काल, 900-500 ई. पू. के बीच में

जाति व्यवस्था वास्तव में वर्णव्यवस्था ही थी और इसके केवल चार विभाजन थे। यह विभाजन बहुत विस्तृत या बहुत कठोर नहीं थे और यह जन्म से निर्धारित नहीं होते थे। इन वर्गों के बीच स्थान परिवर्तन सम्भव ही नहीं बल्कि सामान्य भी था। अतः उत्तर-वैदिक काल में ही जाति एक कठोर संस्था बनी जिससे हम जाति की प्रसिद्ध परिभाषाओं द्वारा परिचित हैं।

जाति की सामान्य निर्धारित विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(i) जाति, जन्म से निर्धारित होती है। एक बच्चा अपने माता-पिता की जाति में ही 'जन्म' लेता है। जाति कभी चुनाव का विषय नहीं होती। हम अपनी जाति को कभी भी बदल नहीं सकते, छोड़ नहीं सकते या हम इस बात का चुनाव नहीं कर सकते कि हमें जाति में शामिल होना है या नहीं। हालाँकि, ऐसे उदाहरण हैं जहाँ एक व्यक्ति को उसकी जाति से निकाला भी जा सकता है।

(ii) जाति की सदस्यता के साथ विवाह सम्बन्धी कठोर नियम शामिल होते हैं। जाति समूह 'सजातीय' होते हैं अर्थात् विवाह भी समूह के सदस्यों में ही हो सकते हैं।

(iii) जाति सदस्यता में खाने और खाना बाँटने के बारे में नियम भी शामिल होते हैं। किस प्रकार का खाना खा सकते हैं और किस प्रकार का नहीं, यह निर्धारित है और किसके साथ खाना बाँटकर खाया जा सकता है यह भी निर्धारित होता है।

(iv) जाति में श्रेणी एवं प्रस्थिति के एक अधिक्रम में संयोजित अनेक जातियों की एक व्यवस्था शामिल होती है। सैद्धान्तिक तौर पर, हर व्यक्ति की एक जाति होती है और हर जाति का सभी जातियों के अधिक्रम में एक निर्धारित स्थान होता है। जहाँ अनेक जातियों की अधिक्रमित स्थिति, विशेषकर मध्यक्रम की श्रेणियों में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदल सकती है पर अधिक्रम हमेशा पाया जाता है।

(v) जातियों में आपसी उप-विभाजन भी होता है अर्थात् जातियों में हमेशा उप-जातियाँ होती हैं और कभी-कभी उप-जातियों में भी उप-उप-जातियाँ होती हैं। इसे खण्डात्मक संगठन (segemental organisation) कहते हैं।

(vi) पारम्परिक तौर पर जातियाँ व्यवसाय से जुड़ी होती थीं। एक जाति में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस जाति से जुड़े व्यवसाय को ही अपना सकता था, अतः वह व्यवसाय वंशानुगत थे अर्थात् यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते थे। दूसरी ओर, एक विशेष व्यवसाय को किसी जाति से जुड़े होने की वजह से उसी जाति के लोग अपना सकते थे, किसी दूसरी जातियों के सदस्य वह काम नहीं कर सकते थे।

ये विशिष्टताएँ वस्तुतः निर्धारित नियम हैं जो प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में पाए जाते हैं। चूँकि यह निर्धारित नियम हमेशा व्यवहार में नहीं थे, हम यह नहीं कह सकते कि यह नियम किस सीमा तक जाति की आनुभविक वास्तविकता अर्थात् उस समय के लोगों के लिए इसका निश्चित अर्थ निर्धारित करते थे। जैसा कि आपके सामने प्रकट है कि अधिकांश निर्धारित नियमों में प्रतिबन्ध शामिल थे। ऐतिहासिक सूत्रों से यह भी साफ तौर पर साबित होता है कि जाति एक बहुत असमान संस्था थी। जहाँ कुछ जातियों को तो इस व्यवस्था से बहुत लाभ रहा, वहीं

अन्य जातियों को इसकी वजह से अधीनता एवं कभी भी न समाप्त होने वाले श्रम का जीवन जीने का दण्ड भुगतना पड़ा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब जाति जन्म द्वारा कठोरता से निर्धारित हो गई उसके बाद किसी व्यक्ति के लिए सैद्धान्तिक तौर पर कभी भी उसकी जीवन स्थिति बदलना असम्भव था। चाहे उच्च जाति के लोग उच्च स्तर के लायक हों या न हों, उनका स्तर हमेशा उच्च ही रहता था जबकि निम्न जाति के लोगों का स्तर हमेशा निम्न रहता था। सैद्धान्तिक तौर पर, जाति व्यवस्था को सिद्धान्तों के दो समुच्चयों के मिश्रण के रूप में समझा जा सकता है, एक भिन्नता और अलगाव पर आधारित है और दूसरा सम्पूर्णता और अधिक्रम पर। हर जाति से यह अपेक्षित है कि वह दूसरी जाति से भिन्न हो और इसलिए वह प्रत्येक अन्य जाति से कठोरता से पृथक होती है। अतः जाति के अधिकांश धर्मग्रन्थसम्मत नियमों की रूपरेखा जातियों को मिश्रित होने से बचाने के अनुसार बनाई गई है। इन नियमों में शादी, खान-पान एवं सामाजिक अन्तःक्रिया से लेकर व्यवसाय तक के नियम शामिल हैं। वहीं दूसरी ओर इन विभिन्न एवं पृथक् जातियों का कोई व्यक्तिगत अस्तित्व नहीं है, वे एक बड़ी सम्पूर्णता से सम्बन्धित होकर ही अपना अस्तित्व बनाए रख सकती हैं। समाज की सम्पूर्णता में सभी जातियाँ शामिल होती हैं। इससे भी आगे, यह सामाजिक सम्पूर्णता या व्यवस्था समानतावादी व्यवस्था होने की बजाय अधिक्रमित व्यवस्था है। प्रत्येक जाति का समाज में एक विशिष्ट स्थान होने के साथ-साथ एक क्रम श्रेणी भी होती है। एक सीढ़ीनुमा व्यवस्था, जो ऊपर से नीचे जाती है, में प्रत्येक जाति का एक विशिष्ट स्थान होता है।

धार्मिक या कर्मकाण्डीय दृष्टि से जाति की अधिक्रमित व्यवस्था शुद्धता, शुचिता और अशुचिता (अशुद्धता) के बीच के अन्तर पर आधारित होती है। यह विभाजन जिसे हम पवित्रता के करीब मानने में विश्वास रखते हैं; अतः कर्मकाण्ड की शुद्धता के लक्ष्यार्थ, उसके और जिसे हम पवित्रता से परे मानते हैं या उसके विपरीत मानते हैं अतः वह कर्मकाण्ड के लिए प्रदूषित होता है, के बीच हैं। वह जातियाँ जिन्हें कर्मकाण्ड की दृष्टि से शुद्ध माना जाता है उनका स्थान उच्च होता है और जिनको कम शुद्ध या अशुद्ध माना जाता है उन्हें निम्न स्थान दिया जाता है। जैसा कि हर समाज में होता है, सामाजिक स्तर से भौतिक शक्ति अर्थात् आर्थिक या सैन्य शक्ति नजदीक से जुड़ी होती है, अतः जिनके पास शक्ति होती है उनकी स्थिति उच्च होती है और जिनके पास शक्ति नहीं होती उनकी स्थिति निम्न होती है। इतिहासकारों का मानना है कि जो लोग युद्धों में पराजित हुए थे उन्हें अक्सर निम्न जाति की स्थिति मिली। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि जातियाँ एक दूसरे से केवल कर्मकाण्ड की दृष्टि से ही असमान नहीं हैं उनसे यह भी अपेक्षित है कि वे एक दूसरे की सहयोगी होंगी एवं उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा नहीं होगी। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक जाति का व्यवस्था में अपना स्थान तय है और वो स्थान किसी भी अन्य जाति को नहीं दिया जा सकता। चूँकि, जाति व्यवसाय से भी जुड़ी हुई है, अतः व्यवस्था श्रम के सामाजिक विभाजन के अनुरूप कार्य करती है, परन्तु सैद्धान्तिक तौर पर यह किसी भी प्रकार की परिवर्तनशीलता की अनुमति नहीं देती है।

यह अचम्भे की बात नहीं है कि अतीत के बारे में हमारे ज्ञान के स्रोत, मुख्यतः प्राचीन काल के बारे में, अपर्याप्त हैं। यह तय कर पाना मुश्किल है कि उस समय का परिदृश्य कैसा था या किन कारणों से कुछ संस्थाओं या व्यवहारों की स्थापना हुई थी। परन्तु, अगर हमें इस बारे में पूरी जानकारी होती तो भी उससे हमें यह नहीं पता

चल सकता कि आज हमें क्या करना चाहिए। केवल इसलिए कि अतीत में कुछ हुआ था और वह हमारी परम्परा का हिस्सा है, यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा के लिए सही या गलत है। प्रत्येक काल में इन प्रश्नों के बारे में नए सिरे से सोचना होगा और अपनी सामाजिक संस्थाओं के बारे में स्वयं के सामूहिक निर्णय को बनाना होगा।

1.4.3.2.2. जनजातीय समुदाय

भारत में जनजातियों को उनके 'स्थायी' तथा 'अर्जित' विशेषकों के अनुसार विभाजित किया गया है।

1.4.3.2.2.1. स्थायी विशेषक

स्थायी विशेषकों या लक्षणों में क्षेत्र, भाषा, शारीरिक विशिष्टताएँ और पारिस्थितिक आवास शामिल हैं। भारत की जनजातीय जनसंख्या व्यापक रूप से बिखरी हुई है लेकिन कुछ क्षेत्रों में उनकी आबादी काफी घनी है। जनजातीय जनसंख्या का लगभग 85% भाग 'मध्य भारत' में रहता है जो पश्चिम में गुजरात तथा राजस्थान से लेकर पूर्व में पश्चिम बंगाल और उड़ीसा तक फैला हुआ है और जिसके हृदय-स्थल (मध्य भाग) में मध्यप्रदेश, झारखण्ड, छत्तीसगढ़ और महाराष्ट्र तथा आन्ध्रप्रदेश के कुछ भाग स्थित हैं। जनजातीय जनसंख्या के शेष 15% में से 11% से अधिक पूर्वोत्तर राज्यों में और बाकी के 3% से थोड़े-से अधिक शेष भारत में रहते हैं। यदि हम राज्य की जनसंख्या में जनजातियों के हिस्से पर दृष्टिपात करें तो पाएँगे कि पूर्वोत्तर राज्यों में इनकी आबादी सबसे घनी है वहाँ असम को छोड़कर सभी राज्यों में उनका घनत्व 30% से अधिक है और अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम और नागालैंड जैसे कुछ राज्यों में तो जनजातीय आबादी 60% से अधिक और 95% तक है। किन्तु, देश के शेष भागों में जनजातीय जनसंख्या बहुत छोटी है यानी उड़ीसा और मध्यप्रदेश को छोड़कर शेष सभी राज्यों में 12% से कम है। इनके पारिस्थितिक आवासों में पहाड़ियाँ, वन, ग्रामीण मैदान और नगरीय औद्योगिक इलाके शामिल हैं।

भाषा की दृष्टि से, जनजातियों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। इनमें से दो श्रेणियों अर्थात् भारतीय-आर्य और द्रविड़ परिवार की भाषाएँ शेष भारतीय जनसंख्या द्वारा भी बोली जाती हैं और जनजातियों में से लगभग 1% लोग ही भारतीय आर्य परिवार की भाषाएँ और लगभग 3% लोग द्रविड़ परिवार की भाषाएँ बोलते हैं। दो अन्य भाषासमूह, आस्ट्रिक और तिब्बती-बर्मी, प्राथमिक रूप से जनजातीय लोगों द्वारा बोले जाते हैं जिनमें से आस्ट्रिक परिवार की भाषाएँ पूर्ण रूप से जनजातीय लोगों द्वारा और तिब्बती-बर्मी परिवार की भाषाएँ 80% से अधिक जनजातियों द्वारा बोली जाती हैं। शारीरिक-प्रजातीय दृष्टि से, जनजातियों कानीग्रिटो, आस्ट्रैलाइड, मंगोलाइड, द्रविड़ और आर्य श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है। भारत की जनसंख्या का शेष भाग भी द्रविड़ और आर्य श्रेणियों के अन्तर्गत आता है।

जनसंख्या के आकार की दृष्टि से, जनजातियों में बहुत अधिक अन्तर पाया जाता है, सबसे बड़ी जनजातिकी जनसंख्या लगभग 70 लाख है जबकि सबसे छोटी जनजाति यानी अंडमान द्वीपवासियों की जनसंख्या 100 व्यक्तियों से भी कम है। सबसे बड़ी जनजातियाँ गोंड, भील, संथाल, ओराँव, मीना, बोडो और

मुंडा हैं, इनमें से सभी की जनसंख्या कम-से-कम दस लाख है। जनजातियों की कुल जनसंख्या 2001 की जनगणना के अनुसार भारत की समस्त जनसंख्या का लगभग 8.2% या लगभग 8.4 करोड़ व्यक्ति है।

1.4.3.2.2.2. अर्जित विशेषक

अर्जित विशेषकों पर आधारित वर्गीकरण दो मुख्य कसौटियों आजीविका के साधन और हिन्दू समाज में उनके समावेश की सीमा अथवा दोनों के सम्मिश्रण पर आधारित है। आजीविका के आधार पर, जनजातियों को मछुआ, खाद्य संग्राहक और आखेटक, शिकारी, झूम, खेती करने वाले कृषक और बागान तथा औद्योगिक कामगारों की श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। लेकिन अकादमिक, समाजशास्त्र, राजनीति तथा सार्वजनिक मामलों में अपनाए जाने वाले सबसे प्रभावी वर्गीकरण इस बात पर आधारित हैं कि हिन्दू समाज में अमुक जनजाति को कहाँ तक आत्मसात् किया गया है। इस आत्मसात्करण को जनजातियों के दृष्टिकोण से अथवा; जैसा कि अक्सर होता है प्रबल हिन्दू मुख्यधारा के दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। जनजातियों के दृष्टिकोण से, आत्मसात्करण की सीमा के अलावा, हिन्दू समाज के प्रति अभिवृत्ति या रुख भी एक बड़ी कसौटी है क्योंकि जनजातियों की अभिवृत्तियों के बीच काफ़ी अन्तर होता है। कुछ जनजातियों का हिन्दुत्व की ओर सकारात्मक झुकाव होता है जबकि कुछ जनजातियाँ उसका प्रतिरोध या विरोध करती हैं। मुख्यधारा के दृष्टिकोण से, जनजातियों को हिन्दू समाज में मिली प्रस्थिति की दृष्टि से भी देखा जा सकता है जिसमें कुछ को तो ऊँचा स्थान दिया जाता है पर अधिकांश को आमतौर पर नीचा स्थान ही मिलता है।

संक्षेप में, जनजाति और जाति के बीच के अन्तर को दर्शाने वाला तर्क पवित्रता और अपवित्रता और अधिक्रमिक एकीकरण में विश्वास रखने वाली हिन्दू जातियों और अपेक्षाकृत अधिक समतावादी और नातेदारी आधारित सामाजिक संगठन की रीतियों वाली जीववादी (animist) जनजातियों के बीच माने गए सांस्कृतिक अन्तर पर आधारित था।

1.4.3.3. परिवार, विवाह और नातेदारी

हममें से हर कोई एक परिवार में उत्पन्न हुआ है और हममें से अधिकांश लोग परिवार में अनेक वर्ष बिताते हैं। आमतौर पर हम अपने परिवार से गहरा लगाव महसूस करते हैं। कभी-कभी हम अपने माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी, सहोदर भाई-बहनों, चाचा-चाचियों, मामा-मामियों तथा चचेरे-ममेरे भाइयों-बहनों के बारे में बहुत अच्छा महसूस करते हैं, जबकि दूसरों के बारे में हम ऐसा महसूस नहीं करते। एक ओर तो हम उनके हस्तक्षेप के लिए अप्रसन्नता या रोष प्रकट करते हैं, फिर भी जब हम उनसे दूर रहते हैं तो उनके रोबदाबपूर्ण तरीकों के लिए तरसते हैं और उन्हें याद करते हैं। परिवार गहरे स्नेह एवं देखभाल का स्थान है। दूसरी ओर, यह कटु संघर्षों, अन्याय और हिंसा का स्थान भी हो सकता है। परिवार और नातेदारी में मादा शिशु की हत्या, सम्पत्ति के लिए भाइयों के बीच हिंसापूर्ण लड़ाई-झगड़े और घिनौने कानूनी विवाद भी इसका वैसे ही एक हिस्सा होते हैं जैसे प्यार, त्याग एवं बलिदान, पारस्परिक सुरक्षा एवं देखभाल कीकहानियाँ हैं।

परिवार की संरचना का अध्ययन इसके एक सामाजिक संस्था के रूप में और समाज की अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ उसके सम्बन्ध के बारे में, दोनों ही रूप में किया जा सकता है। स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में किया जा सकता है। इसका मुखिया (कर्त्ता-धर्ता) एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशीय अथवा पितृवंशीय हो सकता है। परिवार की यह आन्तरिक संरचना आम तौर पर, समाज की अन्य संरचनाओं, जैसे राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि संरचनाओं से जुड़ी होती है।

इस प्रकार, हिमालयी क्षेत्र के गाँवों से पुरुषों के प्रवसन से उस गाँव में ऐसे परिवारों का अनुपात असामान्य रूप से बढ़ सकता है जिनकी मुखिया स्त्रियाँ हैं। या भारत के सॉफ्टवेयर उद्योग में कार्य कर रहे युवा माता-पिता का कार्य-समय ऐसा हो कि वे अपने बच्चों की देखभाल ठीक से न कर सकें तो वहाँ दादा-दादियों तथा नाना-नानियों की संख्या बढ़ जाएगी क्योंकि उन्हें ही वहाँ आकर बच्चों की देखभाल करनी होगी। इस प्रकार, परिवार की संरचना अथवा उसके गठन में परिवर्तन हो जाता है।

स्पष्ट है कि परिवार की संरचनाओं में ही बदलाव नहीं आता बल्कि सांस्कृतिक विचार, मानकों और मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं। किन्तु, इस प्रकार के परिवर्तन लाना आसान नहीं होता। इतिहास और आधुनिक काल की घटनाओं से पता चलता है कि अक्सर पारिवारिक और वैवाहिक प्रतिमानों में किए जाने वाले परिवर्तनों का घोर हिंसात्मक विरोध किया जाता है। इस सम्बन्ध में परिवार के भी कई आयाम होते हैं। किन्तु भारत में, परिवार विषयक चर्चाएँ अक्सर मूल और विस्तारित परिवार के इर्द-गिर्द घूमती रहती हैं।

1.4.3.3.1. मूल एवं विस्तारित परिवार

मूल परिवार में माता-पिता (दम्पति) और उनके बच्चे ही शामिल होते हैं। विस्तृत परिवार (जिसे आम तौर पर 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है) के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं, लेकिन उनमें एक से अधिक युगल (दम्पति) होते हैं और अक्सर दो से अधिक पीढ़ियों के लोग एक साथ रहते हैं। इसमें कई भाई भी हो सकते हैं जो अपने-अपने परिवारों को लेकर संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में रहते हैं या एक बुजुर्ग दम्पति जो अपने बेटों, पोतों, उनके परिवारों के साथ रहते हों। विस्तृत परिवार अक्सर भारतीय होने का सूचक माना जाता है। लेकिन अब, बल्कि पहले भी यह किसी भी अर्थ में परिवार का प्रमुख रूप नहीं रहा है। यह समुदाय के कुछ अनुभागों या कतिपय क्षेत्रों तक ही सीमित था। वास्तव में, अंग्रेज़ी का 'ज्वाइंट फैमिली' (joint family) शब्द ही, जिसे हिन्दी में 'संयुक्त परिवार' कहा जाता है, देशज नहीं है। जैसा कि आई. पी. देसाई ने कहा है, "अंग्रेज़ी का 'ज्वाइंट फैमिली' शब्द किसी भी ऐसे भारतीय शब्द का अनुवाद नहीं है। यह बात रुचिकर है कि अधिकांश भारतीय भाषाओं में संयुक्त परिवार के लिए प्रयुक्त शब्द अंग्रेज़ी भाषा के 'ज्वाइंट फैमिली' शब्द का ही अनुवादित पर्याय है।"

1.4.3.3.2. परिवार के विविध रूप

अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि विभिन्न समाजों में किस तरह विविध प्रकार के परिवार पाए जाते हैं। आवास के नियम के अनुसार कुछ समाज विवाह और पारिवारिक प्रथाओं के मामले में पत्नी-स्थानिक और कुछ पति-स्थानिक होते हैं। पहली स्थिति में नवविवाहित जोड़ा वधू के माता-पिता के साथ रहता है और दूसरी स्थिति में, वर के माता-पिता के साथ। उत्तराधिकार के नियम के अनुसार, मातृवंशीय समाज में जायदाद माँ से बेटी को मिलती है और पितृवंशीय समाज में पिता से पुत्र को। पितृतन्त्रात्मक परिवार संरचना में पुरुषों की सत्ता व प्रभुत्व होता है और मातृतन्त्रात्मक परिवार संरचना में स्त्रियाँ समान रूप से प्रभुत्वकारी भूमिका निभाती हैं। हालाँकि पितृतन्त्र के विपरीत मातृतन्त्र एक अनुभाविक संकल्पना की बजाय एक सैद्धान्तिक कल्पना है। मातृतन्त्र का कोई ऐतिहासिक या मानवशास्त्रीय प्रमाण नहीं है अर्थात् ऐसा समाज नहीं है जहाँ स्त्रियाँ प्रभुत्वशाली हों। हालाँकि मातृवंशीय समाज अवश्य पाए जाते हैं अर्थात् ऐसे समाज जहाँ स्त्रियाँ अपनी माताओं से उत्तराधिकार के रूप में जायदाद पाती हैं परन्तु उस पर उनका अधिकार नहीं होता और न ही सार्वजनिक क्षेत्र में उन्हें निर्णय लेने का कोई अधिकार होता है। खासी समाज के पुरुष और स्त्रियाँ प्रभावित होते हैं।

परिवार की संरचना का अध्ययन इसके सामाजिक संस्था के रूप में और समाज की अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ उसके सम्बन्धों के बारे में, दोनों ही रूप में किया जा सकता है। स्वयं परिवार को मूल परिवार अथवा विस्तृत परिवार के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। इसका मुखिया एक पुरुष या स्त्री भी हो सकती है। वंशानुक्रम की दृष्टि से परिवार मातृवंशी अथवा पितृवंशीय हो सकता है। परिवार की यह आन्तरिक संरचना आमतौर पर समाज की अन्य संरचनाओं जैसे राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि रचनाओं से जुड़ी होती है। इस प्रकार, हिमालयी क्षेत्र के गाँवों से पुरुषों के प्रवसन से उस गाँव में ऐसे परिवारों का अनुपात सामान्य रूप से बढ़ सकता है जिनकी मुखिया स्त्रियाँ हैं।

1.4.4. बाजार का समाजशास्त्र

आधुनिक समाजशास्त्र के संस्थापकों में से कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि सभी आर्थिक व्यवस्थाएँ सामाजिक व्यवस्थाएँ भी हैं। हर उत्पादन विधि विशेष उत्पादन सम्बन्धों से बनती है और अन्ततः वह एक विशिष्ट वर्ग संरचना का निर्माण करती है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि अर्थव्यवस्था चीज़ों से नहीं बल्कि लोगों के बीच रिश्तों से बनती है जो उत्पादन की प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे से जुड़े होते हैं। एक अन्य विख्यात समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने पहली बार इस बात को लोगों के सामने रखा कि लोग जो सामान खरीदते हैं या उपयोग करते हैं वह समाज में उनकी प्रस्थिति से गहनता से जुदा होता है। उन्होंने इसे प्रतिष्ठा का प्रतीक माना है। उदाहरण के लिए भारत में आज मध्यमवर्गीय परिवारों में उनके पास जो कार का मॉडल होता है या जिस कंपनी के सेलफोन वे इस्तेमाल करते हैं वे उनकी सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति का अनुमान लगाने के प्रमुख साधन हैं। समाजशास्त्री आधुनिक समाज में उपभोग के स्वरूप और जीवनशैलियों का उनके सामाजिक और सांस्कृतिक महत्त्व के कारण अध्ययन करते हैं।

आमतौर पर हम बाजारों को क्रय-विक्रय के स्थान मान कर चलते हैं। दैनिक बोलचाल के प्रयोग में बाजार शब्द का अर्थ विशेष बाजार हो सकता है जैसे रेलवे स्टेशन के पास का बाजार, फलों का बाजार या थोक बाजार। कभी-कभी हम स्थान की बात न कर, लोगों, खरीददारों और विक्रेताओं के जमावड़े की बात करते हैं जो मिलकर बाजार को बनाते हैं। जैसे एक हफ्तावार सब्जी बाजार। एक अन्य अर्थ में बाजार एक क्षेत्र या कारोबार की श्रेणी में बात करता है जैसे कार बाजार, या बने-बनाए कपड़ों का बाजार। इसी तरह यह एक विशेष उत्पाद या सेवा से जुड़ा भी हो सकता है जैसे कंप्यूटर विशेषज्ञों का बाजार। वृहत अर्थ में बाजार अर्थव्यवस्था के समान है। लेकिन बाजार एक सामाजिक संस्था भी है।

भारत में एक ग्रामीण हाट बाज़ार से लेकर अप्रत्यक्ष स्टॉक एक्सचेंज जैसे विभिन्न प्रकार के बाज़ार भी हैं। ये बाज़ार खुद भी सामाजिक संस्थाएँ हैं और बाकी सामाजिक संस्थाओं जैसे परिवार, जाति, वर्ग से विभिन्न तरीकों से जुड़े हुए हैं। इसके साथ ही हमने यह जाना कि विनिमय के केवल आर्थिक मायने ही नहीं होते उसके सांकेतिक और सांस्कृतिकपहलू भी होते हैं। खासकर उदारवाद के दिनों में जब सामानों और संस्थाओं का तेजी से संचालन हो रहा है। भारत के उदारीकरण के बाद के बाजारी परिवेश में जो भूमण्डलीकरण का अभिन्न हिस्सा भी है। ऐसे तमाम तरीके और प्रणालियाँ हैं जो चीज़ों, सेवाओं, सांस्कृतिक प्रतीकों, पूँजी को बाजारी माहौल में प्रवेश दिलाती हैं। आंचलिक ग्रामीण बाजार से लेकर विश्वव्यापी व्यापारी क्षेत्रों तक जैसे नासदक (एक प्रमुख इलेक्ट्रॉनिक विनिमय केन्द्र जो न्यूयॉर्क में स्थित है)। आज के तेज़ी से बदलते युग में यह समझना आवश्यक है कि किस तरह से बाज़ार निरन्तर बदल रहे हैं और इन सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के परिणाम क्या हैं।

1.4.5. सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप

भारत में जन्मे और यहीं पले-बढ़े लोग जानते हैं कि सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार जीवन की एक वास्तविकता है। हम गलियों में और रेलवे प्लेटफॉर्म पर भिखारियों को देखते हैं। हम छोटे-छोटे बच्चों को घरेलू नौकर, भवन निर्माण के काम में कार्य करते हुए, सड़क के किनारे बने ढाबों, चाय की दुकानों में सफाई करने वालों और काम करने वालों के रूप में देखते हैं। हम इन छोटे बच्चों को, जो कि नगरीय मध्यमवर्ग के घरों में घरेलू नौकर के रूप में काम करते हैं, अपने से बड़े बच्चों का स्कूल बस्ता ढोते हुए देखकर आश्चर्यचकित नहीं होते हैं। यह हमें एक अन्याय के रूप में महसूस ही नहीं होता कि कुछ बच्चों को शिक्षा से वंचित किया जा रहा है। हममें से कुछ विद्यालयों में बच्चों के साथ जातिगत भेदभाव के बारे में पढ़ते हैं और कुछ इसका सामना करते हैं। इसी प्रकार महिलाओं के खिलाफ हिंसा एवं अल्पसंख्यकसमूहों तथा अन्यथा सक्षम लोगों के बारे में पूर्वाग्रह की खबरें भी हम रोजाना पढ़ते हैं। सामाजिक असमानता एवं बहिष्कार का यह रोजमर्रापन, इनका इस प्रकार रोजाना घटित होना, इन्हें स्वाभाविक बना देता है। हमें लगने लगता है कि यह एकदम सामान्य बात है, ये कुदरती चीज़ें हैं जिन्हें बदला नहीं जा सकता। अगर हम असमानता एवं बहिष्कार को कभी-कभी अपरिहार्य नहीं भी मानते हैं तो अक्सर उन्हें उचित या 'न्यायसंगत' भी मानते हैं। शायद लोग गरीब अथवा वंचित इसलिए होते हैं क्योंकि उनमें या तो योग्यता नहीं होती या वे अपनी स्थिति को सुधरने के लिए पर्याप्त परिश्रम नहीं करते। ऐसा मानकर हम उन्हें ही

उनकी परिस्थितियों के लिए दोषी ठहराते हैं। यदि वे अधिक परिश्रम करते या बुद्धिमान होते तो वहाँ नहीं होते जहाँ वे आज हैं।

गौर से देखने पर हम यह पाते हैं कि जो लोग समाज के सबसे निम्न स्तर के हैं, वही सबसे ज्यादा परिश्रम करते हैं। सम्पूर्ण विश्व में पत्थर तोड़ना, खुदाई करना, वजन उठाना, रिक्शा या ठेला ठेलना जैसे कमरतोड़ मेहनत के काम गरीब लोग ही किया करते हैं। फिर भी वे अपना जीवन शायद ही सुधार पाते हैं। ऐसा कितनी बार होता है कि कोई गरीब मजदूर एक छोटा-मोटा ठेकेदार भी बन पाया हो ? ऐसा तो केवल फिल्मों में ही होता है कि एक सड़क पर पलने वाला बच्चा उद्योगपति बन सकता है। परन्तु फिल्मों में भी अधिकतर यही दिखाया जाता है कि ऐसे नाटकीय उत्थान के लिए गैर कानूनी या अनैतिक तरीका अपनाना आवश्यक है।

1.4.5.1. सामाजिक विषमता

प्रत्येक समाज में कुछ लोगों के पास धन, सम्पदा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं शक्ति जैसे मूल्यवान् संसाधनों का दूसरों की अपेक्षा ज्यादा बड़ा हिस्सा होता है। यह सामाजिक संसाधन पूँजी के तीन रूपों में विभाजित किए गए हैं। सामाजिक संसाधनों तक असमान पहुँच ही साधारणतया सामाजिक विषमता कहलाती है। कुछ सामाजिक विषमताएँ व्यक्तियों के बीच स्वाभाविक भिन्नता को प्रतिबिम्बित करती हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी योग्यता एवं प्रयास में भिन्नता। कोई व्यक्ति असाधारण प्रतिभावान् हो सकता है या यह भी हो सकता है कि उसने समृद्धि और अच्छी स्थिति पाने के लिए कठोर परिश्रम किया हो तथापि सामाजिक विषमता व्यक्तियों के बीच सहज या 'प्राकृतिक' भिन्नता की वजह से नहीं है, बल्कि यह उस समाज द्वारा उत्पन्न की जाती है जिसमें वे रहते हैं। वह व्यवस्था जो एक समाज में लोगों का वर्गीकरण करते हुए एक अधिक्रमित संरचना में उन्हें श्रेणीबद्ध करती है उसे समाजशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण कहते हैं। यह अधिक्रम लोगों की पहचान एवं अनुभव, उनके दूसरों से सम्बन्ध तथा साथ ही संसाधनों एवं अवसरों तक उनकी पहुँच को आकार देताहै। तीन मुख्य सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करते हैं –

(i) सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों के बीच की विभिन्नता का प्रकार्य ही नहीं बल्कि समाज की एक विशिष्टता है। सामाजिक स्तरीकरण समाज में व्यापक रूप से पाई जाने वाली व्यवस्था है जो सामाजिक संसाधनों को, लोगों की विभिन्न श्रेणियों में, असमान रूप से बाँटती है। तकनीकी रूप से सबसे अधिक आदिम समाजों में जैसे, शिकारी एवं संग्रहकर्ता समाज में बहुत थोड़ा उत्पादन होता था अतः केवल प्रारम्भिक सामाजिक स्तरीकरण ही मौजूद था। तकनीकी रूप से अधिक उन्नत समाज में जहाँ लोग अपनी मूलभूत ज़रूरतों से अधिक उत्पादन करते हैं, सामाजिक संसाधन विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में असमान रूप से बँटा होता है, जिसका लोगों की व्यक्तिगत क्षमता से कुछ भी लेना-देना नहीं होता है।

(ii) सामाजिक स्तरीकरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी बना रहता है। यह परिवार और सामाजिक संसाधनों के एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी में उत्तराधिकार के रूप में घनिष्ठता से जुड़ा है। एक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति प्रदत्त अर्थात् अपने आप मिली हुई होती है अर्थात् बच्चे अपने माता-पिता की सामाजिक स्थिति को पाते हैं।

जाति व्यवस्था के अंदर, जन्म ही व्यावसायिक अवसरों को निर्धारित करता है। एक दलित, पारम्परिक व्यवसाय जैसे, खेतिहर, मजदूर, सफाईकर्मी या चमड़े का काम करने वाला अपने कार्य से ही बँधकर रह जाता है और उसके पास ऊँची तनख्वाह वाली सफेदपोश नौकरी या पेशेवर नौकरी के अवसर बहुत कम होते हैं। सामाजिक असमानता का प्रदत्त पक्ष अन्तर्विवाह प्रथा से और सुदृढ़ होता है। चूँकि विवाह अपनी जाति के सदस्यों में ही सीमित है, अतः अन्तरजातीय विवाह द्वारा जातीय विभाजनों को क्षीण करने की सम्भावना खत्म हो जाती है।

(iii) सामाजिक स्तरीकरण को विश्वास या विचारधारा द्वारा समर्थन मिलता है। सामाजिक स्तरीकरण की कोई भी व्यवस्था पीढ़ी-दर-पीढ़ी नहीं चल सकती जब तक कि व्यापक तौर पर यह माना न जाता हो कि वह या तो न्यायसंगत या अपरिहार्य है। उदाहरण के लिए, जाति व्यवस्था को धार्मिक या कर्मकाण्डीय दृष्टिकोण से शुचिता एवं अशुचिता के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है जिसमें जन्म और व्यवसाय की बदौलत ब्राह्मणों को सबसे उच्च स्थिति और दलितों को सबसे निम्न स्थिति दी गई है। यद्यपि ऐसा नहीं है कि हर व्यक्ति असमानता की इस व्यवस्था को ठीक मानता है। ज्यादातर वे लोग, जिन्हें अधिक सामाजिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं वही सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था जैसे जाति तथा प्रजाति का जोरदार समर्थन करते हैं। जो इस अधिक्रम में सबसे नीचे हैं और इस वजह से शोषित और अपमानित हुए हैं वही इसे सबसे ज्यादा चुनौती दे सकते हैं।

हम अक्सर सामाजिक भेदभाव और बहिष्कार की केवल आर्थिक साधनों के विभेदीकरण के रूप में चर्चा करते हैं। जबकि यह आंशिक रूप से ही सत्य है। लोग ज्यादातर अपने लिंग, धर्म, नृजातीयता, भाषा, जाति तथा विकलांगता की वजह से भेदभाव और बहिष्कार का सामना करते हैं। अतः एक आभिजात्य वर्ग की महिला भी सार्वजानिक स्थान पर यौन उत्पीड़न का शिकार हो सकती है। एक धार्मिक या नृजातीय अल्पसंख्यक वर्ग समूह के व्यावसायिक व्यक्ति को भी महानगर की एक मध्यमवर्ग कॉलोनी में घर लेने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। लोग दूसरे सामाजिक समूहों के बारे में ज्यादातर पूर्वग्रह से ग्रसित रहते हैं।

1.4.5.2. जाति : एक भेदभावपूर्ण व्यवस्था

जाति व्यवस्था एक विशिष्ट भारतीय सामाजिक संस्था है जो विशेष जातियों में पैदा हुए व्यक्तियों के विरुद्ध भेदभावपूर्ण व्यवहार को लागू करती है एवं न्यायसंगत ठहरातीहै। भेदभाव का यह व्यवहार अपमानजनक, बहिष्कारी तथा शोषणकारी है।

1.4.5.3. अस्पृश्यता

'अस्पृश्यता' जिसे आम बोलचाल में 'छुआछूत' कहा जाता है, जाति-व्यवस्था का एक अत्यन्त घृणित एवं दूषित पहलू है, जो धार्मिक एवं कर्मकाण्डीय दृष्टि से शुचिता एवं अशुचिता के पैमाने पर सबसे नीची मानी जाने वाली जातियों के सदस्यों के विरुद्ध अत्यन्त कठोर सामाजिक दण्डों का विधान करता है। सच पूछिए तो

'अस्पृश्य' यानी अछूत मानी जाने वाली जातियों का जाति सोपान या अधिक्रम में कोई स्थान ही नहीं है, वे तो इस व्यवस्था से बाहर हैं। उन्हें तो इतना अधिक अशुद्ध एवं अपवित्र माना जाता है कि उनके जरा छू जाने भर से ही अन्य सभी जातियों के सदस्य अत्यन्त अशुद्ध हो जाते हैं, जिसके कारण अछूत कहे जाने वाले व्यक्ति को तो अत्यधिक कठोर दण्ड भुगतना पड़ता ही है, साथ ही उच्च जाति का जो व्यक्ति छुआ गया है उसे भी फिर से शुद्ध होने के लिए शुद्धीकरण की कई क्रियाएँ करनी होती हैं।

इस शब्द का आक्षरिक अर्थ सीमित होने के बावजूद, 'अस्पृश्यता' की संस्था शारीरिक सम्पर्क से बचने या अछूत से दूर रहने का आदेश तो देती ही है, साथ ही तथाकथित अछूत के लिए कई सामाजिक अनुशासनों की व्यवस्था भी करती है। यहाँ यह बता देना महत्त्वपूर्ण है कि अस्पृश्यता के तीन मुख्य आयाम हैं – (i) अपवर्जन या बहिष्कार, (ii) अनादर एवं अधीनता और (iii) शोषण। इस प्रघटना को परिभाषित करने के लिए ये तीनों आयाम समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि अन्य यानी 'स्पृश्य' मानी जाने वाली नीची जातियों को भी कुछ हद तक अधीनता और शोषण का सामना करना पड़ता है, लेकिन उन्हें बहिष्कार का उतना चरम रूप नहीं सहना पड़ता जो कि 'अछूतों' के लिए आरक्षित है। दलितों को तो बहिष्कार के इतने भयंकर रूप भुगतने पड़ते हैं जो और समूहों को नहीं सहने पड़ते। उदाहरण के लिए, उन्हें पेयजल के सामान्य स्रोतों से पानी नहीं लेने दिया जाता, उनके कुँए, हैंडपंप, घाट आदि अलग होते हैं वे सामूहिक धर्मिक पूजा-आराधना, सामाजिक समारोहों और त्योहारों-उत्सवों में भाग नहीं ले सकते। साथ ही, उनसे अनेक छोटे काम जोर-जबरदस्ती से कराए जाते हैं जैसे, किसी धार्मिक उत्सव पर ढोल-नगाड़े बजाना। अनादर और अधीनतासूचक अनेक कार्य सार्वजनिक रूप से कराना अस्पृश्यता की प्रथा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उन्हें तथाकथित ऊँची जातियों के लोगों के प्रति जबरदस्ती सम्मान प्रदर्शित करने के लिए अनिच्छापूर्वक कई व्यवहार करने पड़ते हैं जैसे, टोपी या पगड़ी उतारना, पहने हुए जूतों को उतारकर हाथ में पकड़ कर ले जाना, सिर झुकाकर खड़े रहना, एकदम साफ या चमचमाते हुए कपड़े नहीं पहनना आदि-आदि। कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में जनसंख्या, परिवार, विवाह, नातेदारी, विवाह, जाति-व्यवस्था, बाजार आदि महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं जिनमें प्रादेशिक, भाषिक और भौगोलिक आधार पर विभिन्नता पाई जाती है।

1.4.6. बोध प्रश्न

1. भारतीयता से आप क्या समझते हैं ? भारतीयता का स्वरूप क्या है ?
2. भारतीय समाज के घटक कौन-कौन से हैं ?
3. भारत की जनसंख्या की जनसांख्यिकीय संरचना कैसी है?
4. जाति एवं जाति-व्यवस्था से क्या अभिप्राय है ?
5. जनजातीय समुदाय के स्थायी और अर्जित विशेषकों से क्या अभिप्राय है ?
6. सामाजिक विषमता एवं बहिष्कार के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
7. बाजार किस प्रकार समाज का अंग है ? विस्तारपूर्वक समझाइए।

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 1 : उर्दू – वली दक्कनी

इकाई की रूपरेखा

2.1.00. उद्देश्य कथन
2.1.01. प्रस्तावना
2.1.02. दक्कनी भाषा का इतिहास
2.1.03. वली की प्रामाणिकता
2.1.04. वली की रचनाओं की प्रामाणिकता
2.1.05. वली की भाषा
2.1.06. वली के ज़माने में प्रचलित शब्द
2.1.07. वली का रचनात्मक योगदान
2.1.08. वली की शाइरी
2.1.09. वली का साहित्येतर योगदान
2.1.10. वली के समकालीन शाइर
2.1.11. परवर्ती शाइरों पर वली का प्रभाव
2.1.12. पाठ-सार
2.1.13. बोध प्रश्न

2.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वली के युग में प्रचलित भाषा, जिसे दक्कनी भी कहा जाता है, से परिचित हो सकेंगे।
ii. उर्दू के प्रारम्भिक इतिहास से रूबरू होंगे।
iii. वली के नाम और पैदाइश (जन्म) के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iv. वली के युग में प्रचलित काव्य-रूपों से परिचित हो सकेंगे।
v. वली के रचनात्मक अवदान का आस्वाद ग्रहण कर सकेंगे।

2.1.01. प्रस्तावना

तुलनात्मक भारतीय साहित्य की इस इकाई में हम वली की भाषा, जिसे दक्कनी भी कहते हैं, के काव्य-रूपों पर विचार करेंगे। वली मुहम्मद वली प्राचीन काल के उर्दू शाइर हैं। उन्होंने अपने काव्य (शाइरी) में जिस भाषा का इस्तेमाल किया है उसे दक्कनी भी कहते हैं। इस इकाई में वली के नाम और पैदाइश (जन्म) के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी पा सकेंगे। वली के नाम और उनके जन्म स्थान को लेकर दक्कन और गुजरात के लोगों में

निरन्तर मतभेद रहे हैं। पुरानी साहित्यिक पत्रिकाओं में टिप्पणीकारों में से किसी ने उन्हें गुजराती लिखा है तो किसी ने औरंगाबादी और किसी ने सिर्फ़ दक्कनी लिखा है। इस बात का अभी तक कोई प्रामाणिक नतीजा नहीं निकल सका है कि इनका वास्तविक नाम क्या था और वे औरंगाबाद से थे अथवा गुजरात (अहमदाबाद) से ? वली को पहला साहिबे-दीवान शाइर माना जाता है। अठारहवीं सदी में उनके दीवान की हर तरफ धूम थी। वली को उर्दू शाइरी का प्रणेता माना जाता है। जिस ज़माने में फ़ारसी की धूम मची हुई थी उस ज़माने में वली का उर्दू दीवान दिल्ली के शाइरों और दिल्ली वालों ने हाथों-हाथ लिया। नये लेखकों ने भी उनका अनुकरण करते हुए उनकी शैली ही में ग़ज़लें कहनी शुरू कर दी और गली-कूचों में वली की ग़ज़लों का चर्चा होने लगा।

2.1.02. दक्कनी भाषा का इतिहास

जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि वली की भाषा को अमूमन लोग दक्कनी कहते हैं। तब ऐसे में हमें पहले दक्कनी भाषा के बारे में जान लेना चाहिए। सातवीं सदी हिजरी के आख़िर तक दक्कन पर दिल्ली की सल्तनत अथवा उत्तरी भारत के रहन-सहन और आचार-व्यवहार का कोई प्रभाव नहीं था। अल्लाउद्दीन ख़िलजी ने 694 हि. में. देवगीर पर आक्रमण किया और उसके सिपहसालार मलिक काफ़ूर ने 709 हि. में पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी दक्कन पर आक्रमण शुरू किये और दो-तीन बरस में वहाँ के कई रजवाड़ों को दिल्ली के अधीन कर लिया। ऐसे आक्रमणों का सिलसिला जारी रहा और देवगीर, दक्कन में दिल्ली के साम्राज्य का केन्द्र बन गया। यहाँ तक कि 725 हि. में सुल्तान मुहम्मद तुग़लक का दौर आया तो सल्तनत दिल्ली से उठा कर देवगीर ही में कर दी गई। दिल्लीवासियों को आदेश दिया गया कि वे सब के सब देवगीर जाएँ। देवगीर का नाम दौलताबाद कर दिया गया और वहाँ एक शानदार नगर बनाया गया। दिल्ली से वज़ीर, बड़े सेनाधिकारियों, विद्वानों, शाइरों और श्रेष्ठतम कारीगरों का वहाँ जमघट-सा लग गया। इस तरह दौलताबाद उस ज़माने में एक छोटी दिल्ली बन गया। ऐसा अनुमान है कि वहाँ की भाषा भी उस समय वही हो गई होगी जो दिल्ली और उसके आसपास बोली जाती थी। बहुत सम्भव है कि इस नई भाषा का असर दक्कन के दूसरे हिस्सों तक भी पहुँचा हो। मुहम्मद तुग़लक के बाद जब हसन बहमनी ने दक्कन में अपना साम्राज्य जमाया तो गुलबर्गे को पाया-ए-तख़्त (राजधानी) बनाया। बहमनों को तेलंगाना, बीजानगर और कर्नाटक के युद्ध में भारी सफलताएँ मिलीं और 764 हि. में गोलकुंडा पर भी उन्होंने विजय हासिल कर ली। इन सभी स्थानों में दिल्ली की भाषा ने कुछ न कुछ प्रचलन पाया लेकिन दौलताबाद और उसके आस-पास के इलाकों जैसी तो नहीं हो सकती थी। हिजरी सन् 815 में सय्यद मुहम्मद गेसूदराज़ गुलबर्गे पहुँचे और इसका प्रभाव यह हुआ कि थोड़े ही समय में सूफियों का असर पूरे दक्कन में फैल गया। इस तरह दिल्ली की भाषा दक्कन में प्रचलन में आ गई लेकिन द्रविड़ भाषाई उन इलाकों में, जो दौलताबाद से दूर थे, इस परदेशी भाषा के असर को कम ही स्वीकार किया गया। इसीलिए आज भी मद्रास के इलाक़ों में बोली जाने वाले वाली उर्दू में तामील भाषा का लहजा मिलता है जो अन्य किसी स्थान की उर्दू में नहीं मिलता है। लेकिन दक्कन का उत्तरी-पश्चिमी हिस्सा, जिसमें दौलताबाद है, में बोली जाने वाली भाषा हिन्दुस्तान की एक आर्याई भाषा थी जिसे उत्तरी भारत की बोलियों से गहरा लगाव था। यहाँ की आबो-हवा भी इतनी अलग नहीं थी जितनी दूसरे द्राविड़ी हिस्सों की थी। यह हिस्सा दक्कन के अन्य हिस्सों के मुक़ाबले दिल्ली से ज़्यादा क़रीब भी था और उत्तरी

इलाक़ों से उसके सम्बन्ध भी निरन्तर बने रहते थे। परिणामस्वरूप यहाँ के लोगों ने दिल्ली की भाषा में अजनबीपन नहीं पाया और उसे खुले दिल से अपनाया।

इन बातों पर ग़ौर करने पर स्थिति साफ़ हो जाती है कि दसवीं सदी के आखिर तक दक्कन में हिन्दुस्तानी भाषा की दो सूरतें हो गयीं। एक वह जो दौलतबाद के इलाक़ों से बाहर की भाषा जिसे दिल्ली की प्रचलित भाषा के साथ घुलने-मिलने के अवसर कम मिले। यहाँ गोलकुंडे के कुतुबशाहियों और दूसरी तरफ़ सूफियों ने एक ख़ास दक्कनी साहित्य रचा। दूसरी सूरत वह थी जो दौलताबाद और उसके आस-पास प्रचलित थी। ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में मुग़लों ने दक्कन का रुख़ किया और उनका असर तेजी से बढ़ने लगा। उन्होंने भी अपने साम्राज्य का केन्द्र दौलताबाद ही को बनाया लेकिन औरंगज़ेब ने दौलताबाद से कुछ मील दूर औरंगाबाद बसाया। औरंगाबाद में दिल्ली वालों ने उर्दू-ए-मुअला (दिल्ली के किले में बोली जाने वाली उच्च कोटि की उर्दू) दी जिससे औरंगाबाद की भाषाओं को नई ताज़गी मिली और वे इस बात पर गर्व भी करते हैं। यही वह भाषा है जिसे वली के कलाम में देखा जा सकता है। तक़रीबन यही भाषा, कुछ भिन्नता के साथ, वली के ज़माने में दिल्ली में बोली जाती थी।

2.1.03. वली की प्रामाणिकता

इसे हम उस ज़माने के इतिहासकारों की उपेक्षा ही कह सकते हैं कि हमें एक ऐसे महान् शाइर के बारे में कोई प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हैं जिसने न सिर्फ़ यह कि उर्दू ग़ज़ल की दाग़-बेल डाली बल्कि हिन्दी, दक्कनी, उर्दू और फ़ारसी भाषा को एक साथ अपने कलाम (काव्य) में समाहित करने का दुष्कर कार्य किया था। इसकी एक वजह यह भी हो सकती है कि हमने अपनी श्रव्य-परम्परा के अनुसार शुरू से ही सुनी-सुनाई बातों पर अधिक भरोसा किया और परिणामस्वरूप सच्चाई को ही विवादास्पद बना दिया।

आज भी विद्वान् इस बात का निर्णय नहीं कर पाये हैं कि वली का वास्तविक नाम क्या था और वे कहाँ पैदा हुए थे। वली को गुजराती मानने वालों का कहना है कि उनका नाम मुहम्मद वलीउल्लाह था। उनके पिता का नाम शरीफ़ मुहम्मद था। वे अहमदाबाद के मशहूर सूफ़ी बुज़ुर्ग शाह वजीहुद्दीन गुजराती के भाई शाह नसीरुद्दीन के खानदान से थे। वली को दक्कनी मानने वालों का कहना है कि उनका नाम वली मुहम्मद था। उनका जन्म स्थान अहमदाबाद नहीं औरंगाबाद था। प्रसिद्ध शाइर मीर तक़ी मीर अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'निकात्तुशोरा' में उन्हें औरंगाबाद का मानते हैं। मुहम्मद हुसैन आज़ाद 'आबे-हयात' में उन्हें अहमदाबाद का बताते हैं तो करीमुद्दीन उन्हें दर्मियाने-दक्कन का लिखते हैं। हालाँकि वली ने स्वयं अपने बारे में कहा है–

वली ईरानों-तुरां मेंहै मशहूर
अगरचे शाइरे-मुल्के-दकन है

इसी प्रकार कुछ उनका नाम शम्स वलीउल्लाह लिखते हैं तो कुछ हाजी वली, कोई उनका नाम वलीउल्लाह, उपाधि शम्सुउद्दीन और उपनाम वली लिखते हैं।

इसके बावजूद उनके नाम और जन्म स्थान का निर्णय आने वाले युग के शोधकर्त्ताओं पर छोड़ते हुए हम 'वली' को सिर्फ़ 'वली' मान लेते हैं। उन्हें अहमदाबाद या औरंगाबाद का मानने की बजाय उर्दू का मान लेते हैं। चूँकि दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हैं कि वली की प्रारम्भिक शिक्षा अहमदाबाद में हज़रत शाह वजीहुद्दीन की ख़ानकाह के मदरसे में शेख़ नूरुद्दीन सुहरवर्दी से हुई इसलिए ये तो मान लेना चाहिये कि उनकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा अहमदाबाद में हुई थी। नाम और जन्म स्थान ही की तरह वली के जन्म की तारीख़ के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिकता नहीं मिलती है। लेकिन 1079 हिजरी उनका जन्म वर्ष मानते हैं। उन्हें सफ़र करने का बहुत शौक़ था। प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि वली ने सूरत, बुरहानपुर और दिल्ली का सफ़र किया और इसके अलावा मदीने की ज़ियारत को भी गये थे। दिल्ली के सफ़र को उनकी काव्य-यात्रा का अहम पड़ाव माना जाता है। हालाँकि इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मानना है कि उन्होंने दिल्ली का सफ़र दो बार किया। पहला 1112 हि. में और दूसरा 1132 हि. में। जबकि कुछ विद्वानों का मानना है कि उन्होंने दिल्ली का सफ़र एक बार ही किया था। नूरूलहसन हाशमी ने क़ायम चांदपुरी के हवाले से लिखा है कि दरअसल 1132 हि. में वली का मुकम्मल दीवान पहली बार दिल्ली पहुँचा था।

इस बात के समर्थकों द्वारा वली का एक शेर भी प्रस्तुत किया जाता है –

दिल वली का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूं

लेकिन नूरूलहसन हाशमी के अनुसार वली के दीवान में न ये शेर है न कहीं मुहम्मद शाह का ज़िक्र। उनके अनुसार यह शेर दरअसल 'मज़्मून' का है और यूँ है –

इस गदा का दिल लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूं

क़ायम चाँदपुरी 'मश्ख़जन' में लिखते हैं कि 1112 हि. में वली ने दिल्ली का सफ़र किया था। बहरकैफ़ उनका दिल्ली जाना तो तय है। मीर अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'निकात्तुशोअरा' में लिखते हैं – "वली जब दिल्ली पहुँचे तो वहाँ शाह गुलशन की ख़िदमत में हाजिर हुए और अपने शेर सुनाये। उनके शेर सुन कर शाह साहिब ने फ़रमाया कि मज़ामीने-फारसी (फ़ारसी के काव्य विषय), जो बेकार पड़े हैं उन्हें रेख्ते (उर्दू का प्राचीन नाम) में इस्तेमाल करो।" शाह गुलशन का पूरा नाम शेख़ सईउद्दीन देहलवी था। वे फ़ारसी के प्रसिद्ध शाइर थे। ऐसा माना जाता है कि वली ने शाह गुलशन के मश्वरे के बाद अपने कलाम में तब्दीलियाँ की और फ़ारसी के काव्य-विषय उर्दू में इस्तेमाल करने शुरू किये। जो वली की शाइरी को दूसरे शाइरों की तुलना में अलग साबित करने लगे और परिणाम यह हुआ कि वली की शाहरी उर्दू में अपना मुंफ़रिद (विशिष्ट) स्थान बनाने में कामयाब हुई। अब यह और बात है कि वली ने शाह गुलशन के मश्वरे से कितना फ़ायदा उठाया इसका निर्णय नहीं किया जा सकता क्योंकि इसके लिए तो उनके दीवान को तारीख़ी तर्तीब (ऐतिहासिक क्रम) देने पर निर्धारित किया जा

सकता है जो एक अलग शोध का विषय है। लेकिन इतना तय है कि वली ने अपनी शाइरी में ऐसी सरस भाषा का प्रयोग किया जो दिल्ली वालों की जानी-पहचानी थी।

2.1.04. वली की रचनाओं की प्रामाणिकता

वली जिस युग में पैदा हुए उसे दक्कनी भाषा का अन्तिम काल और आज की उर्दू का प्रारम्भिक काल कहा जा सकता है। अट्ठारहवीं सदी में जबकि देश में छापेखाने का प्रचलन नहीं था उस समय वली के जितने क़लमी नुस्खे (हस्तलिखित संस्करण) प्रकाशित हुए उतने अन्य किसी शाइर के नहीं। उनके दीवान के कई संस्करण मिलते हैं। मुहम्मद इकराम चुग़ताई ने साहित्यिक पत्रिका 'उर्दू', जो पाकिस्तान से निकलती है, के 1966 के अंक में वली के दीवान की सूची प्रकाशित की है जिसमें उनकी डायरी और दीवान वग़ैरह मिला कर तक़रीबन सौ से ज़्यादा किताबें शामिल हैं लेकिन इन सबमें से छह को प्रमुख और प्रामाणिक माना गया है। इन सबको सामने रखते हुए और काफ़ी शोध करने के बाद उत्तरप्रदेश उर्दू अकादमी की तरफ से नूरूलहसन हाशमी ने 'कुल्लियाते-वली' (वली समग्र) सम्पादित किया जिसका पहला संस्करण 1989 में प्रकाशित हुआ। इसे अब तक का सबसे प्रामाणिक संग्रह माना जा सकता है क्योंकि इनके सामने अब तक के सभी संग्रह उपलब्ध थे और इन सबकी रोशनी में इन्होंने यह कुल्लियात सम्पादित किया है।

वली के शागिर्दों में सय्यद मुहम्मद अशरफ़, रजी और सना का उल्लेख मिलता है। अशरफ़ की कुछ गजलें तो वली के दीवान के एक संस्करण में भी शामिल हैं। लेकिन शोध करने के बाद अब वे ग़ज़लें वली के समग्र में अलग परिशिष्ट में प्रस्तुत की गई हैं।

इसके अलावा वली अपनी ग़ज़लें भी अशरफ़ को इनायत (भेंट) कर दिया करते थे। जिसकी पुष्टि अशरफ़ ही के शेर से होती है। एक शेर मुलाहिजा फरमाइए –

वली ने यो ग़ज़ल अशरफ़ करम सूं मुझ को बख़्शीहै।
सो अपने नाम सूं इस कूं किया जारी नको पूछो

2.1.05. वली की भाषा

वली का युग भक्तिकाल का युग रहा है। इस दौर में शाइर तसव्वुफ़ (अध्यात्म) और वहदतुलवजूद (ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद) को ही ज़िन्दगी का उद्देश्य और ईश्वर प्राप्ति का साधन मानता था। जिसमें प्रेम अथवा इश्क़ को प्राथमिकता दी जाती थी। वली के पूरे कलाम में इसकी निशानदेही होती है। वली यद्यपि तसव्वुफ़ के आदमी नहीं थे लेकिन उस दौर के आम चलन और अपनी विस्तृत एवं खुली सोच के चलते उन्होंने सांसारिक समस्याओं के साथ-साथ हुस्नो-इश्क के सम्बन्ध में भी पूरी सजगता और गहराई से नज़र रखते हुए इश्क़े-मजाज़ी (सांसारिक प्रेम) को इश्के-हक़ीक़ी (ईश्वरीय प्रेम) में तब्दील कर दिया। उनकी शाइरी में ईश्वर-प्राप्ति के लिए इश्क को सर्वोपरि माना गया है। वे स्वयं कहते हैं –

शग़्ल बेहतर है इश्क़बाज़ी का
क्या हक़ीक़ी ओ क्या मजाज़ी का

वली के कुल्लियात (समग्र) के पहले प्रकाशन पर लोगों ने वली की भाषा पर आपत्तियाँ करते हुए उनकी भाषा को कहीं ग़लत तो कहीं ग़ैरफ़सीह (साहित्य में अप्रचलित) क़रार दिया। यहाँ तक कि उनके द्वारा अपने काव्य में इस्तेमाल किये गये अल्फाज़ की एक लम्बी सूची भी इस आशय से प्रकाशित की गई कि उनका इस्तेमाल भाषा की दृष्टि से उचित नहीं है। दरअसल हुआ ये कि लोगों ने वली के कलाम को उनके सालों बाद की प्रचलित भाषा से देखना-समझना चाहा। जबकि होना यह चाहिए था कि वली की काव्य-भाषा को उनके दौर की काव्य-भाषा ही की रोशनी में देखा जाए क्योंकि भाषा का यह स्वभाव होता है कि वह निरन्तर बदलती रहती है जिसमें कभी कुछ शब्द मतरूक (प्रचलन से बाहर) हो जाते हैं तो कभी नये शब्द प्रचलन में आ जाते हैं।

2.1.06. वली के ज़माने में प्रचलित शब्द

किसी भी रचना को समझने के लिए उस कालखण्ड में व्यवहृत शब्दावली की समझ की ख़ास भूमिका होती है। वली के समय में प्रचलित प्रमुख शब्द कुछ इस तरह से पढ़े-लिखे और बोले जाते थे –

बूझना	:	पहचानना, समझना
बोलना	:	कहना के स्थान पर
पवन	:	हवा
पी, पीव, सजन	:	महबूब के लिए
पीवना	:	पीना
तुझ, मुझ	:	तेरा, मेरा
जीव	:	जी
लग	:	तलक
नैन, नयन	:	आँख
सती, सेती	:	से
कने	:	पास
निपट, निपठ	:	बिल्कुल, नितान्त
नई	:	नहीं

ऐसे शब्द उस काल के अधिकांश शायरों के कलाम में पाये जाते हैं जो बाद में धीरे-धीरे भाषिक विकास के साथ अपना स्वरूप बदलते रहे। वली के काव्य को समझने के लिए ऐसे शब्दों से परिचित होना निहायत ज़रूरी है अन्यथा आज के प्रचलित शब्दों की रोशनी में इन्हें भाषा का दोष मान लिया जाता है जो उचित नहीं है।

उस ज़माने में कुछ शब्दों की मात्रा ज़रूरत के मुताबिक़ घटा-बढ़ा दी जाती है। जैसे – 'ऊपर' ('उपर'), 'देखो' ('दिखो'), 'लगा' ('लागा'), 'लहू' ('लोहू'), 'ऊधर', 'ईधर', 'जीधर' आदि।

इसी तरह कुछ शब्दों में तश्दीद (एक अक्षर को दो बार पढ़ना) को हटा देना तो कभी तश्दीद को बढ़ा देने की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। जैसे – 'इतना' से 'इत्ता' और 'पात' से 'पत्ता' कर देना।

चन्द्रबिन्दु तथा अनुस्वार के सम्बन्ध में भी यही तरीक़ा प्रचलित था। जैसे – 'कूचा' को 'कूंचा', 'पेच' को 'पेंच' और 'पायचा' को 'पाइंचा' लिखा जाता था। 'तू' को 'तूं', 'को' को 'कूं', 'से' को 'सें', 'से' को 'सूं', 'सदा' को 'सदां' और 'देखना' को 'देखनां', 'ने' को 'नें' वग़ैरह लिखना आम था।

इसी तरह कुछ शब्दों में शब्दलाघव की प्रवृत्ति देखी जाती है। जैसे – 'बहुत' को 'बौत', 'कहता' को 'कैता', 'कहूं' को 'कैऊं', 'घबराहट' से 'घबराट', 'वहाँ' से 'वां', 'यहाँ' से 'यां', 'गढ़ना' को 'घड़ना', 'पहचान' को 'पैछान', 'तड़प' को 'तड़फ', 'धोखा' को 'धोका' आदि।

2.1.07. वली का रचनात्मक योगदान

मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने अपनी पुस्तक 'आबे-हयात' में वली को उर्दू शाइरी का चासर बताया है। वली से पहले उर्दू शायरी विशेषतः ग़ज़ल में दो रंग मिलते हैं। पहला रंग वह जिसमें फ़ारसी के काव्य-विषय, फ़ारसी की उपमाएँ और फ़ारसी के अलंकारों की झलक दिखाई देती है। जैसे कुली कु तुब शाह की शाइरी। दूसरा रंग वह है जिसमें उपर्युक्त वर्णित तत्त्व अपने यथोचित प्रभाव के साथ प्रकट होते हैं। जैसे – हसन शौक़ी की शाइरी।

ऐसे में यह सवाल स्वाभाविक है कि जब वली से पहले ऐसे श्रेष्ठ शाइर उर्दू शाइरी में मौजूद थे तो वली की इतनी अहमियत क्यों है ! इस सवाल के जवाब के लिए यह जानना ज़रूरी है कि वली ने उर्दू शाइरी के प्रचलित स्वरूप और शैली में क्या-क्या बदलाव किए। वस्तुतः वली ने प्रमुख रूप से तीन महत्त्वपूर्ण कार्य किये –

(i) दक्कनी काव्य में वली से पहले मस्नवी (काव्य-वृतान्त) की विधा का बोल-बाला था और ऐसी स्थिति थी कि मस्नवी ही को काव्यात्मक अभिव्यक्ति का मानक समझा जाता था। इसलिए किसी भी शाइर को अपनी काव्यात्मक श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए मस्नवी की विधा में पारंगत होना आवश्यक था। वली ने इस परम्परा को नकारते हुए मस्नवी की बजाय ग़ज़ल को अपनी काव्य-विधा बनाया। हालाँकि उन्होंने मस्नवियाँ भी लिखीं। ग़ज़ल में उनकी अनूठी शैली और नयेपन के अहसास ने ऐसा आकर्षण पैदा किया कि आने वाले समय के लिए ग़ज़लगोई को शाइरी का माना जाने लगा।

(ii) वली ने दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्होंने ग़ज़ल को अपने पूर्ववर्ती शाइरों महमूद, फीरोज़, शौक़ी, कुतुब शाह, नुसरती वगैरह की परम्परा को नया मोड़ और नया लहजा दिया। वली के पूर्ववर्ती शाइरी पर आंचलित भाषाओं और आंचलिकता का लहजा प्रभावी था। वली ने अपनी शाइरी के द्वारा इसका रुख़ फ़ारसीयत की तरफ़ मोड़ दिया या यूँ कहना चाहिये कि फ़ारसी शब्दों और फ़ारसी काव्याभिव्यक्ति को उर्दू का रुझान दिया।

(iii) वली ने तीसरा कार्य यह किया कि उर्दू शाइरी में सबके-हिन्दी को प्रचलित किया। सबके-हिन्दी की विशेषता यह है कि इसमें सच्चाई रूपकों में रूपक सच्चाई में परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं। यह शैली भारत के फ़ारसीगोयों (फ़ारसी में कविता करने वाले) में अत्यधिक लोकप्रिय थी।

जबान ही की तरह तसव्वुरात के सम्बन्ध में भी वली की शाइरी में तीन रंग दृष्टिगोचर होते हैं। इसका प्रारम्भिक रंग ठेठ दक्कनी है। ऐसे शेरों में अमूमन प्रेयसी की हिन्दी कल्पना सामने आती है। जहाँ प्रेयसी के लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया जाता है। दूसरे हिस्से में फ़ारसी का अनुकरण और अध्यात्म के रंगों की छटा मिलती है। लेकिन काव्य की विकास-यात्रा में वे जैसे-जैसे दिल्ली के करीब होते गये उनकी भाषा में बदलाव आये और अब उनके यहाँ अध्यात्म का स्वरूप प्रखरता से हिन्दू-ईरानी परम्परा के नज़दीक होने लगा। जहाँ प्रेयसी का सौन्दर्य-वर्णन करते समय उसके लिए पुल्लिंग का इस्तेमाल किया जाता है। वली के यहाँ अध्यात्म का अस्ली और स्थायी रंग इसी अध्यात्म है।

2.1.08. वली की शाइरी

वली की शाइरी को समझने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि ग़ज़ल का प्रत्येक शेर अपने आप में स्वतन्त्र कविता ही होता है। इसका ग़ज़ल के दूसरे शेर से सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं होता है। अतः इसे ध्यान में रखते हुए हम वली की ग़ज़ल को समझते हैं।

इस इकाई में हम वली की उन चुनिंदा रचनाओं पर बात करेंगे जो पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं और यह जानने की कोशिश करेंगे कि वली के समय में उर्दू काव्य की भाषा, वर्तनी और विषय क्या होते थे। इसके लिए वली की दो ग़ज़लें पाठ्यक्रम में शामिल की गई हैं जो इस तरह हैं –

(1)

किया तुझ इश्क़ ने ज़ालिम ख़राब आहिस्ता आहिस्ता

किया तुझ इश्क़ ने ज़ालिम ख़राब आहिस्ता आहिस्ता
कि आतिश[1] गुल कूं[2] करती है गुलाब आहिस्ता आहिस्ता

वफ़ादारी ने दिलबर की बुझाया आतिशे-ग़म[3] कूं
कि गरमी दफ़्अ[4] करता है गुलाब आहिस्ता आहिस्ता

अजब कुछ लुत्फ़ रखता है शबे-ख़िल्वत[5] में गुलरू[6] सूं
सवाल आहिस्ता आहिस्ता, जवाब आहिस्ता आहिस्ता

मिरे दिल कूं किया बेख़ुद तिरी अंखियां ने अय ज़ालिम
कि ज्यों बेहोश करती है शराब आहिस्ता आहिस्ता

अदा-ओ-नाज़[7] सूं आता है वो रौशन जबीं[8] घर सूं
कि ज्यों मश्रिक़[9] से निकले आफ़ताब आहिस्ता आहिस्ता

'वली' मुझ दिल में आता है ख़याले-यारे-बेपरवा
कि ज्यों अंखियां मनें आता है ख़्वाब आहिस्ता आहिस्ता

.....

1. आग
2. फूल को
3. दुःख की आग
4. हटाना, निवारण
5. तन्हाई (एकान्त) की रात
6. फूल-सा चेहरा
7. हाव-भाव और गर्व
8. प्रकाशित मुख
9. पूर्व दिशा (उदयाचल)

(i) वली कहते हैं कि तुम्हारे प्रेम ने मुझे धीरे-धीरे ख़राब किया है ठीक उसी तरह जिस तरह कि आँच फूल को धीरे-धीरे गुलाब करती है।

(ii) प्रेयसी के प्रेम-निर्वाह ने मेरे दुःख की अग्नि को शान्त कर दिया है जैसे कि गुलाब की ठंडक गर्मी को धीरे-धीरे शीतल करके मिटा देती है। इसमें प्रेयसी की प्रशंसा इस तरह की गई है कि वह सहज मालूम होती है। वे यह कह रहे हैं कि मेरी प्रेयसी शीतल है और उसकी तासीर गुलाब की तरह है जो ठंडी (शीतल) होती है।

(iii) कवि कहता है कि रात्रि के एकान्त में फूल-से चेहरे वाली प्रेयसी से धीरे-धीरे सवाल-जवाब करना कुछ अद्भुत आनन्द देता है। इस शेर की ख़ूबी यह भी है कि आहिस्ता-आहिस्ता लफ़्ज़ वार्तालाप की गति को भी दर्शाता है और उसकी तीव्रता को भी। यानी एक अर्थ यह भी हो सकता है कि रुक-रुक के सवाल-जवाब करना और दूसरा अर्थ जो स्पष्ट है कि धीमे स्वर में बात करना और इसके लिए एकान्त भी दर्शाया गया है।

(iv) ऐ ज़ालिम तेरी आँखों ने मेरे दिल को ऐसे बेख़ुद किया है जैसे शराब धीरे-धीरे बेहोश करती है। शाइर में आँखों की मादकता को शराब से उपमा दी है।

(v) प्रेयसी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह उदीयमान ललाट वाली प्रेयसी हाव-भाव और गर्व से जब अपने घर से आती है तो ऐसा लगता है जैसे पूरब से सूरज धीरे-धीरे निकल रहा है। ललाट की उपमा उदित होते सूरज से देकर शाइर ने विशेष ध्यानाकर्षित किया है क्योंकि उदय होते सूरज का आकार अथवा स्वरूप भी ललाट ही की तरह अर्द्धवृत्ताकार होता है। उस पर ख़ूबी यह कि व प्रकाशवान् भी है। प्रातःकालीन सूर्य लाल होता है जिसकी ओर आसानी से देखा भी जा सकता है।

(vi) शाइर स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहता है कि मेरे दिल में प्रेयसी का विचार इस प्रकार बेपरवाह आता है जिस प्रकार आँखों में धीरे-धीरे ख़्वाब आता है। शेर की ख़ूबी यह है कि ख़्वाब हमेशा अपनी मर्जी ही से आता है। कोई भी व्यक्ति चाह कर भी अपनी पसंद का या अपनी इच्छानुसार ख़्वाब नहीं देख सकता है।

(2)

सरोदे-ऐश गावें हम, अगर वो इश्वासाज़ आवे

सरोदे-ऐश[1] गावें हम, अगर वो इश्वासाज़[2] आवे
बजावें तब्ल शादी[3] के, अगर वो दिलनवाज़ आवे

ख़ुमारे-हिज्र[4] ने जिसके दिया है दर्दे-सर मुझकूं
रखूं नश्शा नमन अंखियां में गर वो मस्ते-नाज़ आवे

जुनूने-इश्क़[5] में मुझकूं नहीं ज़ंजीर की हाजत[6]
अगर मेरी ख़बर लेने कूं वो ज़ुल्फे-दराज़[7] आवे

'वली' उस गौहरे-काने-हया[8] की क्या कहूँ ख़ूबी
मिरे घर इस तरह आता है ज्यूं सीने में राज़[9] आवे

.....

1. ख़ुशी का गीत
2. हाव-भाव और गर्व दिखाने वाला (माशूक़)
3. ख़ुशी की दुन्दुभि (नक्क़ारा)
4. विरह का नशा
5. प्रेम-उन्माद
6. इच्छा, आवश्यकता
7. लम्बी अलकों वाला
8. लज्जा (शर्म) की खान का हीरा
9. भेद, मर्म

(i) शाइर कहता है कि हम मौज मस्ती के गीत गाएँ अगर वह हाव-भाव और गर्व दिखाने वाली प्रेयसी आए और ख़ुशी की दुन्दुभि बजाएँ अगर वह दिल को ढाढ़स बंधाने वाली प्रेयसी आए।

(ii) जिसके विरह के नशे ने मुझे सर का दर्द दिया है उसका नशा मैं अपनी नम आँखों में रखूँ अगर वह अदाओं से आनन्दित करने वाली प्रेयसी आए। शाइर ने शेर की पहली पंक्ति में खुमार शब्द का इस्तेमाल किया है। ख़ुमार दरअसल नशे के उतरने की अवस्था होती है जिसमें सर में एक भारीपन रहता है। दूसरी पंक्ति में आँखों में उस नशे को बरक़रार रखने की बात कही है।

(iii) प्रेम के उन्माद में मुझे किसी जंजीर की आवश्यकता नहीं है अगर मेरी मिज़ाजपुर्सी (रोगी को देखने और दिलासा देने के लिए जाना) के लिए वह लम्बी अलकों वाली 'प्रेयसी' आए। अक्सर देखा जाता है कि उन्मादी को रोकने के लिए जंजीर पहना दी जाती है और जब बाल अत्यधिक लम्बे हो जाते है तो वे घुँघराले बन जाते हैं जो जंजीर ही की तरह नज़र आते हैं। शेर की खूबी यह है कि शाइर ने प्रेयसी के बालों की जंजीर मिल जाने की मुनासिबत (सम्बद्धता) साबित कर दी और उसके सौन्दर्य का वर्णन तो है ही।

(iv) शाइर कहता है कि मैं उस लज्जा रूपी खान के रत्न की तारीफ़ क्या करूँ वह मेरे घर ऐसे रहस्यमय तरीके से आता है जैसे हृदय में रहस्य आता है अर्थात् किसी को कानों-कान खबर तक नहीं होती और उसके आने का रास्ता भी पता नहीं चलता।

2.1.09. वली का साहित्येतर योगदान

वली की साहित्यिक और धार्मिक जानकारी को नकारा नहीं जा सकता है। धार्मिक ज्ञान और अध्यात्म की पारिभाषिकी का उन्होंने भरपूर इस्तेमाल किया है और फ़ारसी साहित्य पर उनकी गहरी पकड़ तो स्पष्ट है ही इसीलिए तो शाह गुलशन ने उनको मश्वरा दिया था कि फ़ारसी काव्य-विषय को उर्दू में इस्तेमाल करो। वली अनेक इल्म और धार्मिक पुस्तकों के ज्ञाता थे। उनके काव्य में कुरआन की आयतों और हदीस का प्रभाव देखा जा सकता है। हालाँकि मुहम्मद हुसैन आजाद 'आबे-हयात' में उनको पढ़ा-लिखा नहीं मानते हैं। नुरूलहसन हाशमी लिखते हैं कि उनके कलाम में ऐसे प्रभाव की अधिकता देखकर यह भ्रम होने लगता है कि इल्म के जानकार होने के अलावा उनका सम्बन्ध किसी मदरसे या अध्यापन के कार्य से भी रहा हो।

वली ने 'नूरुल-मारिफत' के नाम से फ़ारसी में एक पत्रिका भी लिखी थी। कुछ लोगों का मानना है कि यह पत्रिका तसव्वुफ़ (अध्यात्म) से सम्बन्धित है लेकिन वास्तव में यह पत्रिका मदरसा हिदायत बख़्श, नामी की प्रशंसा में लिखी गई है। इस पत्रिका में वली ने मदरसे की प्रशंसा के अलावा मौलाना नुरुद्दीन सिद्दीकी और उनके पुत्र की प्रशंसा की है।

उल्लेखनीय है कि उस समय साम्प्रदायिक सद्भाव का माहौल था। इसका प्रमाण यह है कि वली ने अपने काव्य में हिन्दू मित्रों का उल्लेख बहुत ही अपनेपन से किया है। जिनमें अमृतलाल, खेमदास, गोविन्द लाल और विनोद प्रमुख हैं।

2.1.10. वली के समकालीन शाइर

वली ने अपनी शाइरी में अपने समकालीनों का भी ज़िक्र किया है। इनमें नुसरती, फिराक़ी, नासिर अली सरहिन्दी और फ़कीरुल्लाह आज़ाद प्रमुख थे। जिनका ज़िक्र वली ने अपने कलाम में भी जा-ब-जा किया है। सम्भवतः इनसे वली की चश्मक (साहित्यिक नोंक-झोंक) भी चलती रहती थी। जैसे वली का यह शेर मुलाहिजा फरमाइए –

पड़े सुन कर उछल ज्यूं मिस्र:-ए-बर्क़
अगर मिस्र: लिखूं नासिर अली कूं

इसके जवाब में अज़ीज़ दक्कनी ने लिखा है –

ब-एजाज़े-सुखन गर उड़ चले तूं
न पहुँचेगा 'वली' हरगिज़ अली कूं

फिराक के लिए वली ने लिखा है –

तिरे अश्आर ऐसे नई फिराक़ी
कि जिस पर रश्क आवेगा वली कूं

2.1.11. परवर्ती शाइरों पर वली का प्रभाव

वली की शाइरी उर्दू साहित्य में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है क्योंकि उनका असर आने वाली पीढ़ियों पर भरपूर नज़र आता है। उनकी शाइरी गंगा-जमनी संस्कृति को समेटे हुए ऐसी कोशिश रखती है कि पढ़ने-सुनने वाले अनायास उसकी तरफ़ खिंचते चले आते हैं। इसीलिए मीर जैसा नाज़ुक दिमाग शाइर भी बहुत ही आदर के साथ ये कहता है कि –

वाकिफ़ नहीं हम यूं ही कुछ रेख़्ता गोई से
माशूक़ जो था अपना वाशिंदा दकन का था

उल्लेखनीय है कि उर्दू शाइरी की परम्परा में किसी को अपना माशूक़ मानने का मतलब यह होता है कि आपने उसे स्वयं से बढ़कर माना है और इसीलिए आप उस पर आसक्त हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वली के अनुकरण करने वाले शाइरों के समक्ष वली का स्थान क्या था।

उर्दू शाइरी विशेषतः ग़ज़ल की एक विशेषता यह है कि इसमें 'कथन' से अधिक 'कहन' को महत्त्व दिया जाता है जिसके फलस्वरूप इसमें काव्य-विषय की अपेक्षा काव्य-शैली अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वली के काव्य-विषयों को उनके परवर्ती शाइरों ने भी अपनाया जो उनके काव्य की श्रेष्ठता को प्रमाणित करता है। कुछ शेर मिसाल के तौर पर प्रस्तुत हैं –

रूह बख़्शी है नाम तुझ लब का
दमे-ईसा है नाम तुझ लब का

– वली

मस्त दिल है मुदाम तुझ लब का
जामे-सह्बा है नाम तुझ लब का

– आबरू

शग़्ल बेहतर है इश्क़बाज़ी का
क्या हक़ीक़ी ओ क्या मजाज़ी का

– वली

जो कि महरिम है इश्क़बाज़ी का
दिल से आशिक़ है जांगुदाज़ी का

– आबरू

है बजा उश्शाक़ की खातिर अगर नाशाद है
ग़म्जा-ए-ख़ूंख़्वार ज़ालिम बरससे-बर्बाद है

– हातिम

जिसे इश्क़श का तीर कारी लगे
उसे ज़िन्दगी क्यूं न भारी लगे

– वली

तिरी गाली मुझ दिल कूं प्यारी लगे
दु आ मेरी तुझ मन में भारी लगे

– फ़ाइज़

ख़ूबरु ख़ूब काम करते हैं
यक निगह में गुलाम करते हैं

– वली

जब सजीले ख़िराम करते हैं
हर तरफ क़त्ले-आम करते हैं

– फ़ाइज

हूं गरचे ख़ाकसार वले अज़रहे-अदब
दामन को तेरे हाथ लगाया नहीं हनूज़

– वली

दूर बैठा ग़ुबारेमीर उससे
इश्क़ बिन ये अदब नहीं आता

– मीर

मीर ने वली की ज़मीन में भी शेर कहे हैं। ज़मीन से तात्पर्य यह है कि इसमें ग़ज़ल के रदीफ़, क़ाफिये और उसकी बहर समान रहती है। मिसाल के तौर पर देखिए –

क्या हो सके जहां में तिरा हमसर आफ़्ताब
तुझ हुस्न की अगन का है यक अख़गर आफ़्ताब

– वली

मुँह धोने उसका आता तो है अक्सर आफ़्ताब
खावेगा आफ़्ताब कोई ख़ुदसर आफ़्ताब

– मीर

2.1.12. पाठ-सार

उर्दू ग़ज़ल के क्रमिक विकास को समझने और मौजूदा दौर में ग़ज़ल के स्वरूप तक आने में वली का अविस्मरणीय योगदान है। वली को इसीलिए उर्दू ग़ज़ल का प्रणेता माना जाता है। वली ने ग़ज़ल की फ़ारसीयत को उर्दू का स्वरूप दिया है और उसे इस क़दर लोकप्रिय बनाया है कि वह आज तक शाइरी, श्रोताओं और पाठकों की पहली पसंद बनी हुई है।

2.1.13. बोध प्रश्न

1. दक्कनी के क्रमिक विकास को स्पष्ट कीजिए।
2. वली की शाइरी को उर्दू शाइरी क्यों कहा जाए? तर्कसंगत जवाब दीजिए।
3. वली उर्दू के प्रारम्भिक शाइर कैसे कहे जा सकते हैं? युक्तियुक्त विवेचना कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 2 : बांग्ला – रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. तुलनात्मक साहित्य : संक्षिप्त रूपरेखा
    2.2.2.1. तुलनात्मक साहित्य का अर्थ
    2.2.2.2. तुलनात्मक साहित्य की परिभाषा
    2.2.2.3. तुलनात्मक साहित्य का स्वरूप
2.2.3. बांग्ला साहित्य : एक परिचय
2.2.4. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
2.2.5. 'ब्राह्मण' कविता
    2.2.5.1. 'ब्राह्मण' कविता में सन्दर्भित मानवीय मूल्य
    2.2.5.2. 'ब्राह्मण' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य
2.2.6. 'भारत तीर्थ' कविता
    2.2.6.1. 'भारत तीर्थ' कविता का भावगत वैशिष्ट्य
    2.2.6.2. 'भारत तीर्थ' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य
2.2.7. 'धूलि मन्दिर' कविता
    2.2.7.1. 'धूलि मन्दिर' कविता का भावबोध
    2.2.7.2. 'धूलि मन्दिर' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य
2.2.8. पाठ-सार
2.2.9. बोध प्रश्न

2.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. तुलनात्मक भारतीय साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा से परिचित हो सकेंगे।
ii. बांग्ला साहित्य के विषय में जानकारी हासिल करने के साथ ही साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेगें।
iii. 'ब्राह्मण' कविता में सन्दर्भित मानवीय मूल्य एवं उसकी शिल्पगत विशेषताओं से परिचित हो सकेगें।
iv. 'भारत तीर्थ' कविता के भाव बोध एवं शिल्पगत वैशिष्ट्यसे परिचित हो सकेगें।
v. 'धूलि मन्दिर' कविता के भावपक्ष एवं कलापक्ष के विषय में जानकारी हासिल कर सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

रवीन्द्रनाथ की कविताओं के माध्यम से समाज का एक ऐसा बिम्ब प्रस्तुत होता है, जो भारत देश की छोटी सी छोटी मान्यताओं को प्रस्तुत करते हुए एक समग्र मानवता के विराट फलक पर भारत की सभ्यता प्रस्तुत करती है। जहाँ कर्म भी है, यथार्थ भी है और यथार्थ की जमीन को तलाशती पूरी की पूरी मानवता अपने स्याह पक्ष को त्याग कर सात्विकता की माला में पिरोयी नजर आती है। जहाँ कवि के लिए कोई मानवीय वस्तु परायी नहीं है। रवीन्द्रनाथ की कविताएँ जितनी भारतीय है, उतनी ही सार्वदेशिक भी क्योंकि कवि इन कविताओं में उस गहराई तक उतरा है, जहाँ शाश्वत जीवन की धारा बहती है, जो हर रूप में जीवन की सृष्टि और निरन्तरता का चरम स्रोत है। रवीन्द्रनाथ की कविताएँ केवल इस अर्थ में सार्वभौमिक नहीं है कि सम्पूर्ण सच्ची कविता अपने तत्त्व रूप में सार्वभौमिक होती है, बल्कि वह इस अर्थ में सार्वभौमिक हैं कि उनकी अंकन पद्धति भारतीय दृष्टि से सार्वभौमिक है।

2.2.2. तुलनात्मक साहित्य : संक्षिप्त रूपरेखा

2.2.2.1. तुलनात्मक साहित्य का अर्थ

उन्नीसवीं शती का मध्य भाग यूरोपीय चिन्तन धारा का एक ऐसा युग था जब मध्य-पूर्व देशों तथा एशिया विशेष रूप से चीन, भारत तथा जापान के असमता-युक्त सांस्कृतिक क्षेत्रों और साहित्य से परिचित होने पर यूरोप के मानसिक क्षितिज का काफी हद तक विस्तार सम्भव हो पाया था। भारोपीय परिवार की भाषाओं के निकट सम्बन्धों का भी पता लगने पर विद्वानों का एक वर्ग विश्व साहित्य को एक समूची इकाई मानते हुए उसके अध्ययन में जुड़ना चाह रहा था। इधर भारत में रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी 'विश्व साहित्य' की बात करते हुए स्पष्ट कर रहे थे कि यह पृथ्वी विभिन्न टुकड़ों में बँटी हुई लोगों के रहने का अलग-अलग स्थान नहीं है, उनका साहित्य अलग-अलग रचित साहित्य नहीं है। प्रत्येक लेखक के द्वारा रचित साहित्य एक पूर्ण इकाई है तथा वह इकाई समूचे मानव समाज की सार्वभौम सृजनात्मकता की परिचायक है। विश्व साहित्य जिसे अंग्रेजी में 'कम्पैरेटिव लिटरेचर' कहा जाता है इस सार्वभौम सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति है।

तुलनात्मक साहित्य अंग्रेजी के 'कम्पैरेटिव लिटरेचर' का हिन्दी अनुवाद है। एक स्वतन्त्र विद्या शाखा के रूप में विदेश तथा भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इसके अध्ययन-अध्यापन के कार्य को विशेष महत्त्व दिया जाता रहा है। विदेश में इसे सांस्कृतिक अध्ययन के नाम से भी जाना जाता है। अंग्रेजी के कवि मैथ्यू आर्नल्ड ने सन् 1884 में अपने एक पत्र में सबसे पहले 'कम्पेरेटिव लिटरेचर' पद का प्रयोग किया था, परन्तु प्रारम्भ में ही इसके शाब्दिक अर्थ को लेकर विवाद रहा क्योंकि साहित्य यदि कहानीकार कवि आदि की सृजनशील कलात्मक अभिव्यक्ति है तो वह किसी तरह तुलनात्मक नहीं हो सकता। साहित्य की प्रत्येक कृति अपने आप में पूर्ण होती है और साहित्य सृष्टि में कहीं दूसरे साहित्य के साथ उसकी तुलना की ज़रूरत नहीं होती। 'तुलनात्मक' शब्द साहित्य सृष्टि के सन्दर्भ में प्रयोग में नहीं लाया जा सकता। वस्तुतः रेन वेलेक ने इस प्रश्न को उठाकर ऐतिहासिक

अर्थ विज्ञान की सहायता से इसका उत्तर देने का प्रयत्न किया है। 'तुलनात्मक' शब्द में तुलना करने की प्रक्रिया जुड़ी हुई है और तुलना में वस्तुओं को कुछ इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है जिससे उनमें साम्य तथा वैषम्य का पता लग सके। इसी दृष्टि से अंग्रेजी में 'तुलनात्मक' शब्द का प्रयोग लगभग सन् 1598 से हो रहा है क्योंकि इसी समय फ्रांसिस मेयरस ने इसी अर्थ को ध्यान में रखकर एक पुस्तक लिखी थी जिसका शीर्षक था 'ए कम्पैरेटिव डिसकोर्स ऑफ आवर इंग्लिश पोयट्स विद द ग्रीक लैटिन एण्ड इटालियन पोयट्स', परन्तु 'तुलनात्मक' तथा 'साहित्य' इन दो शब्दों का युग्म प्रयोग करते हुए पहले-पहल मैथ्यू आर्नाल्ड ने जब 'तुलनात्मक साहित्य' पद की सृष्टि की तब उनका कहना था कि पिछले 50 वर्षों के 'तुलनात्मक साहित्य' पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप की तुलना में इंग्लैण्ड इस मामले में काफी पिछड़ा हुआ है। वेलेक का कहना है कि यहाँ 'तुलनात्मक' का अर्थ 'तुलनीय' की अपेक्षा और अधिक कुछ नहीं है। सन् 1886 में अपनी एक पुस्तक का शीर्षक 'कम्पैरेटिव लिटरेचर' रखकर सर्वप्रथम एच.एम. पासनेट ने इस विद्या शाखा को स्थायित्व प्रदान करने का प्रयत्न किया था। बाद में सन् 1901 में 'कॉन्टेंपोररी रिव्यू संख्या स्म्प्प्' में 'द साइंस ऑफ कम्पैरेटिव लिटरेचर' के नाम से उनका एक लेख भी प्रकाशित हुआ। इससे कम से कम यह प्रतीत होता है कि बीसवीं सदी की शुरुआत से कम्पैरेटिव लिटरेचर का प्रयोग शुरू हो गया था। वस्तुतः यह एक न्यून शब्द है और इसका अर्थ है, साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन।

2.2.2.2. तुलनात्मक साहित्य की परिभाषा

तुलनात्मक साहित्य एक से अधिक भाषाओं में रचित साहित्य का अध्ययन है और तुलना इस अध्ययन का मुख्य अंग है। मगर क्रोचे का कहना है कि – "तुलनात्मक साहित्य एक स्वतन्त्र विद्यानुशासन बन ही नहीं सकता क्योंकि किसी भी साहित्यिक अध्ययन के लिए तुलना एक आवश्यक अंग है।" दूसरे विद्वानों का भी कहना है कि "साहित्य का अध्ययन करते हुए तुलना करने का मतलब सीधे साहित्य का अध्ययन करना ही है, क्योंकि अरस्तु के समय से ही 'तुलनात्मकता' आलोच्यात्मक व्यवहार का एक आवर्तक आयाम रहा है।" चाहे एक भाषा में लिखित साहित्य का अध्ययन हो अथवा एक से अधिक भाषाओं में लिखित तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन हो, दोनों ही स्थितियों में अध्ययन का केन्द्रीय विषय साहित्य ही है इसीलिए तुलनात्मक साहित्य को किसी एक भाषा में लिखित साहित्य के अध्ययन से अलग नहीं किया जा सकता। तुलनात्मक साहित्य में विभिन्न भाषाओं में लिखित साहित्यों अथवा उनके संक्षिप्त घटकों की साहित्यिक तुलना होती है और यही उसका आधार तत्त्व है। तुलनात्मकता एक विशेष प्रकार की मानसिकता अथवा मानसिक दृष्टि है। उदाहरण के लिए एक ही भाषा में लिखित साहित्य के अन्तर्गत दो समान या असमान रूपों या प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, जैसे मीराबाई के भक्तिमूलक गीतों के साथ महादेवी के रहस्यात्मक गीतों की तुलना तो इसको तुलनात्मक साहित्य कहना सम्भव नहीं क्योंकि इसमें सांश्लेषिक मानसिक दृष्टि से विस्तार की सम्भावना नहीं होगी। फिर दो या उससे अधिक भाषाओं में रचित साहित्य के समान या असमान रूपों या प्रवृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, जैसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के द्वारा रचित बांग्ला गीतों की मिर्ज़ा गालिब के द्वारा लिखी गई उर्दू ग़ज़ल के साथ तुलना की जाय तो इसको तुलनात्मक साहित्य कहा जासकेगा। मगर उसे एक ही राष्ट्र की परिधि में प्रसारित

बहुभाषिक साहित्य के आश्रय से निर्मित तुलनात्मक साहित्य कहा जाएगा। जब तुलना किसी एक राष्ट्र की परिधि को पार करके दूसरे राष्ट्रों की भाषाओं में लिखित साहित्य को भी अपने में समेट लेती है । जैसे मीरा के गीतों का अध्ययन करते हुए जब उसकी अर्थ छवियों की ईरान में उद्भावित सूफी रहस्यात्मक गीतों अथवा अंग्रेजी के रहस्यवादी कवि, ब्लेक या डेन की कविताओं के साथ तुलना की जाती है तो उसको निश्चय ही तुलनात्मक साहित्य कहा जाएगा । अलग-अलग देशों में जैसे जर्मनी, आस्ट्रिया तथा स्विट्जरलैंड में रहने वाले विभिन्न लेखक जब एक ही जर्मन भाषा में अथवा आयरलैण्ड और अमेरिका में रहने वाले लेखक जब एक ही अंग्रेजी भाषा में उपन्यास या कविता लिखते है तो विभिन्न राष्ट्रों के राजनैतिक तथा सामाजिक परिवेश में अन्तर के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है।

तुलनात्मक साहित्य एक अध्ययन पद्धति मात्र होने के बजाय एक स्वतन्त्र ज्ञानानुशासन का रूप ले चुका है। तुलनात्मक साहित्य अध्ययन को लेकर सबसे बड़ी भ्रान्ति तुलनीय साहित्यों की भाषाओं की विशेषज्ञता को लेकर है। केवल भाषाज्ञान से साहित्यिक अध्ययन की समझ हासिल हो जाना ज़रूरी नहीं है, इसलिए तुलनीय साहित्यों के मूल भाषाज्ञान पर तुलनात्मक साहित्य अध्ययन के प्रस्थान बिन्दु के रूप में अतिरिक्त बल देना इस अनुशासन से अपरिचय का द्योतक है। किसी भी भाषा की विशेज्ञता निश्चित रूप से भाषा ज्ञान का अनिवार्य अंग है, लेकिन यह मानना कि भाषाज्ञान के बिना साहित्य का अध्ययन सम्भव नहीं है, एक भ्रान्ति है । दरअसल अनुवाद को तुलनात्मक साहित्य के सहचर के रूप में देखना चाहिए। अनुवाद के माध्यम से हम अन्य, अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्य से अवगत हो सकते है।

2.2.2.3. तुलनात्मक साहित्य का स्वरूप

तुलनात्मक साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी में जब प्रारम्भ हुआ उस समय यूरोप में प्रायः सभी नवोदित राष्ट्र, राज्य साम्राज्यवादी वर्चस्व के लिए संघर्ष में उलझे हुए थे। वे एक भाषा एक राष्ट्र के साथ ही एक साहित्य की धारणा को साकार करने में हठपूर्वक संलग्न थे। सम्पूर्ण यूरोप की आधार प्रेरणा ग्रीक तथा मध्ययुग की साझी भाषा लैटिन होने के बावजूद फ्रांस में फ्रेंचभाषा, फ्रेंच साहित्य, इंग्लैण्ड में अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य, स्पेन में स्पेनिश भाषा, स्पेनिश साहित्य आदि का दुर्निवार्य आग्रह बढ़ रहा था। इसमें केवल स्वीट्जरलैण्ड और बेल्जियम अपवाद थे। इन्हीं राष्ट्रीय साहित्यों की प्रतिक्रिया में यूरोप की शान्ति और एकता के लिए तुलनात्मक साहित्य क्रमशः विकसित हुआ।

तुलनात्मक साहित्य का उद्भव मूल यूरोपीय होने और अपने विकास क्रम में यूरो-अमेरिकी हितों के पोषण के लिए साधन रूप में इस्तेमाल किये जाने के बावजूद वह अपने आकाओं के हाथ से फिसलता गया। अपने नाना रूपों और अवतारों में उसने क्रमशः एक विस्तृत बहुलतापूर्ण और लोकतान्त्रिक मानवीय परिवेश को सम्भव बनाने के लिए अपने नियन्ताओं से विद्रोह किया है। उसकी इसी प्रवृत्ति से तंग आकर उसे एरिया स्टडीज, कल्चर स्टडीज, लिटरेरी थ्योरी आदि से विस्थापित करने तथा उसे एक ग्लोबल रूप में अवतरित करने की कोशिश हुई और जब इससे यूरो-अमेरिकी हितों की सिद्धि असम्भव जान पड़ने लगी तो उसके मृत्यु की घोषणा

की जाने लगी। लेकिन तुलनात्मक साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि उसने अपने क्षेत्र में सर्वसत्तावादी विचारधाराओं और अन्धराष्ट्रवाद या अन्धपरम्परावाद की पोल खोल दी। इसलिए उसके विरोधियों में कट्टर वैचारिक, अन्धराष्ट्रवादी और अन्ध परम्परावादी सभी सम्मिलित हो गए।

हिटलर की जर्मनी और स्टालिन के सोवियत संघ में 'तुलनात्मक साहित्य' की कोई जगह नहीं थी। इन्हीं शक्तियों के द्वारा 'एकराष्ट्र भाषा साहित्य', फार्मूले की हदबंदी कर विभिन्न साहित्यों के बीच एक अभेद्य दीवार खड़ी की जाती रही और पूरी चौकसी बरती जाती रही कि इसमें कोई दरार न पड़ने पाए। सभी संकीर्णताओं के बावजूद तुलनात्मक साहित्य अनुवाद का दामन पकड़कर निरन्तर आगे बढ़ती गई।

नये माध्यमों में साहित्य के संचरण और रूपान्तरण के कारण फिल्म और मीडिया भी साहित्य की नयी विधाएँ हो गई हैं, इस कारण ये तुलनात्मक साहित्य की अध्ययन परिधि में स्वभावतः आ गये हैं। इसी प्रकार साहित्य में अपने विभिन्न अस्मितावादी विमर्श जैसे – दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श आदि तथा लोकसाहित्य भी इसके दायरे में आ गये है। इन्हीं विभिन्न कारणों से चर्चा का विषय बना तुलनात्मक साहित्य का अभिजात्य प्रश्नांकित हुआ है।

स्पष्टतः ही उसका स्वरूप पूरी तरह से अन्तर अनुशासनिक और लोकतान्त्रिक हो गया है। साहित्य के मूल चरित्र के अनुरूप अब कोई भी विषय क्षेत्र उसके दायरे के बाहर नहीं है। इस प्रकार तुलनात्मक साहित्य को मूलतः साहित्यों का गणतन्त्र कहा जा सकता है और मानविकी के प्रस्थान से समस्त ज्ञानानुशासनों के संयोजक केन्द्र के रूप में उसे संयुक्त राष्ट्र संघसे सम्बद्ध कहा जा सकता है।

तुलनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अनेकानेक गतिविधियाँ शामिल हैं। 'तुलनात्मक साहित्य' साहित्य के लिए एक सार्थक पहल माना जा सकता है। आमतौर पर तुलनात्मक साहित्य को 19वीं सदी की उपज माना जाता है, किन्तु थोड़े से भिन्न भाव से देखें तो सारा साहित्य ही तुलनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आता है, साहित्यिक आलोचना और समीक्षा के क्षेत्र में यह बोध प्रारम्भ में ही विकसित होना शुरू हो गया था। उदात्त की तलाश में ग्रीक, रोमन और हिब्रू साहित्य की दिशाओं का परीक्षण करते हुए लोंजाइनस ने पहले ही इस विषय को गहनता से समझ लिया था।

निश्चित रूप से 'तुलनात्मक साहित्य' और 'विश्व साहित्य' यूरोप में 18वीं सदी के आखिरी चतुर्थांश में राष्ट्रीय साहित्य (नेशनल लिटरेचर) की प्रतिक्रिया तथा प्रतिरोध के रूप में सामने आये। यह वह समय था, जब यूरोप में राजशाही तथा सामन्तवादी साम्राज्य के बिखराव के साथ राष्ट्र (नेशन) अस्तित्व में आ चुके थे। पश्चिम में राष्ट्र का अर्थ था – एक भौगोलिक क्षेत्र, एक पंथ या धर्म, एक प्रजाति, एक भाषा, एक साहित्य।

फिलहाल विश्व और विश्व साहित्य किसी की खास सम्पत्ति नहीं है, पर विजेता और प्रभुतासम्पन्न समाज इसे हथिया लेते हैं और अपने अनुकूल अवधारणा को स्थापित कर व्यवहार में थोपने की कोशिश करते हैं। मैथ्यू ऑर्नाल्ड, जिन्होंने 1346 में अपनी बहन को लिखे पत्र में बहुवचन संज्ञा 'तुलनात्मक साहित्यों' का प्रयोग किया

था, उनका विश्व यूरोप और उसमें भी विशेषकर ग्रीक लैटिन तथा फ्रेंच समाज व साहित्य तक सीमित था। उनके बाद आये टी.एस. इलियट, जिन्होंने ऑर्नाल्ड को प्रोपेगंडावादी बताया था। उनकी आलोचना की दुनिया यूरोप तक सीमित थी, पर उनके सृजनात्मक साहित्य की दुनिया में यूरोप के बाहर की सभ्यताएँ और देश जैसे मिस्र और भारत भी शामिल थे।

चूँकि यूरोप का 19वीं सदी में प्रभुत्व बढ़ा अतः 'विश्व साहित्य' की यूरोपीय अवधारणा को व्यवहार में स्वीकृति मिली। उपनिवेशकाल में स्थापित आधुनिक विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी या यूरोपीय साहित्य के विभागों में 'वर्ल्ड क्लासिक्स' का पाठ्यक्रम रखा गया, जिसमें विश्व की श्रेष्ठ कालजयी रचनाओं को पढ़ाया गया। उनमें रामायण, महाभारत, होमर के इलियड या ओडेसी दाँते की डिवाइन कॉमेडी, मिल्टन का 'पैराडाइज लॉस्ट या सोफोक्लीज, कालीदास, सेक्सपियर, कार्नेल आदि प्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं को चुनकर रखा गया था। चूँकि यूरोप 'वर्ल्ड लिटरेचर' की अवधारणा का प्रणेता था अतः स्वाभाविक था कि मुख्यतः यूरोप की श्रेष्ठ रचनाएँ उसका हिस्सा बनती।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से भारत में विश्वविद्यालयों की स्थापना के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य पर शोध के लिए तुलनात्मक साहित्य की अध्ययन प्रविधि प्रयोग में लायी जानी शुरू हुई, लेकिन इससे अपरिचित होने के कारण भारतीय साहित्य पर एक सघन-सम्पूर्ण इकाई के रूप में ध्यान नहीं दिया जा सका और अधिकांश शोधकार्य भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में रचित साहित्यों का योगफल बनकर रह गए।

बहुभाषी राष्ट्र होने के कारण हम एक दुर्बोध संवेदनशीलता के साथ जीते हैं। हमारे लिए विभिन्न भाषाओं में रचे गये अपने साहित्य की क्षेत्रीय, सामाजिक और ऐतिहासिक विशेषताएँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी आखिल भारतीय स्तर पर भारतीयता।

2.2.3. बांग्ला साहित्य : एक परिचय

बांग्ला, पूर्वांचल की भाषाओं में सर्वाधिक समर्थ एवं साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध भाषा है। संस्कृत से विकसित आधुनिक आर्य भाषाओं में बांग्ला आज भी संस्कृत के सर्वाधिक निकट है। वर्तमान बांग्ला भारत के बंगाल प्रान्त और बांग्लादेश की भाषा है। बांग्ला का विकास मागधी प्राकृत से हुआ है। उल्लेखनीय है कि इसी मागधी, प्राकृत और अपभ्रंश से हिन्दी की बिहारी बोलियों का भी विकास हुआ है जिनमें भोजपुरी, मगही और मैथिली की गणना होती है। मैथिली न केवल बांग्ला की सीमावर्ती है वरन उसके निकट भी है। बांग्ला और बिहारी के अतिरिक्त असमिया और उड़िया भी मागधी से विकसित हुई है। बांग्ला साहित्य का विकास हिन्दी के समानान्तर हुआ। जिस सिद्ध साहित्य से हिन्दी की परम्परा प्रारम्भ हुई, उसी से बांग्ला का विकास भी हुआ है। सिद्धों का दोहा साहित्य अपभ्रंश मिश्रित हिन्दी है जिसे पुरानी हिन्दी कहा जाता है। नाथों के चरित का वर्णन बांग्ला में मिलता है। उनमें गोरखनाथ, भरथरी और गोपीचन्द की कथाओं का वर्णन है। ये लोककथाएँ सभी भारतीय भाषाओं में मिलती है। इसलिए बांग्ला साहित्य के आदिकाल में चर्यापद ही प्रामाणिक हैं। 12वीं शती में

बंगाल के वैष्णव राजा लक्ष्मण सेन के आश्रित कवियों में संस्कृत कवियों का समादर था। उमापतिधर गोवर्धनाचार्य, धोयी और जयदेव उसके प्रश्रय में थे। इनमें जयदेव का 'गीत गोविन्द' परवर्ती वैष्णव काव्य का आधार ग्रन्थ है। 'गीत गोविन्द' से श्रीकृष्ण की भक्ति के माधुर्य भाव एवं पद शैली का विकास हुआ जिसका प्रभाव हिन्दी में विद्यापति तथा बांग्ला के चण्डीदास पर समान रूप से पड़ा। कुछ लोग जयदेव के 'गीत गोविन्द' को बांग्ला की कृति स्वीकार करते हैं जिसका संस्कृत में रूपान्तर हो गया है। बांग्ला के आदिकाल का रूप यहीं तक मिलता है। 19वीं शती तक बंगाल में मुस्लिम शासन स्थापित हो गया था। इस काल तक सम्पूर्ण बंगाल में जयदेव का प्रभाव पड़ चुका था।

14वीं शती में बांग्ला समाज में तीन कवि समादृत थे। पूरा वैष्णव समाज गीत गोविन्द, विद्यापति के पदों और चण्डीदास के पदों से अनुप्राणित था। इनमें चण्डीदास मूलतः बांग्ला कवि थे। चण्डीदास के पद लोककण्ठ पर विद्यमान थे। चण्डीदास का जीवन-परिचय जनश्रुतियों पर आश्रित है। चण्डीदास के अतिरिक्त विद्यापति के पदों का भी बंगाल में गायन होता आया है। विद्यापति के मैथिली गीत बांग्ला के कण्ठ से मिलकर हिन्दी और बांग्ला को नया रूप देने लगे। प्रारम्भ में उसकी भाषा को लेकर सन्देह हुआ क्योंकि वह न बांग्ला थी न हिन्दी फलतः उसे ब्रजबुलि नाम दिया गया। बांग्ला का मध्यकालीन वैष्णव काव्य इन दोनों कवियों का ऋणी है। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा होने के कारण इस काल में न केवल पदों की रचना हुई वरन् संस्कृत वैष्णव साहित्य के अनुवाद भी हुए। बांग्ला समाज और साहित्य पर मध्यकाल में सर्वाधिक प्रभाव डालने वाले चैतन्य महाप्रभु हैं। चैतन्य महाप्रभु का युग 1486 से 1533 तक माना जाता है। चैतन्य महाप्रभु अपने युग में ही नहीं तिरोभाव के पश्चात् भी बांग्ला समाज के लोकनायक रहे और उनके चरित गायन की परम्परा विकसित हुई। इस प्रकार 16वीं शती से अट्ठारहवीं शती तक बांग्ला साहित्य चैतन्य केन्द्रित रहा जिसे बांग्ला मध्यकाल का उत्तर काल कहा जासकता है। मध्यकाल में काशी, दरभंगा और नवद्वीप दार्शनिकों के गढ़ थे। आचार्य वसुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, रघुनन्दन भट्टाचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वानों का केन्द्र नवद्वीप था। चैतन्य स्वयं व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उत्तर मध्यकाल की वैष्णव बांग्ला काव्य परम्परा में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। गीतिकाव्य और चरित काव्य, गीतिकाव्य में मुरारी गुप्त, नरहरि सरकार, वासुदेव घोष, रामानन्द वसु प्रमुख हैं उनके अतिरिक्त ज्ञानदास, गोविन्द दास, बलरामदास, रायशेखर के नाम प्रमुख हैं।

चरित काव्य में, बांग्ला में वृन्दावनदास ने चैतन्य भागवत की रचना की। इसके अतिरिक्त लोचनदास-कृत चैतन्य मंगल, जयानन्द-चैतन्य मंगल तथा कृष्णदास कविराज का चरित्र ग्रन्थ है। हिन्दी की भाँति बांग्ला में भी आधुनिककाल अंग्रेजों के आगमन से प्रारम्भ हुआ। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दी में आधुनिककाल का प्रारम्भ बंगाल से हुआ। फोर्ट विलियम कॉलेज ही वह संस्थान हैं, जहाँ से हिन्दी और बांग्ला गद्य प्रारम्भ हुआ। विलियम कैरे और मृत्युंजय विद्यालंकार ने प्रारम्भ में पाठ्यपुस्तकें लिखकर बांग्ला गद्य का प्रारम्भ किया लेकिन प्रशस्त गद्य का प्रारम्भ राजा राममोहन राय की लेखनी से हुआ। बंगाल ही नहीं सम्पूर्ण उत्तरभारत में पुनर्जागरण पर राजा राममोहन राय का प्रभाव है। 1817 में कोलकाता में हिन्दू समाज की स्थापना करके अंग्रेजी और विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था की। उसी हिन्दू विद्यालय के छात्रों से 'तरुण बंगाल' का गठन हुआ। आधुनिक बांग्ला

साहित्य 'तरुण बंगाल' के सदस्यों से ही विकसित हुआ और बंगाल को एक महाकवि मिला जिसे हम माइकेल मधुसूदन दत्त के नाम से जानते है । माइकेल मधुसूदन दत्त की ब्रजांगना, वीरांगना, प्रसिद्ध कृतियाँ है किन्तु सर्वाधिक चर्चा हुई 'मेघनाथ वध' महाकाव्य से। माइकेल मधुसूदन दत्त के अतिरिक्त इस काल के अन्य कवियों में ईश्वर गुप्त, हेमचन्द्र, नवीन चन्द्र प्रमुख हैं। कविता के साथ इसी काल में उपन्यास विधा का भी विकास हुआ और बांग्ला साहित्य में बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय का उदय हुआ। यद्यपि इसके पूर्व बांग्ला में उपन्यास लिखा गया था, परन्तु उपन्यास कला की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण उपन्यास 1865 में बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा लिखा गया दुर्गेशनन्दिनी है।

2.2.4. रवीन्द्रनाथ ठाकुर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

हिन्दू जागरण के इसी वातावरण में रवीन्द्रनाथ टैगोर का अविर्भाव बांग्ला साहित्य की युगान्तरकारी घटना है। रवीन्द्रनाथ टैगोर बंगाल के कुलीन सम्पन्न और सुधारक परिवार में जन्मे और आध्यात्मिक वातावरण में पले-बढ़े। 17 मई 1861 ई. को रवीन्द्र ठाकुर का जन्म हुआ। पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर उदारवादी समाज सुधारक थे। संगीत और साहित्य को प्रश्रय देने में परिवार अग्रणी था। ऐसे राजसी वैभव में पले रवीन्द्रनाथ टैगोर की अध्यात्म और राष्ट्रप्रेम में गहरी आस्था हुई और उनके लेखन में ये दोनों तत्त्व समाहित हो गए।

अपने विराट व्यक्तित्व और गहरे प्रभाव की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ ठाकुर ऐसी सर्वतोन्मुखी सर्जक प्रतिभा से सम्पन्न हैं, जिसका सानी किसी देश में यदि हो भी तो कभी-कभी ही दिखलाई पड़ता है। उनके काव्य में रूप, कथ्य और अनुभूति का ऐसा परिष्कृत और सुसंगत रूप दिखाई पड़ता है, जो हमारी भाषा में अन्यत्र नहीं पाया गया। रवीन्द्रनाथ न तो माइकेल मधुसूदन दत्त की नयी कविता में और नहीं ही बिहारी लाल चक्रवर्ती की स्वच्छन्दतावादी कविता के क्रम में आते हैं। उनका काव्य पूर्णतः उनका अपना था, फिर भी उसकी जड़ें अपने देश की धरती में हैं। उन्होंने भारतीय कविता के प्रमुख स्रोतों का रस औरों से कहीं गहरे पिया था। वे भारतीय कवियों में सर्वाधिक भारतीय और साथ ही सबसे अधिक सार्वभौमिक कवि हैं, अंग्रेजी कविता से लेकर बांग्ला के बालगीतों तक और अत्यधिक जटिल शास्त्रीय सिम्फनी से लेकर सरलतम ग्रामीण धुनो तक। लेकिन जो कुछ वे ग्रहण करते थे उसे अपने रंग में रंग लेते थे।

रवीन्द्रनाथ का बचपन घर पर बीता परन्तु बीच-बीच में उन्हें हमेशा दूर और पास, बाहर निकलने की अदम्य लालसा होती थी। उन्होंने सम्पूर्ण सभ्य देश की यात्रा की थी और हर जगह उनका सहज हार्दिकता से स्वागत हुआ। कहीं भी जाकर वे हमेशा शान्तिनिकेतन में ही लौट आना चाहते थे। रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व बहुस्तरीय था। कवि की आत्मा की जिज्ञासा-वृत्ति आँख-मिचौनी के एक निरन्तर चलने वाले खेल के सदृश थी। निष्क्रिय कल्पना और अनन्त प्रयास, उद्भव और संघर्ष, अनुचिन्तन और सिद्धि एकान्तर ऋतुओं के रूपक का प्रयोग उनके काव्य की प्रिय युक्ति है। उनकी दृष्टि में यह प्रतीक है, उस विश्व का जो उद्भव और विलय में क्रम-क्रम से स्पन्दित होता रहता है, उस प्रकृति का जो रात और दिन में तथा जीवन और मृत्यु के बीच स्पन्दित होती है, और उसकी अपनी नियति का भी जो ज्ञात और अज्ञात के बीच झूलती है, जो असिद्ध और सिद्ध के बीच लटक

रही है, और सत्य और असत्य के बीच दोलायमान है। एक गीत में उन्होंने कहा है – "रूदन-हास के झूले, पौष-फागुन के रूपक के मध्य आजीवन गीतों की डलिया वहन किये चलूँ, क्या यही तुम्हारी मर्जी है ? इसीलिए क्या तुमने मुझे स्वरों की गन्ध में ढली हुई माला पहनायी है।"

आरम्भ से ही स्कूल जाना रवीन्द्रनाथ को अरुचिकर लगा था और उन्हें अपने घरेलू शिक्षा से अलग नहीं किया जा सका। रवीन्द्रनाथ के घर का वातावरण सांस्कृतिक आवेग की जीवन्त धाराओं से हमेशा आविष्ट रहता था जिनमें आत्मसात् करने वाली और सृजन करने वाली दोनों धाराएँ शामिल थीं। उपनिषदों के कथ्य के प्रति उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर का आकर्षण, उनकी उपासनामय विश्वविद्यालय की धारणा, भारतीय विचारधारा और संस्कृति के मूलतत्त्वों में उनकी गहरी निष्ठा और निर्माणोन्मुख देशभक्ति के लिए उनके उत्साह ने उनके घर को भारत में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का केन्द्र बना दिया था।

युवावस्था तक पहुँचने से पहले ही रवीन्द्रनाथ ने जयदेव के गीतों की जटिल छन्द रचना को लय से पढ़ लिया था और बांग्ला की सभी पठनीय पुस्तकों को पढ़ लिया था, जिनमें बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यास भी शामिल थे। चण्डीदास और विद्यापति के वैष्णव पद भी जो उनके समय ही में प्रकाशित हुए थे।

साहित्य, संगीत और आध्यात्मिक चेतना रवीन्द्रनाथ ठाकुर के परिवार को विरासत में मिली थी। समृद्धि और संस्कार से जुड़े राजसी वैभव वाले परिवार में बालक रवीन्द्रनाथ टैगोर को प्रारम्भिक संस्कार वहीं से मिले और उनकी रुचि साहित्य में हुई। किशोरावस्था में ही उन्होंने 'भानु सिंहेर' पदावली नामक रचना की। 1877 में 'भारती' नामक रचना लिखी थी। एक ओर जीवन में उनका लेखन था तो दूसरी ओर पारिवारिक जमींदारी का दायित्व और देश-प्रेम तथा सामाजिक सुधार की भावना। शैक्षिक विकास के लिए उन्होंने 1901 में बच्चों के लिए 'शान्ति निकेतन' स्कूल की स्थापना की। कुछ समय के लिए वे ब्रह्म समाज से जुड़े और उसके सचिव भी रहे।

1883 में उनका विवाह हुआ। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जीवन के इस क्रम को जारी रखते हुए देश की स्वतन्त्रता के लिए सहयोग किया। इसके साथ ही विश्व के विभिन्न देशों का भ्रमण करते हुए भारतीय जन की आवाज वहाँ तक पहुँचायी। उन्होंने यूरोप, अमरीका, एशिया, अरब, ईरान में व्याख्यान देकर भारतीय संस्कृति का महत्त्व रेखांकित किया। 1905 में बंग विभाजन के आन्दोलन में वे सम्मिलित हुए। उनकी 'सोनार बांग्ला' रचना उसी समय लिखी गई। 1891 के कोलकाता कांग्रेस के अधिवेशन में लिखा गया 'जन-गण-मन' भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रगान बना। रवीन्द्रनाथ ऐसे एकमात्र कवि हैं जिनके दो गीत दो पृथक् राष्ट्रों के राष्ट्रगीत हैं। जहाँ 'जन-गण-मन' भारत का राष्ट्रगान है, वहीं 'सोनार बांग्ला' बांग्ला देश का।

साहित्य के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ टैगौर ने सर्वाधिक योगदान शिक्षा के क्षेत्र में किया। वे प्राकृतिक वातावरण में तथा मातृभाषा में शिक्षा के समर्थक थे। अंग्रेजों की शिक्षा नीति के वे घोर विरोधी थे। 1892 में उन्होंने 'शिक्षा हेरफेर में' ब्रिटिश शिक्षा नीति की कटु आलोचना की। 1921 में विश्वभारती का उद्घाटन हुआ पर 1926 में उसे कोलकाता विश्वविद्यालय के अधीन कर दिया गया।

विश्वभारती रवीन्द्रनाथ टैगोर की शिक्षा नीति की परिकल्पना का साकार रूप थी। शिक्षा, संस्कृति और साहित्य में अविस्मरणीय योगदान देने वाले रवीन्द्रनाथ टैगोर का देहावसान 7 अगस्त 1941 को हुआ।

रवीन्द्रनाथ टैगोर मूलतः कविमना थे। सौन्दर्य और अध्यात्म उनकी कविता के केन्द्र में थे। साहित्यकार होने के कारण उनकी व्यावहारिक क्षेत्रों में समस्याओं से संघर्ष करना पड़ा पर उनका सृजन जारी रहा। उन्होंने किशोरावस्था से ही सृजन प्रारम्भ किया और साहित्य की प्रत्येक विधा में रचनाएँ की। लगभग 50 काव्य संग्रहों, 40 कहानियों और अनेक नाटकों और उपन्यासों का सृजन उनके द्वारा किया गया। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं –

काव्य : सांध्य संगीत, बलाका, शेष लेखा, मानसी, सेनारतरी, क्षणिका, प्रभात संगीत, गीतांजलि इत्यादि

उपन्यास : बहुरानी का घर (1883), राजर्षि (1887), आँख की किरकिरी (1903), नौका डूबी (1906), गोरा (1909), चतुरंग (1916), घरे बाहरे, योगायोग (1926) शेषेर कविता (1930), दो बहनें (1933), उपवन (1934), चार अध्याय (1934) आदि। इनमें 'गोरा' और 'शेषेर कविता' का बांग्ला कथा साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कहानी : काबुलीवाला, क्षुधित, पाषाण, एकरात्रि, कन्यादान, शास्ति, महामाया, दीदी, लेन-देन इत्यादि। इनमें 'काबुलीवाला', 'क्षुधित' और 'पाषाण' कहानियाँ चित्रपट पर भी प्रदर्शित हुई हैं। 'एकरात्रि', 'कन्यादान', 'शास्ति', 'महामाया' आदि कहानियों को प्रेम कहानियों की श्रेणी में परिगणित किया जाता है जबकि 'दीदी', 'लेन-देन' जैसी कहानियाँ सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हैं।

नाटक : बाल्मिकी प्रतिभा (1881), कालमृगया (1882), रूद्रचन्द (1881), राजा और रानी (1889), विसर्जन (1890), चित्रांगदा (1892), विदाई-अभिशाप (1894), गान्धारी का आवेदन (1897), नरकवास, सती, मुकुट (1901) प्रायश्चित (1907), शरदोत्सव (1908), राजा (1910), अचलायतन (1912), डाकघर (1912), फाल्गुनी (1916), रक्तकरणी, गृह प्रवेश, चाण्डालिका, ताराघर, हास्य कौतुक (1909), व्यंग्य कौतुक (1907) इत्यादि। इनमें 'गृह प्रवेश', 'चाण्डालिका', 'ताराघर' जैसे नाटक सामाजिक परिपार्श्व एवं नये शिल्प प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जबकि 'हास्य कौतुक' और 'व्यंग्य कौतुक' व्यंग्य नाटकों में प्रमुख हैं।

2.2.5. 'ब्राह्मण' कविता

2.2.5.1. 'ब्राह्मण' कविता में सन्दर्भित मानवीय मूल्य

रवीन्द्रनाथ उन साहित्य स्रष्टाओं में हैं, जिन्हें काल की परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। प्रतिभावान् व्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वे जाति के अवचेतन या अर्द्धचेतन मन को अनुप्रेरित करने वाले आवेगों और भावनाओं को रूप देते हैं। इस प्रकार अपनी जाति के साथ उनका एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी से यह बात समझी जा सकती है कि जब किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति का आविर्भाव होता है, तब लोग श्रद्धा और आश्चर्य से उसका अभिनन्दन क्यों करते हैं। जनचित्त उसके शब्दों और कार्यों में अपनी उन भावनाओं और आशा-आकांक्षाओं का मूर्त रूप पाता है। वे जाति के मस्तिष्क को अनुप्रेरित करने वाली, अपरिपक्व भावनाओं और स्पष्ट आशा-आकांक्षाओं से शक्ति ग्रहण करते हैं। इन दोनों ही दृष्टियों से रवीन्द्रनाथ प्रतिभा के अनूठे उदाहरण हैं। जिन साधारण लोगों से उन्होंने प्यार किया और जिनके लिए वे जिये थे उनके जीवन से भी उनका गहरा और घनिष्ठ सम्बन्ध था। इतना ही नहीं, धरती को इतने प्राण-पण से प्यार करने वाला कोई दूसरा कवि शायद कभी हुआ, धरती से तात्पर्य सिर्फ प्राकृतिक क्रिया-कलाप ही नहीं बल्कि धरती पर निवास करने वाले समस्त दुःख-दर्द से आप्लावित मानव उनके कविता के केन्द्र ही नहीं बने बल्कि कविता के माध्यम से उन्होंने उनका मार्ग प्रशस्त भी किया। अनगिनत कविताओं एवं गीतों में उन्होंने मनुष्य के प्रति अपने प्रेम को उड़ेला है। मनुष्य के हृदय की शायद ही ऐसी कोई संवेदना हो, जिसने उनके हृदय को स्पन्दित न किया हो। दुःख-सुख से भरे मानव की गहन प्रेम-लीला की हजारों अभिव्यक्तियाँ कुछ ऐसे शब्दों में समायोजित हो गई हैं, जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता। नैराश्य मन की व्यथा तथा निष्फल प्रतीक्षा की असाध्य पीड़ा का सजीव चित्रण पाठक को विस्मय में डाल देता है।

'ब्राह्मण' कविता की शुरुआत भी प्रकृति के सुरम्य वातावरण में होती है जहाँ भारत की ऋषि परम्परा अपने गुरुकुल प्रणाली में शिक्षा के आदान-प्रदान के साथ कर्म की एक व्यापक परिदृश्य को लेकर अवतरित हो रही है। सरस्वती का सुरम्य तीर, सायंकाल का समय, लकड़ी के बोझों को सिर पर लिये ऋषि पुत्रगण का शिक्षा के साथ-साथ कर्म। निश्चित रूप से कवि का मानस प्रकृति के विशाल प्रांगण में कर्म की प्रेरणा के साथ-साथ अपनी संस्कृति जो ऋषि-परम्परा से शुरू होती है, उसकी ओर ध्यान आकृष्ट कर रहा है। कविता की बुनावट में प्रकृति का विशाल प्रांगण है, जहाँ नदी है, पेड़ हैं, समिध है, गायें हैं, अनन्त आकाश है, अनन्त आकाश के नीचे गुरु गौतम निःशब्द ध्यानमग्न इस तरह से हैं जैसे मानों प्रकृति की समस्त सुषमा ऋषिवर के रूप में महाशान्ति बनकर ध्यानमग्न हो उठी है। महाकवि की कल्पना में जीवन की अभिरुचि का जो विकास हुआ है, उसमें प्रकृति और मानव एकाकार हो उठे हैं। उदाहरण के लिए –

सरस्वती के तीर पर,
वन की अन्धकारपूर्ण छाया में
सन्ध्या का सूर्य अस्त हो गया।

वन-वनान्तर से चुनकर
समिध के बोझों को सिरों पर लिए
ऋषि-पुत्रगण निस्तब्ध आश्रम में लौट आए हैं।
स्निग्ध, शान्त आँखोंवाली
थकी होम-धेनुओं को पुकार-पुकारकर
ऋषिकुमारों ने तपोवन के गोहाल में लौटा लिया है।
सन्ध्या-स्नान समाप्त कर
सब-के-सब, होमाग्नि से दीपित कुटीर-प्रांगण में,
गुरु गौतम को घेरकर बैठ गए हैं।
सूने, अनन्त आकाश में
महा शान्ति ध्यानमग्न है।
पंक्ति-की-पंक्ति नक्षत्र-मण्डली,
उत्सुकता से पूर्ण निःशब्द शिष्यों के समान,
बैठी हुई है।

यहाँ अनन्त आकाश में महाशान्ति का ध्यानमग्न होना, गुरु गौतम की अनन्त विद्या के बीच एक शान्त चित्त मन, ताराओं की पंक्ति की तुलना शिष्यों की पंक्ति से करना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। प्रकृति के इस सुरम्य वातावरण में अपनी असीम ज्ञान-परम्परा जहाँ से विकसित होकर अविभाज्य रूप से निरन्तर बढ़ती ही चली आ रही है। मशीनों के आविष्कार ने जहाँ हमारी गुरुकुल प्रणाली समाप्त किया वहीं पर मेरे ज्ञान को संकुचित भी बनाया है। कविवर का संकेत अपनी थाती को सहेजने और समेटने का एक अथक प्रयास जो निरन्तर गंगा के पवित्र धार की तरह अनाहत-अबाधित गति से उनकी कविताओं से होकर निबन्ध, उपन्यास और नाटकों को अभिसिंचित करता हुआ जन-जन तक पहुँच रहा है।

कविता की अन्विति बदलती है, सहसा कविवर भारत भूमि की प्राकृतिक, सांस्कृतिक बुनावट के बाद समाज के उस खोखली मनोवृत्ति की ओर इंगित करते हैं, जहाँ से मानवता तार-तार हो उठती है, अचानक से विमर्शों का दौर झंकृत हो उठता है, स्त्री विमर्श, दलित विमर्श इत्यादि-इत्यादि। ब्रह्मविद्या सीखने का अभिलाषी सत्यकाम इस समाज में अकेला नहीं है, उसी विद्या को लेकर कर्ण ने महाभारत के बीच कोलाहल मचाया। 'इसी' विद्या को लेकर तमाम ज्ञानचक्षु अँधेरे में भटकते हुए न जाने किन-किन अँधेरी वीथियों में भटकते रह जाते हैं जिनको वंश परम्परा के नाम पर जीवन के अन्त तक रास्ता नहीं मिल पाता। सत्यकाम गोत्र नहीं जानता, गोत्र तो समाज के वे तमाम उपेक्षित नहीं जानते जिनका जीवन ही निरन्तर पेट की ज्वाला तक ही सीमित रह जाता है। जिस तरह से प्रकृति के शिशिर ऋतु के बन्धनों से मुक्ति पाने का भाव बसन्त के आगमन की प्रतीक्षा करता है, उसी तरह समाज के नाजायज औलाद भी अपने को समाज के बीच आने की कशमकश जारी रखते हैं।

सहसा निभृत आश्रम चौंक उठा।
महर्षि गौतम बोले,
"बच्चो ! ब्रह्म-विद्या का बखान करता हूँ,

ध्यान से सुनो।"

उसी समय, अंजलि में अर्घ्य लिए,
तरुण बालक प्रांगण में प्रविष्ट हुआ।
फल, फूल और पत्र से
ऋषि के चरण-कमलों की वन्दना करके,
भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम कर,
सुधा-स्निग्ध स्वर में,
उसने कोकिल-कण्ठ से कहा,
"मेरा नाम सत्यकाम है,
मैं कुश-क्षेत्र का निवासी हूँ;
ब्रह्म-विद्या सीखने की अभिलाषा से
दीक्षा लेने आया हूँ।"

सुनकर ईषत् मुस्कान के साथ
स्नेह-शान्त वाणी में ब्रह्मर्षि ने कहा,
"कल्याण हो सौम्य !
तुम्हारा गोत्र क्या है ?
हे वत्स !
ब्रह्मविद्या पाने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है।"

इतिहास की चेतना निरन्तर सामाजिकता पर हावी होने का कार्य करती है लेकिन क्रान्तिद्रष्टा, नवयुग निर्माता कवि अपनी लेखनी से इस ऐतिहासिक चेतना को छिन्न-भिन्न करता हुआ मानवता के गीत गाकर सम्पूर्ण मानव चेतना को एकता के सूत्र में पिरोने का कार्य करता है। ब्रह्मविद्या प्राप्त करने का अभिलाषी सत्यकाम समाज के लिए नाजायज और उपेक्षित भले ही हो लेकिन कवि की लेखनी से वह उन सारे बन्धनों को चुनौती देता है जिन तन्तुओं से भारतीय मध्यमवर्गीय समाज का ताना-बाना बुना गया है। ऋषि का स्नेहसिक्त वाणी में गोत्र के लिए प्रश्न करना स्वाभाविक है क्योंकि समयानुकूल परम्पराएँ जहाँ हमारी संस्कृति को हमारी थाती को सँभालने का कार्य करती हैं, वहीं पर भारतीयता के ढाँचे में निर्मित भी होती हैं। निश्चित रूप से कवि उस अतीत का वर्णन कर रहा है जहाँ गुरुकुल प्रणाली में ब्रह्मविद्या सिर्फ ब्राह्मणों के लिए थी, जहाँ वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था कर्म के आधार पर निर्धारित होने के बाद भी वंशानुगत परम्परा का रूप ले चुका था। कवि की लेखनी प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय मूल्यों को छोड़े बिना नयी-नयी चुनौतियों को स्वीकार करती रही। आदर्शों एवं संस्कृतियों के द्वन्द्व या विखण्डन ने उनकी शक्ति को कभी विभाजित नहीं किया। कविता कशमकश के साथ आगे बढ़ती है, बच्चे का विनय, उसकी जिज्ञासा उसकी सौम्यता कविता के धागे में तनाव पैदा करती है और घने विषाद, गहरी जिज्ञासा और प्रश्न के साथ आगे बढ़ती है।

बच्चा धीरे-से बोला,
"भगवन् ! गोत्र मैं नहीं जानता।

आज्ञा दें,
माँ से पूछकर कल आऊँगा।"

इतना कहकर ऋषि के चरणों में प्रणाम कर
सत्यकाम गहरी अँधियारी में
वन-वीथि होकर चला गया।
पैदल ही उसने
स्वच्छ, शान्त, पतली सरस्वती को पारकर
सिकता-तट पर
निद्रा से मौन ग्राम के किनारे
अपनी माता की कुटी में प्रवेश किया।

घर में साँझ का दिया जल रहा है।
बेटे की राह देखती हुई माता जाबाला
दरवाज़ा पकड़कर खड़ी है।
देखते ही
उसने बेटे को छाती से लगा लिया;
उसका माथा सूँघा, कल्याण-कामना की।
सत्यकाम ने पूछा,
"माँ, बताओ,
मेरे पिता का क्या नाम है ?
मेरा जन्म किस कुल में हुआ है ?
गौतम के पास मैं दीक्षा लेने गया था।
गुरु ने मुझसे कहा, 'वत्स !
ब्रह्मविद्या पाने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है।'
माँ, मेरा गोत्र क्या है ?"
बात सुनकर सिर झुकाए
मीठे स्वर में माता ने कहा,
युवावस्था में निर्धनता के क्लेश में पड़कर
मैंने बहुत जगहों पर परिचारिका का काम किया था।
उसी समय मैंने तुमको प्राप्त किया।
तुम्हारा जन्म
पतिविहीना जाबाला की गोद में हुआ था।
बेटा ! मैं तुम्हारा गोत्र नहीं जानती।"

गोत्र का न जानना बालक के लिए स्वाभाविक ही था, और अबोध शिशु का माता से पूछना भी उतना ही स्वाभाविक था। सत्यकाम का ऋषि के चरणों में प्रणाम कर गहरी अँधियारी वीथी से होकर गुजरना वातावरण का ही द्योतक नहीं है, बल्कि सत्यकाम के जीवन का भी अँधेरा है जो वक्त ने उसे दिया, निर्धनता का अभिशाप

बनकर। और निद्रा से मौन ग्राम यहाँ सिर्फ निद्रा से मौन नहीं है, पूरा का पूरा समाज है जो समाज के निर्धनों-उपेक्षितों के लिए हुआ करता है। माँ की कुटी में दीपक जल रहा है, दीपक जहाँ अँधेरे में रोशनी का काम कर रहा है वहीं माँ की ममता की आश सत्यकाम जो उन तमाम माताओं के लिए हुआ है, जो समाज में पतिविहिना होकर शिशु को जन्म देने के लिए विवश होती है। कविता की अन्विति पूरी गम्भीरता के साथ आगे बढ़ती जाती है, जहाँ मशीनी कोलाहल नहीं है, प्रकृति है। प्रकृति के सहज स्नेह के बीच टिकी निरावलम्ब माँ की ममता, सत्यकाम के आशा का केन्द्र। कविता पढ़कर बार-बार मन में प्रश्न उठता है, कहीं उलाहना नहीं है, हलचल नहीं है, आक्रोश नहीं है, पूरी कविता साँय-साँय सन्नाटे के बीच आगे बढ़ती जाती है लेकिन इस सन्नाटे में भी दीपक की मद्धिम रोशनी की भाँति आशा की किरण विद्यमान है। जबाला समाज को उलाहना क्यों नहीं देती, समाज ने उसके साथ ऐसा अपराध क्यों किया, आक्रोश क्यों नहीं है उस घिनौने समाज के लिए जहाँ तमाम बंदिशों के बाद भी स्त्रियाँ पेट की ज्वाला से लाचार और मौन हैं। समाज में बस जबाला ही तो बेचारगी और निर्धनता की शिकार नहीं है। जहाँ न जाने कितनी माताएँ हैं, जो बेबस, लाचार हो बिना पिता के नाम के औलाद पालने पर विवश हैं। जबाला का मीठा स्वर क्या उसकी बेचारगी है, इन तमाम प्रश्नों से बचा तो सिर्फ माँ का स्नेह कि सब कुछ सहकर भी शिशु पर आँच न आये। सत्यकाम माँ से उत्तर पाकर आगे बढ़ता है और कविता की गति भी प्रकृति के वास्तविक तरंगों के बीच एक नया मोड़ लेती है –

दूसरे दिन, तपोवन के तरु-शिखरों पर
नवीन, प्रसन्न प्रभात का उदय हुआ।
जितने भी ऋषि-पुत्र हैं,
पुरातन वट-वृक्ष की छाया में,
गुरु गौतम को घेरकर बैठे हुए हैं।
वे ऐसे दीखते हैं,
मानो, ओस से भीगे, तरुण आलोक हों;
मानो, भक्त के आँसुओं से धुले हुए
नूतन, पुण्यमय सौन्दर्य हों।
प्रातःस्नान से
उनकी सुन्दरता स्निग्ध हो उठी है।
उनकी जटाएँ सिक्त हैं।
उनका सौन्दर्य पवित्र, मूर्ति सौम्य
और शरीर उज्ज्वल है।
वहाँ पक्षियों का काकली-गान,
भ्रमरों की गुंजन-गीति
और जल का कल-कल नाद सुनाई देता है।
उसी के साथ सम्मिलित सुर में,
तरुण कण्ठों से
शान्त, मधुर, गम्भीर साम-गान उठ रहा है।

इसी समय सत्यकाम ने पास आकर
गुरु के चरणों में प्रणाम किया।
निश्छल आँखों को खोले
वह नीरव खड़ा रहा।
तब आशीष देकर आचार्य ने पूछा,
"हे सौम्य ! हे प्रियदर्शन !
तुम्हारा गोत्र क्या है ?
बालक ने सिर उठाकर कहा,
"भगवन् !
नहीं जानता कि मेरा गोत्र क्या है ?
माँ से मैंने पूछा था;
उन्होंने कहा, 'सत्यकाम !
बहुत घरों में दासी का काम करके
मैंने तुम्हें प्राप्त किया था।
तुम पतिविहीना जाबाला की गोद में जनमे थे।
तुम्हारा गोत्र मैं नहीं जानती।"

शान्त, स्निग्ध प्रभातकालीन उदय से कविता आगे बढ़ती है, बालक में विनम्रता और तेजस्विता का समन्वय बरकरार है। गुरु गौतम को घेरकर बैठे हुए ऋषि पुत्र ऐसे प्रतीत होते है जैसे ओस से भीगे हुए तरुण आलोक में और भक्त के संवेदना से सिक्त पवित्र, सात्विक नूतन सौन्दर्य साकार हो उठा हो, पूरे वातावरण में पक्षियों का कलरव, भ्रमरों का गुंजन, जल के कल-कल निनाद के साथ-साथ गान की ध्वनि, इस सामगान के साथ प्राकृतिक वाद्ययन्त्रों का सुन्दर सामंजस्य जहाँ पक्षियों की ध्वनि भी है, जल का कलरव भी है और भ्रमरों का गुंजन भी।

अपनी भारतीय प्रकृति का सामगान के साथ इतना सुन्दर तालमेल कविवर रवीन्द्रनाथ की लेखनी से ही सम्भव था। इस पूरे के पूरे वातावरण में सौन्दर्य और सुदूर के संगीत का एक ऐसा गुण निहित है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यूरोप तथा अमेरिका के पाठकों के लिए ये कविताएँ आश्चर्य मिश्रित हर्ष उत्पन्न करने वाली एक नये आविष्कार सी थीं। प्रकृति और मनुष्य के प्रति उनका प्रेम अनजाने ही भगवान् के प्रति उनके प्रेम में विलीन हो गया था। उनके निजी जीवन की गम्भीर व्यथा ने उन पर द्विधारहित सत्य प्रकट कर दिया था कि जीवन मात्र रहस्य से आवेष्टित है। मनुष्य जीवन की करुणा और विस्मय ने उनकी रचनाओं में एक नई सहानुभूति और कर्म स्पर्शिता ला दी थी।

कवि की दृष्टि में मनुष्य का सबसे बड़ा कृतित्व इस बात में है कि वह अपनी निजी व्यथा और संसार की विकराल वेक्षा पर विजय प्राप्त करे। स्वार्थपरता के कारण उत्पन्न होने वाले दुःखों और वैयक्तिक कलहों पर मनुष्य जय लाभ करता है। वह उस गम्भीर वेदना से भी ऊपर उठता है, जो जीवन की क्षण भंगुरता का अनिवार्य परिणाम है।

सामाजिक सत्य, लाभ-हानि, बस वही नहीं है जो थोड़ी-बहुत मान्यताओं के साथ समयानुकूल उलट फेर करके आने वाली पीढ़ियों को गिनाती चलती है। समाज का सच सबसे बड़ा मनुष्य का सच है जो संघर्षो के घात-प्रतिघात सहकर आगे बढ़ता है और अन्ततः सारी मान्यताओं की धज्जी उड़ाते हुए सत्य का पवित्र राह वह स्वयं निर्मित करता है जो सामाजिक मान्यताओं से कहीं ज्यादा मजबूत होती है। फिर से ऋषि के गोत्र पूछने पर सत्यकाम विचलित क्यों नहीं हुआ इस प्रश्न के साथ कविता आगे बढ़ती है-

यह बात सुनकर
विद्यार्थीगण मन्द स्वर में भुनभुनाने लगे,
मानो, मधु के छत्ते में किसी ने ढेला मारा हो
और मधुमक्खियाँ विक्षिप्त, चंचल हो उठी हों।
सब विस्मय से व्यग्र हो उठे।
निर्लज्ज अनार्य का अहंकार देख
कोई तो हँसा, किसी ने धिक्कार किया।
तो गौतम ऋषि आसन से उठे;
बाँहें खोल उन्होंने बालक का आलिंगन किया
और कहा,
"बेटा, तुम अब्राह्मण नहीं हो।
तुम सत्य के वंश में जनमे हो;
तुम द्विजोत्तम हो।"

विद्यार्थीगण जो समाज के पारम्परिक तन्तुओं से निर्मित थे, किसी ने मुस्कुराया, किसी से व्यंग्य किया, किसी ने आक्रोश व्यक्त किया, किसी ने निर्लज्ज कहा तो किसी ने अहंकारी लेकिन सबसे ऊपर गुरु की गुरुता, गुरु ने पाया कि मनुष्य का महत्त्व वंश गौरव में नहीं, बल्कि इस बात में है कि बिना किसी दुराव के, बिना किसी अन्तर्दुविधा के वह सत्य को स्वीकार करता है। कभी-कभी छोटा शिशु भी सत्य पर दृढ़ रहकर उन तमाम वंशानुगत ब्राह्मणों से ऊपर उठ जाता है, कविता की पूरी की पूरी ताकत सत्य की नींव पर आधारित है, जहाँ पूरी की पूरी सामाजिक मान्यताएँ, जो खोखलेपन के साथ अपने ऊपर महत्त्व का झूठा आवरण डालकर आगे बढ़ने का प्रयास करती है, खण्डित होती हैं, बचता है केवल सत्य। गुरु गौतम सत्यकाम का आलिंगन करते हुए उसे ब्राह्मणों में उत्तम साबित करते हैं, क्योंकि सत्यकाम सत्य की कोख से पैदा हुआ था और कवि की दृष्टि में सत्य सबसे ऊपर होता है।

2.2.5.2. 'ब्राह्मण' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य

कविता नाटकीय रूपान्तर के साथ आगे बढ़ती है – प्रकृति का सहज वातावरण है, कवि सत्य की अनुभूति कराने के लिए मनुष्य की साधारण से साधारण परिस्थितियों का भी उपयोग करते हैं। कविता की भाषा भी सहज, प्रांजल और प्रवाहमयी है। शब्द पारदर्शी और स्वच्छ हो गये हैं, सत्य की ही भाँति। इसका कारण है कि कवि जीवन में सत्य के निर्भीक और सच्चे खोजी रहे। हम अपने दैन्य को छिपाने के लिए प्रवंचना और

पाखण्ड के जिस बाध्य दिखावटी रूप का निर्माण करते हैं, कवि ने अपनी बुद्धि के तेज से उसे छिन्न-भिन्न कर दिया है। कवि अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक नई अनुभूतियों और नई अभिव्यक्तियों के लिए सतत प्रयासी रहे। इस कविता में संवेदना और भावोद्वेग का एक नया स्वर है, जो दुःख में तपकर विशुद्ध हो गया है। कविता में भाव और भाषा की एक अपूर्व मितव्ययिता व्याप्त है। पूरी की पूरी कविता में कुछ नये प्रश्न भी उभरे हैं उसके साथ ही जीवन को बड़े शान्त और स्निग्ध भाव से उसकी सभी न्यूनताओं और सम्भावनाओं के साथ स्वीकार करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। पूरी की पूरी कविता सामाजिक मान्यताओं का खण्डन करने के बाद भी संयम के साथ आगे बढ़ती जाती है, कविता का सहज प्रवाह कवि के गीतात्मक व्यक्तित्व का सहज एवं सौम्य उदाहरण प्रस्तुत करती है। पक्षी, सामगान, सायंकाल, दीपक, लौ, झोपड़ी, सरयू का किनारा, अँधियारी वीथी, जल का कलरव शायद ही ऐसा कोई प्रसंग छूटा हो जो अपनी मिट्टी से न जुड़ा हो।

पूरी की पूरी कविता में प्रकृति और मनुष्य एक दूसरे की मनोदशा को प्रतिबिम्बित करते हुए प्रतीत होते हैं।

2.2.6. 'भारत तीर्थ' कविता

2.2.6.1. 'भारत तीर्थ' कविता का भावगत वैशिष्ट्य

अपने विराट फलक और राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान लिये रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भारत भूमि की भव्यता का वर्णन ही नहीं बल्कि 'भारत तीर्थ' कविता में भारतभूमि के रग-रग को स्पन्दित कर दिया है। भारत को रवीन्द्रनाथ ने महामानव समुद्र की संज्ञा से विभूषित किया, जहाँ शक आये, हूण आये, यक्ष, गन्धर्व और किन्नर आये, न जाने कितनी जातियाँ आयीं और इस भारतभूमि को बनाने में अपना हाथ लगा गई। न जाने कितनी परम्पराओं का सार लेकर हम जीते हैं एक-एक पशु-पक्षी का सार हमारे जीवन के साथ जुड़ा है, विभिन्न जातियाँ हजारो हजार परम्पराएँ इस भारत भूमि में व्याप्त हैं, संवेदनाओं से सिक्त यह धरती जहाँ किसी भी परम्परा या किसी भी धर्म का तिरस्कार नहीं है। एक ही शब्द भारत तीर्थ कविता के माध्यम से झंकृत हो रहा है समरसता का सिद्धान्त। कविता की शुरुआत एक शक्ति के वातावरण में, सात्विक मन से शुरू होती है, क्योंकि शान्त मन और सात्विक विचारों से ही हमारी संवेदना जाग्रत् होती है, जाग्रत् संवेदना ही हमारे अन्दर देश और समाज के प्रति गौरव जाग्रत् कर सकता है। नर देवता कवि की वाणी में कौन है, कवि का धर्म क्या था, उपनिषदों और भारतीय दर्शन पर उनका आलम्बन शुरू में उन्हें पुनरुत्थानवादी बतलाया पर धीरे-धीरे उनकी चेतना का क्षितिज व्यापक हुआ, जैसा कि उन्होंने खुद लिखा है – "जाति के भग्न मन्दिर में ईश्वर आया .... साधक की मूल अवधारणा यही है, कोई रीति बोझिल पंथ नहीं। नर-देवता कवि की वाणी में मनुष्य का सात्विक कर्म ही है, ध्यानमग्न गम्भीर पर्वत तपस्वी की भाँति नदी रूपी जयमाला और नित्य पवीना पवित्र भारत-भूमि की धरती जहाँ परम्पराओं से स्नात अनेकानेक परम्पराओं का भार वहन किये खड़ी है यह भारतभूमि। इस भारतभूमि में न जाने कितने भाषाएँ, बोलियाँ, कितने विचारों, धर्मों से सम्बन्धित लोग समरस हो गये, कहीं कोई अवभाव नहीं।"

क्षेत्रीय धारा से बढ़कर अनन्त क्षितिज तक जा पहुँचने वाला व्यक्तित्व उसकी निष्ठा किसके प्रति अधिक प्रगाढ़ थी आकाश के प्रति, कि नीड़ के पंखों के प्रति, कि जड़ों के प्रति ?

अतिरेक और सुदूर का अन्वेषक यह कवि पृथ्वी का कवि भी था। दुनिया से जुड़ा हुआ, पर दुनियावी नहीं। धार्मिक कम, प्रकृति पूजक अधिक। मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर का देवता नहीं बल्कि स्वयं प्रकृति की दैवी चेतना ही उनसे खुलकर अपना दुख-सुख कहती जान पड़ती है।

कवि के मन में जिज्ञासा है, कौन सी अदृश्य सत्ता है, किसके आह्वान पर विभिन्न धर्मों के लोग आकर भारतधर्म में विलीन हो गए। आज विज्ञान के विकास ने पूरी पृथ्वी को एक कर दिया। हम राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज तक व्याप्त होकर भी अन्ततः सभी विचार भारत के पवित्र विचारों, परम्पराओं, आध्यात्मिक ताकत में एकाकार हो जाएँगे। कवि की विश्वदृष्टि जो भारत के मानस के साथ एकाकार होने की परिकल्पना करती है, वैर-भाव के भग्नावशेष पर निश्चित ही राजमहल बनाने की आकांक्षा जैसी है, फिर भी कवि को इस भारतभूमि की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक चेतना पर अगाध विश्वास है।

रवीन्द्रनाथ जानते थे कि भारतीय सभ्यता आदिम नहीं है, गहरी है क्योंकि इसमें आन्तरिकता है, अपने इस तर्क में वे संस्कृत नाटक और कविता के अलावा धूसर उपनिषदों के भी उद्धरण दे डालते हैं। जीवन और शिक्षा का उद्देश्य भी वे एक दूसरे पर हावी होना नहीं मानते, बल्कि एक दूसरे के साथ सामंजस्य की स्थापना ही शिक्षा का मूल उद्देश्य मानना उनको अभीष्ट था, भारतीय इतिहास और अस्मिता के प्रति निष्ठावान् होना कट्टरपन्थी होना नहीं था। आक्रामकता और संकीर्णता का प्रचार उन्होंने कभी नहीं किया। हमेशा की तरह पूर्णता, मुक्ति और विश्व बन्धुत्व उनकी मुख्य तलाश रही है।

कविता सम्बोधन शैली में शुरू होती है –

हे मेरे चित्त, पुण्य तीर्थ में –
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर धीरे जगो !
दोनों बाँहें फैला यहाँ खड़े हो नर-देवता का नमन कर
उदार छन्दों में परम आनन्द से बार-बार उनका वन्दन कर
ध्यान-गम्भीर यह जो भूधर है
नदीरूपी जयमाला लिए यह जो प्रान्तर है
यहाँ नित्य पवित्र धरती को निरखो –
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

कोई नहीं जानता, किसके आह्वान पर
कितने लोगों की दुर्वार धारा कहाँ से आई, और
इस सागर में खो गई।
आर्य, अनार्य, द्रविड़, चीनी, शक, हूण, पठान, मुग़ल

सब यहाँ एक देह में लीन हो गए।
आज पश्चिम ने द्वार खोला है, वहाँ से सब भेंट ला रहे हैं
ये देंगे और लेंगे, मिलाएँगे और मिलेंगे, लौटकर नहीं जाएँगे –
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श और सम्पूर्ण मानव-परिवार के आदिशक्ति में विलय को अद्वैतमुखी दर्शन लेकर ये आगे बढ़े थे। इसका अर्थ था राष्ट्रों और विचारधारकों के समस्त विरोधों का अन्त और एक सार्वभौम नीतिशास्त्र का विकास। अपने समस्त गुरुओं के साथ रवीन्द्रनाथ भी क्षुद्रता को मानवीय विकास में सबसे बड़ी बाधा मारते थे। 'सर्वम् इदम्' से हमारे ऐक्य की चेतना ही धर्म का एकमात्र आधार और तर्क हो सकता है।

पूर्व और पश्चिम की अवधारणा, जहाँ कहीं विरोध न हो सब एक दूसरे के लिए समरस हों, हम इनसे विज्ञान लेंगे, ये हमसे वेद और उपनिषद का ज्ञान लेंगे, ऐसी स्थिति में विकास का नया मार्ग प्रशस्त होगा। व्यापक विश्व दर्शन के प्रवक्ता कवि रवीन्द्रनाथ, और वह विश्वदर्शन उन्हें भारत भूमि के आँचल में प्रतिबिम्बित होता दिखलाई पड़ता है, इस पवित्र भूमि पर कोई युद्ध करने आया, कोई व्यापार करने आया लेकिन भारत की भव्य संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा और भारत ने भी अन्ततः सबकी परम्पराओं को अथाह समुद्र की भाँति आत्मसात किया। कवि की आस्था है कि जो भी हमसे घृणा करते हैं अन्ततः घृणा के समस्त बन्धनों को तोड़कर हमारे साथ आबद्ध हो जाएँगे। हमारे ऋषियों की परम्परा जिसने 'ओंकार' की ध्वनि से सबके हृदय को एकाकार कर दिया था, वहाँ कोई शक्, हूण, हिन्दू, मुस्लिम, वैश्य, शूद्र के लिए अलगाव नहीं था। सभी उस आध्यात्मिक / प्राणवान् ध्वनि से स्पन्दित हो उठे थे। तप का बल इस भूमि पर अक्षुण्य था। अग्नि भारत भूमि के अध्यात्म की प्रज्ज्वलित हो उठी थी। आहुति सभी संवेदनाओं की दी गई। समस्त भेद-भाव को भुलाकर आज यह देश समस्त मानव का आलिंगन करने को तैयार है। आज कर्म की आहुति, अध्यात्म की आहुति देने के लिए यज्ञ वेदी के रूप में भारत-भूमि सात्विक भाव से समस्त मानव के लिए यज्ञशाला का द्वार खोले बैठा है, जहाँ दया है, क्षमा है, करुणा है, और कर्म की एक व्यापक परिधि है।

भारतीय देशभक्ति के सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ का मत है कि देशभक्ति को पहली शर्त के रूप में एक और एक मात्र देश की ज़रूरत है। इसका अर्थ होता है विशेष भू क्षेत्र के प्रति प्रेम। देशभक्तों के लिए यह क्षेत्र दुनिया के अन्य सभी देशों की तुलना में अधिक अर्थवान् तथा मूल्यवान् होता है। इस भूमि को क्यों अर्थवान् / मूल्यवान् माना जाता है इस सन्दर्भ में वे आगे कहते हैं – धर्मनिरपेक्षतावादी भारतीय देशभक्तों के लिए जन्मभूमि के रूप में वह अस्मिता का स्रोत है। हिन्दू राष्ट्रवाद में, भूमि न केवल निवासियों और उनके पूर्वजों का जन्म-स्थल है, बल्कि उनके धर्म का भी जन्मस्थान है अतः मुसलमान और ईसाई पूरे अर्थ में भारतीय होने की योग्यता नहीं रखते, क्योंकि उनका धर्म इस देश से बाहर पैदा हुआ था। देश-काल की इस समस्त पहचान को जो बाहर से आये या भारतीय हैं, सबकी पहचान को सांस्कृतिक तौर पर पुख्ता किया जाना चाहिए और यह काम इस बात की अपेक्षा रखता है कि एकता और समरसता के मजबूत सूत्रों की पूरे भूखण्ड में पहचान की जाये और इसमें बसने वालों को एक सामूहिक दृष्टिकोण प्रदान किया जाए।

एकता के दावे का विचारधारात्मक कार्य होता है इसके फलस्वरूप देश एक प्राकृतिक जीव, एक स्वयं सिंह एकल सत्ता देखने लगता है और तब देशभक्ति स्थान की राजनीति नहीं रह जाती, देश की संस्कृति का कोई न कोई पक्ष ही इसकी परिभाषा का सार-तत्त्व बन जाता है।

गुलामी की अवधि में भी नफरत को भुलाकर भारत की पवित्रता और अखण्डता का समर्थन करने के द्वारा किया गया है वह निश्चित ही उस समय के लिए दुर्निवार था। घनिष्ठता की भावना और प्रेममय आत्मीयता, जिसे हम देशभक्ति का विशिष्ट गुण समझते हैं, वस्तुतः अपेक्षतया छोटे और अत्यन्त प्रिय स्थानों के लिए सुरक्षित थी। रामायण में कहा गया है कि अपनी जननी और जन्मभूमि की गरिमा स्वर्ग से भी अधिक है। अपना इतिहास, अपनी सम्पत्ति और अपने स्थान के साहचर्य ही वे तत्त्व थे जिस पर ज़मीन के किसी ख़ास टुकड़े का विशेष भावनात्मक दावा आधारित होता है। अनुभूत निकटता का ऐसा ही स्पन्दन संस्कृत उद्भव के शब्द 'देश' से जो कई भारतीय भाषाओं में शामिल है।

'भारत तीर्थ' में रवीन्द्रनाथ ने सार्वभौम प्रेम को भारतवर्ष के प्रति प्रेम में निमज्जित करने का प्रयास किया है। उन्होंने भारत को सभी सभ्यताओं के संगत, दुनिया की सभी मानव धाराओं – शक, हूण, पठान, मुगल, अंग्रेज, आर्य, अनार्य, ऊँच-नीच तथा सभी धर्मों के तीर्थ के रूप मे चित्रित किया। यहाँ मनुष्य में प्रतिष्ठित ईश्वर की प्राप्ति होती है। ऐतिहासिक रूप में भारत सभी संस्कृतियों के लिए खुला रहा है, यहाँ इतने अधिक मानव समूहों की सघनता रही कि किसी विशेष से यह रूपायित नहीं है, अतः इससे प्रेम करने का अर्थ है समस्त विश्व से प्रेम करना। भारत कोई एक देश नहीं, उससे अधिक है, यह स्वयं समस्त ब्रह्माण्ड का लघु रूप है यह सार्वभौम का प्रतीक है। इसकी महान् विशिष्टता की शर्त है कि सभी स्रोतों से आ रहे सब कुछ को स्वीकार किया जाय, देशी और विजातीय विदेशी के बीच की सीमा-रेखा को समाप्त किया जाय। ऋषियों का देश, तपस्वियों से पूजित भारत समभाव से सबके लिए एक तीर्थ के समान है।

लड़ाई के स्रोत में विजय के उन्मत्त गीत गाते हुए
मरुभूमि और पहाड़-पर्वतों को पार करके जो लोग आए थे
वे सब-के-सब मुझमें विराज रहे हैं, कोई भी दूर नहीं है
मेरे लहू में उनका विचित्र सुर ध्वनित है
आर्य रुद्रवीणा, बजो, बजो, बजो
घृणा से आज भी दूर खड़े हैं जो
बन्धन तोड़ेंगे – वे भी आएँगे, घेरकर खड़े होंगे
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

किसी दिन यहाँ महा ओंकार की अविराम ध्वनि
हृदय के तार में ऐक्य के मन्त्र से झंकृत हुई थी।
तप के बल से 'एक' के अनल में 'बहु' की आहुति दे
भेद-भाव भुलाकर एक विराट् हृदय को जगाया था।
उसी साधना, उस आराधना की

यज्ञशाला का द्वार आज खुला है
सबको यहाँ सिर झुकाकर मिलना होगा–
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

उसी होमाग्नि में, देखा, आज लाल लपट उठ रही है
इसे सहना होगा, मर्म में दहना होगा, यही भाग्य में लिखा है।
हे मेरे मन, इस दु :ख को वहन करो,
सुनो, 'एक' की पुकार सुनो!
जो भी लाज है, जो भी भय है, सबको जीतो, अपमान दूर हो
यह दु :सहव्यथा जाती रहेगी,
फिर कैसा विशाल प्राण जन्म लेगा
रात बीत रही है, विशाल नीड़ में जननी जाग रही है –
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

हे आर्य, हे अनार्य, आओ, आओ हिन्दू-मुसलमान
आज आओ तुम अंग्रेज़, ख्रीष्टान आओ
मन को पवित्र कर आओ ब्राह्मण, सबके हाथ पकड़ो –
हे पतित, आओ, अपमान का सब भार उतार दो।
माँ के अभिषेक के लिए शीघ्र आओ
सबके स्पर्श से पवित्र किए हुए तीर्थ-जल से
मंगल-घट तो अभी भरा ही नहीं गया है –
इस भारत के महामानव के सागर-तट पर।

2.2.6.2. 'भारत तीर्थ' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य

'गोरा' उपन्यास के बाद 'भारत-तीर्थ' की रचना हुई है। शायद 'गोरा' का विश्वबंधुत्व कविता की भाषा में गुरुदेव के अंतस में अंगड़ाई ले रहा था। इस काव्योपम सुषमा और शुचिता का अनन्योनाश्रित श्रेय रवीन्द्रनाथ की बहुमुखी प्रतिभा का द्योतक है, जहाँ समग्र सृष्टि एक सूत्र में बंधने के लिए कविता की भाषा में निवेदित है, यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुस्लिम, अंग्रेज अलग-अलग होते हुए भी अन्ततः एक परिपूर्ण मानव मन हैं, से कवि आह्वान करता है। अपने विराट फलक और राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान के साथ यह कविता व्यापक विश्वदर्शन की प्रयोक्ता भी है। पूरा का पूरा भारतीय इतिहास जहाँ अध्यात्म की महिमा सर्वोपरि है कविता की भाषा में अनुस्यूत कर दी गई है।

भाषा धारदार और पैनी है जहाँ शैली भावनात्मक उद्वेलनों को नियन्त्रित करती-सी दिखती है। रवीन्द्रनाथ की कविता इतने व्यापक फलक को शब्दों में समेट देती है कि उसे सीधे-सादे जाँच में बैठा पाना सहज नहीं, शरीर और आत्मा, धरती और आकाश, इतिहास और रोमांस, करुणा और प्रतिरोध के सहज तनावों से गुजरते हुए कवि रह-रहकर अपना स्वर और तकनीक बदलते रहे। भारतीय दर्शन और साहित्य के स्रोतों से इनकी गहरी अभिज्ञता

के द्वार सदा खुले ही रहते थे। रवीन्द्रनाथ के सांस्कृतिक समन्वय में साम्प्रदायिकता की तनिक भी गन्ध नहीं है। और इसका साक्षात् उदाहरण 'भारत तीर्थ' कविता है – "विशाल मानवता के तट से न कोई लौटेगा, न लौटाया जाएगा।"

यद्यपि भारत में देशप्रेम पहले ही, विशेषतः स्वदेशी आन्दोलन के दरम्यान एक व्यापक शब्द बन गया था, परन्तु यह अपने को वैचारिक तौर पर हिन्दू राष्ट्रवाद से सदा पृथक् नहीं कर पाया था, वस्तुतः यह आन्दोलन हिन्दू राष्ट्रवाद के प्रतीकों और कर्मकाण्डों के बन्धन से अपने को छुड़ा नहीं पाया था। 19वीं शताब्दी के कतिपय हिन्दू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवादियों ने भारतीय देशभक्ति को आज की हिन्दू सामाजिक संस्थाओं में प्रतिस्थापित किया। इनके सम्बन्ध में यह माना गया कि ये संस्थाएँ प्राचीन अतीत से परिवार, वैवाहिक व्यवस्था, जाति तथा विधवाओं के अनुशासन के क्षेत्रों में अपरिवर्तित चली आ रही है। इनका कहना था कि औपनिवेशीकरण ने इस संस्थाओं और परम्पराओं को संकटग्रस्त तो किया है, पर साथ ही इन्हें बहुमूल्य वस्तु भी बना दिया है, जिसके प्रति सभी देश भक्त हिन्दुओं की निष्ठा अपेक्षित है। कवि ने 'भारत तीर्थ' कविता में एक ऐसी जमीन तैयार की जहाँ वह भू क्षेत्र को मातृदेवी के रूप में मूल्यान्तरित किये जाने को अस्वीकार करता है। इन दो युक्तियों के माध्यम से यह हिन्दू राष्ट्रवाद तथा भारतीय देशभक्ति के गठजोड़ को तोड़ देता है तथा ऐसी जमीन तैयार करता है जो केवल देशभक्ति की जमीन है, कवि के अनुसार राष्ट्रवाद निरपवाद रूप से शक्ति और आत्म-प्रक्षेपण की बहिष्कार और प्रारम्भिक साम्राज्यवाद की योजना है, जबकि देशभक्ति जन-गण भूमि और सम्पूर्ण धरती के प्रति प्यार तथा पोषण की योजना है।

2.2.7. 'धूलि मन्दिर' कविता

2.2.7.1. 'धूलि मन्दिर' कविता का भावबोध

धर्म मनुष्य का ब्रह्माण्ड से एक खास तरह का आत्मशोधक, आत्म स्वीकृतिपरक सम्बन्ध स्थापित करता है। वह एक व्यक्ति या एक पूरे समुदाय की प्रतीक भाषा है। ज्यादातर लोग किसी न किसी धर्म के साथ पैदा होते हैं पर कोई-कोई ही रवीन्द्रनाथ की तरह खुद अपना धर्म अर्जित करता है। यह धर्म यथार्थ और अति यथार्थ को निवेदित उनकी सच्ची, किन्तु अप्रचलित आस्था का नाम था। विस्तृत, ग्रहणशील विकास के बावजूद रवीन्द्रनाथ का चिन्तन कमोवेश मौलिक था। रवीन्द्रनाथ का धर्म मनुष्य के सामाजिक सरोकारों से अधिक दुःखी, दग्ध मानवता को समर्पित था।

'धूलि मन्दिर' नामक कविता में मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर का देवता नहीं, बल्कि स्वयं प्रकृति की दैवी चेतना, माटी गोड़कर खेतिहर, पत्थर काटकर रास्ता बनाते मजदूर ही खुलकर अपना दुःख -सुख कहते जान पड़ते हैं। गोचारण युग की स्फूर्तिदायक चेतना का उन्मीलन के आधुनिक जीवन की भग्नावस्था के आलोचनाक्रम में करते हैं, जहाँ पूरी की पूरी धर्म व्यवस्था ही बदली-सी जान पड़ती है। मानवीय करुणा की व्यापक भावना इस कविता के माध्यम से स्पष्ट हो उठी है, जहाँ देवी-देवता बन्द देवालय के अन्दर पत्थर की मूर्ति तक ही सीमित नहीं

हैं, देवी-देवता विशाल मानव कर्म चेतना में दुःखों और गरीबी की मार से अथक परिश्रम करने को मजबूर उन मजदूरों के कर्म में निहित हैं।

पूरी की पूरी सृष्टि कर्म पर आश्रित है । कर्म ही मनुष्य के जीवन का अविभाज्य अंग है । धर्म, शास्त्र, उपनिषद् सारी की सारी मान्यताएँ निरर्थक हो उठती हैं जहाँ मानव धर्म न हो। देवता पत्थर तोड़कर रास्ता बनाते मजदूरों में मिल सकते हैं। इस पृथ्वी पर हर जगह स्वर्ग की आत्मा जाग्रत् है। दुःख से दग्ध कर्मशील मानव हमारी जीवन वीणा के तारों पर एक ऐसा सुर साधते हैं जो ससीन के पार के संगीत में हमारी रुचि जगाये सिर्फ मन्दिर देवालयों को बन्द करके प्रार्थनाओं तक ही देवता का सीमित ध्वनित नहीं है।

आँख बन्द करके आराधना करना आत्मकेन्द्रित होकर, याचक बनकर अपने अहं अपने स्वार्थ की पूर्ति करना मात्र है। खुली आँखों से पूरी पृथ्वी को देखना स्वार्थ का विलय कर देना ही मनुष्यता या देवत्व है। मूलतः ईश्वर तो वहीं प्राप्त हो सकता हैं जहाँ कृषक खेती करते हैं, जहाँ मजदूर बारहों महीने अथक परिश्रम कर रहा होता है, उनके हाथ धूल-धूसरित है। कर्म के पसीने से सौन्दर्य की आभा निखर उठी है।

ईश्वर को प्राप्त करना मानव मात्र के दुःख और दर्द को परखना उनके कर्म को समझना और सहयोग करना है।

भजन-पूजन साधना-आराधना, सब-कुछ पड़ा रहे
अरे, देवालय का द्वार बन्द किए क्यों पड़ा है !
अँधेरे में छिपकर अपने-आप
चुपचाप तू किसे पूजता है?
आँख खोलकर ध्यान से देख तो सही – देवता घर में नहीं हैं।

देवता तो वहाँ गए हैं, जहाँ माटी गोड़कर खेतिहर खेती करते हैं –
पत्थर काटकर राह बना रहे हैं, बारहों महीने खट रहे हैं।
क्या धूप, क्या वर्षा, हर हालत में सबके साथ हैं
उनके दोनों हाथों में धूल लगी हुई है
अरे, तू भी उन्हीं के समान स्वच्छ कपड़े बदलकर धूल पर जा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की भक्तिभावना की तुलना मध्यकालीन सन्तों से की जा सकती है। कवि पर वैष्णव ख़्यालों का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। मध्यकालीन रहस्यवादियों की भाँति वे बाह्याडम्बर का खण्डन भी करते हैं।

रवीन्द्रनाथ ने महसूस किया कि सभ्यता की गौरव रक्षा का भार आज थोड़े से लोगों पर है। लेकिन इन थोड़े से लोगों का पोषक का भार बहुसंख्यक लोगों के अथक परिश्रम पर है।

संकीर्ण सीमा में आबद्ध रहकर हम मुक्ति की कामना नहीं कर सकते और मुक्ति की कामना संसार से मुक्ति नहीं। दुखी, दग्ध मानवों का कल्याण करके जिस मानसिक विवेचन / मुक्ति के सुध से हम सराबोर होते हैं, अन्ततः मुक्ति वही है।

पूरी की पूरी सृष्टि ईश्वर की रचना है । सृष्टि को चलाना ही सृष्टि के बन्धन में बँधना है, मनुष्य जीवन की मुक्ति और आत्मसंतुष्टि पूरे के पूरे संसार के दुखी, दग्ध मानवों के साथ कर्म और पुरुषार्थ में सहयोग कर समरसता में विलीन होना है। कविता सृष्टि की मुक्ति की कामना है जो सृष्टि के बन्धन की परिभाषा के आगे सतत आगे बढ़ती है –

मुक्ति ! मुक्ति कहाँ पाएगा भला, मुक्ति है कहाँ ?
स्वयं प्रभु ही तो सृष्टि के बन्धन में सबके निकट बँधे हुए हैं।
अरे, छोड़ो भी यह ध्यान, रहने भी दो फूलों की डलिया
कपड़े फट जाने दो, धूल-बालू लगे
कर्मयोग में उनसे मिलाकर पसीना बहने दो।

2.2.7.2. 'धूलि मन्दिर' कविता का शिल्पगत वैशिष्ट्य

गीतांजलि में संगृहीत 'धूलि मन्दिर' कविता से कर्म की प्रेरणा, मानव जीवन का संगीत ध्वनित होता हुआ पूरी की पूरी कविता को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र में जोड़ती हुए आगे बढ़ता जाता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर का यह मानवतावाद अपने युगीन कवियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। कवि की आत्मा की जिज्ञासा वृत्ति आँख-मिचौली के एक निरन्तर चलने वाले खेल के सदृश भी निष्क्रिय कल्पना और अनन्त प्रयास, उद्भव और संघर्ष ही उनके साहित्य का उद्देश्य था।

रवीन्द्रनाथ की अनुभूतिमुखी, आदर्शवादी कला चेतना, संस्कृति में आस्था का एक बड़ा हिस्सा है। वे हर कला को मानववादी घोषित करना चाहते थे।

ईश्वर की पूजा समस्त मानव की सेवा में निहित है। रवीन्द्रनाथ ने संसार को केवल ऐसा रंगमंच ही नहीं माना जहाँ मनुष्य जीवन में पूर्णता प्राप्त करने का प्रयास करता है, बल्कि उसे स्नेहमयी माँ के रूप में भी देखा है, जो जीवन के विविध अनुभवों में सारगर्भित अर्थ खोजने की साधना में लगे मनुष्य की निगरानी करती रहती है।

रवीन्द्रनाथ कोई संन्यासी न थे और न वे कोई सुख-विलासी या इन्द्रिय-सर्वस्ववादी ही थे। उन्होंने एक ओर तो उस आदर्श का जान-बूझकर प्रत्याख्यान किया, जो शरीर, धर्मों और नानाविध भोगों को अस्वीकार करता है, दूसरी ओर उन्होंने केवल इन्द्रियसुख या केवल भोगलिप्सा को ही सब कुछ कभी नहीं माना। वे जीवन के सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति की साधना में सतत लगे रहने को ही जीवन का वास्तविक गौरव मानते थे। उनकी भाषा भी सर्वसाधारण की भाषा जैसी सहज, सरल और स्पष्ट हो गई।

2.2.8. पाठ-सार

रवीन्द्रनाथ की कविताओं में मानवीय पक्ष प्रबल रहा है। 'ब्राह्मण' कविता एक गहरे ऊहापोह से शुरू होकर अन्ततः यथार्थ की जमीन तलाशती हुई सारे जातिगत बन्धनों को चुनौती देती है, जहाँ सच की विजय है। और कवि के शब्दों में सच की विजय ही मानव मात्र की विजय है। 'धूलि मन्दिर' कविता हमें भारत के गाँवों में ले जाती है। अपनी मिट्टी से जोड़ती हुई एक विराट फलक पर कर्म की प्रेरणा प्रदान करती हुई, सारे कर्मकाण्डों को चुनौती देती है। देवता कहीं और नहीं वह हमारे अपने सात्विक कर्मों में निहित हैं। 'भारततीर्थ' कविता की भाव-भूमि गहरे आत्म-चेतना से जुड़ती है, जहाँ भारत का एक विशाल चित्र उपस्थित होता है। अंग्रेज, शक, हूण, गन्धर्व, फिनर, हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई न जाने कितनी ही परम्पराओं का सार लेकर हम जीते हैं। इतनी सारी परम्पराएँ इसी भारत भूमि में पल्लवित, पोषित होती हैं। यह ऋषियों का देश है, आर्यों का देश है, यहाँ की मिट्टी में एक ऐसे मन्त्र का बीज बोया गया है जो सबको समरसता का अन्न खिलती हुई सबका पोषण करती है। राष्ट्रवाद की संकीर्ण मान्यताओं से ऊपर उठकर जन-गण, वसुधैव कुटुम्बकम् की परिकल्पना इस कविता का मुख्य प्रतिपाद्य है।

2.2.9. बोध प्रश्न

1. तुलनात्मक साहित्य से क्या आशय है ? विवेचना कीजिए।
2. 'ब्राह्मण' कविता में निहित मानवीय मूल्यों को उद्घाटित कीजिए।
3. 'धूलि-मन्दिर' कविता का प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।
4. " 'भारत तीर्थ' कविता भारत की विशालता का बिम्ब प्रस्तुत करने में सफल सिद्ध हुई है।" सोदाहरण विवेचना कीजिए।
5. बांग्ला साहित्य की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
6. रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 3 : तमिल – सुब्रह्मण्यम् भारती

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य कथन
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. सुब्रह्मण्यम् भारती : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  2.3.2.1. परिवेश
  2.3.2.2. रचनाधर्मिता
2.3.3. कविताओं का कथ्य
  2.3.3.1. साम्राज्यवादी शक्तियों की भेद-नीति का जवाब
  2.3.3.2. समतामूलक समाज की स्थापना
  2.3.3.3. औद्योगिक विकास की अवधारणा
2.3.4. पाठ-सार
2.3.5. बोध प्रश्न
2.3.6. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
2.3.7. कठिन शब्दावली
2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

2.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सुब्रह्मण्यम् भारती की कविताओं के माध्यम से तत्कालीन समय की प्रवृत्तियों को आत्मसात कर सकेंगे।
ii. जान पाएँगे कि सुब्रह्मण्यम् भारती ने अपनी कविताओं में भारत की जो तस्वीर गढ़ने की कोशिश की, उसकी क्या विशेषताएँ हैं।
iii. यह भी समझ सकेंगे कि सुब्रह्मण्यम् भारती ने कैसे अपनी रचनाओं में साम्राज्यवादी शक्तियों की विभेदकारी नीति को उजागर किया।
iv. यह जान सकेंगे कि भारती ने समतामूलक समाज की स्थापना के लिए किन पहलुओं पर विशेष ध्यान दिया।

2.3.1. प्रस्तावना

तमिल साहित्य का इतिहास 2500 वर्ष पुराना है। तमिल भाषियों के लिए ईसा की दूसरी शताब्दी विशेष महत्त्व रखती है। इसकी दो वजहें हैं – पहला, तमिल का लिखित इतिहास इसी दूसरी शताब्दी से मिलना आरम्भ होता है। दूसरा, इस सदी तक आते-आते संगम साहित्य का स्वरूप निर्धारण हो चुका था। यह देखा गया है कि संगमकालीन कवियों ने अपनी कविताओं में प्रेम, वीरता, दानशीलता के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य को विशेष स्थान दिया। संगम काव्य में इसके नाम के अनुरूप ही शताधिक कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसके अन्तर्गत 2381 कविताओं को जगह दी गई है। इन कविताओं के रचयिता कवियों की संख्या 473 मानी गई है, जिनमें 102 अज्ञात कवियों की सृजनात्मकता को भी जगह दी गई है। इन कवियों से सम्बन्धित सबसे रोचक तथ्य यह है कि ये कवि विविध पेशों से जुड़े थे। शिक्षक, जौहरी, वैद्य, बढ़ई, ज्योतिषी, सुनार, कुम्हार, राजा, मंत्री आदि इनमें शामिल थे। उल्लेखनीय बात यह है कि इस सूची में तीस कवयित्रियों का नामोल्लेख भी किया जाता है।

संगम काव्य के बाद काव्य की प्रवृत्तियों में बदलाव आता है। फलतः कवियों का रुझान महाकाव्य रचने की तरफ अधिक होने लगता है। जिन कुछेक महाकाव्यों का विशेष उल्लेख किया जाता है, उनमें इलंगो का 'सिल्पप्पदिकारम्', सित्तलै सात्तनार का 'मणिमेकलै' तथा तिरुत्तक्क तेवर का 'जीवक चिन्तामणि' प्रमुख हैं। महाकाव्यों की परम्परा जब क्षीण होने लगी, तब ऐसे समय में 'आलवार' और 'नायनमार' जैसे भक्त कवियों का आविर्भाव होता है। पेरियालवार, नम्मालवार, अप्पर जैसे सन्त कवियों का योगदान इस रूप में है कि इन्होंने अपने काव्य में आम आदमी की भाषा को जगह दी। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय है सुप्रसिद्ध कवि कम्बन और उनका विश्वविख्यात महाकाव्य 'रामावतारम्'।

कम्बन के पूर्व राम का स्मरण स्फुट पदों में करने की परम्परा अवश्य विद्यमान थी। लेकिन, कम्बन पहले कवि हैं, जिनकी लेखनी ने राम विषयक अनुश्रुतियों को एकत्रित किया। उसे बृहत् काव्य का रूप दिया।

किसी रचना के प्रसिद्ध हो जाने पर अन्य कवि-रचनाकार अपनी लेखनी को उसी दिशा में मोड़ने का प्रयास करते हैं। फलतः धीरे-धीरे यह काव्य-रूढ़ि बन जाती है। कम्बन के बाद तमिल काव्य भी इस प्रवृत्ति का शिकार होता है। इसमें भी परम्परागत बिम्ब-विधान तथा छन्दशास्त्रीय शब्दजाल की बहुलता प्रमुख हो गई। जाहिर है, तमिल काव्य की इन रचनात्मक स्थिरता तथा बंध्य कल्पनाशीलता से उबरने की माँग की जाने लगी। इन प्रवृत्तियों से मुक्ति का एक ही उपाय था कि कवियों का ध्यान नवीन विषयों और भावभूमियों की ओर जाए। और यह कि वे तमिलजन के नवीन स्पन्दनों को आत्मसात कर उसे काव्य का रूप दें।

19वीं सदी ने युग की प्रवृत्तियों को कवियों के मानस पटल तक प्रेषित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। यही कारण है कि इस सदी के मध्य से ही नए परिवर्तन के प्रमाण मिलने लगते हैं। इस युग में रामलिंग स्वामी, गोपालस्वामी जैसे कवियों का आविर्भाव होता है। रामलिंग स्वामी की प्रसिद्ध रचना 'तिरु अरुट्पा' है, जिसका अर्थ है – 'भव्य मंगलगीत'। गोपालस्वामी भारती ने काव्य में आम जनता की भाषा को प्रमुखता देते हुए

'नन्दनारचरितम्' की रचना की। इस नवीन भावभूमि को सींचने में वेदनायकम् पिल्लै, बी.आर.राजम् अय्यर, उ. व. स्वामिनाथन् अय्यर जैसे लेखकों ने उत्साहपूर्वक सहयोग किया। इन साहित्यकारों का उल्लेख इस रूप में किया जाता है कि इन्होंने तमिल साहित्य को व्यावहारिकता, सहजता और सरलता के पथ पर अग्रेषित किया। लेकिन, परम्परागत रूढ़ियों से मुक्ति पाना उतना आसान तो नहीं। इसके लिए कठोर प्रहार की ज़रूरत पड़ती है। ऐसे समय में तमिलजन के प्रतिनिधि नायक के रूप में सुब्रह्मण्यम् भारती का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपने काव्य में देशभक्ति की भावना को वाणी दी, उसे लोकोन्मुख बनाया और उसके माध्यम से तमिल प्रेम और तमिल दर्शन को गहरे व्यक्त किया।

2.3.2. सुब्रह्मण्यम् भारती : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

2.3.2.1. परिवेश

सुब्रह्मण्यम् भारती का जन्म 11 दिसंबर 1882 को तमिलनाडु के एट्टयपुरम् में हुआ। उस समय हर ओर गरीबी-भुखमरी का बोलबाला था। भारतीयों पर अंग्रेजी सरकार का कहर व्याप्त था। अंग्रेजों की चाटुकारिता, उनकी नकल, अपनी संस्कृति और संस्कार केबदले उन्हें हर बात में सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति सर्वव्याप्त थी। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि भारतीय संस्कृति के प्रहरी इन विषमताओं को पाटने में प्रयत्नशील थे।

सुब्रह्मण्यम् भारती जब पाँच वर्ष के थे, तो माँ लक्ष्मी अम्मा का साया उनके सर से उठ गया। पिता चिन्नस्वामी अय्यर पढ़े-लिखे विद्वान् थे। उन्हें विज्ञान और गणित से विशेष स्नेह था। वे एट्टयपुरम् के राजा के यहाँ विद्वान् के रूप में नियुक्त थे। पिताजी ने भारती की पढ़ाई पर विशेष ध्यान दिया। वे चाहते थे कि उनकी तरह उनका बेटा भी गणित और अंग्रेजी का विद्वान् बने, विदेश जाए, तकनीकी शिक्षा प्राप्त कर भारत में मशीनरी का कारखाना स्थापित करे। लेकिन, सुब्रह्मण्यम् का मन इन विषयों में कोशिश करने के बाद भी बहुत देर तक नहीं टिकता। तमिल साहित्य में जैसे उनके प्राण बसते थे। कविताएँ तो वे बचपन से ही करने लगे थे। लेकिन निराशाजनक पहलु यह था कि उनके घर में तमिल साहित्य के अध्ययन के लिए उत्साहवर्धक माहौल नहीं था।

सुब्रह्मण्यम् भारती अपने पिता के साथ राजदरबार जाया करते थे। पिताजी जब राजाज्ञा की अनुपालना में राजदरबार से बाहर किसी अन्य कार्य में व्यस्त होते, उस समय सुब्रह्मण्यम् अपनी कविताएँ राजा को सुनाते। राजा उनकी कविताएँ सुनता और प्रसन्न होता। ग्यारह वर्ष की अवस्था के बालक सुब्रह्मण्यम् की प्रतिभा से प्रभावित होकर राजा ने उन्हें 'भारती' की उपाधि से विभूषित किया। उपाधि के अनुरूप ही, सुब्रह्मण्यम् ने अपने सम्पूर्ण जीवन में 'भारती' की सेवा के अलावा अन्य विकल्प की तलाश नहीं की।

सुब्रह्मण्यम् की रचनात्मकता को देख तमिल के प्रमुख समाचार पत्र 'स्वदेश मित्रन' के सम्पादक जी. सुब्रह्मण्यम् ने उन्हें सह-सम्पादक बना दिया। लेकिन, भारती इस समाचार पत्र के साथ बहुत लम्बे समय तक जुड़े नहीं रह सके। वस्तुतः उनकी विचारधारा ने उन्हें कभी समझौता नहीं करने दिया। गरम दल व बाल गंगाधर

तिलक का प्रभाव उन पर इतना प्रबल था कि 'स्वदेश मित्रन' पत्र की नरम दल की पैरवी की प्रवृत्ति उन्हें रास नहीं आई।

हालाँकि अल्पकाल के लिए ही सही, 'स्वदेश मित्रन' पत्र में बतौर सह-सम्पादक कार्य करने का अनुभव उनके लिए उपयोगी रहा। वर्ष 1906 में उन्होंने क्रान्तिकारी साप्ताहिक 'इंडिया' का सम्पादन करना आरम्भ किया। यह सिलसिला आगामी चार वर्षों तक निरन्तर जारी रहा। वर्ष 1908 में उनके गीतों का संग्रह 'स्वदेश गीतांजलि' का प्रकाशन भी हुआ। इस बीच सरकार की नजर उनके क्रान्तिकारी साप्ताहिक पत्र पर पड़ी। सरकार की सख़्ती के कारण उन्हें इस पत्र को वर्ष 1910 में बन्द करना पड़ा। बावजूद इसके सुब्रह्मण्यम् भारती की साहित्यिक लेखनी निर्बाध गति से चलती रही। वर्ष 1910 से 1920 के मध्य उनकी 'पांचाली शपथम् भाग-1', 'सुनहरी पूँछ वाली लोमड़ी', कण्णन् पाट्टु (कृष्ण गीत) आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रकाशन हुआ। वर्ष 1920 में वे पुनः 'स्वदेश मित्रन' के सह-सम्पादक बनाए गए। 12 सितंबर 1921 को सुब्रह्मण्यम् भारती का निधन हो गया।

2.3.2.2. रचनाधर्मिता

तमिल साहित्य में प्राचीनकाल में राजा को केन्द्र में रखकर कविताएँ लिखने की परम्परा थी। मध्यकाल में देवता को केन्द्रीय भूमिका दी जाने लगी। बीसवीं सदी तक आते-आते अपनी भाषा और अपने देश का यशगान कविता का मुख्य स्वर बन जाता है। कहना ना होगा कि सुब्रह्मण्यम् भारती की कविताएँ इस तथ्य की ध्वजावाहक हैं। भारती ने न केवल देशभक्तिपरक या तमिलनाडु के वैभव और संस्कृति पर केन्द्रित कविताएँ लिखीं, बल्कि आराधना गीत, ज्ञान गीत, नीतिशास्त्र और समाज से सम्बन्धित गीत भी लिखे। इसके अलावा उन्होंने तीन महान् गीतों की रचना की जो 'कृष्ण गीत', 'पांचाली की शपथ' और 'कोयल गीत' के नाम से प्रकाशित हुए।

भारती का रचना-संसार विस्तृत है। अत्यल्प समय में उन्होंने विपुल साहित्य की रचना की। ऊर्जावान् भारती चाहते थे कि उनकी सभी पाण्डुलिपियाँ प्रकाशित हों। उनकी योजना पाण्डुलिपियों को चालीस भागों में छपवाने की थी। उनकी ख्वाहिश थी कि प्रत्येक पाण्डुलिपि की न्यूनतम दस हजार प्रतियाँ प्रकाशित हों। इसके अनुसार चालीस भागों की कुल चार लाख प्रतियाँ पाठकों तक पहुँचतीं। वस्तुतः भारती साहित्य के माध्यम से अपनी विचारधारा को अधिकाधिक जन सामान्य तक सम्प्रेषित करना चाहते थे। हालाँकि, सुब्रह्मण्यम् भारती की यह योजना उनके जीते जी पूरी नहीं हो पाई।

भारती अपने साहित्य को 'मिट्टी का तेल' और 'माचिस की डिब्बियों' से उपमित करते हैं। दैनिक जीवन में मिट्टी का तेल और माचिस की डिब्बियों का अपना महत्त्व है। ये दोनों वस्तुएँ मध्यम और निम्न वर्ग का जीवनाधार हैं। मिट्टी के तेल से आग भी पैदा होती है और रौशनी भी। तत्कालीन समाज को आग और रौशनी दोनों की ज़रूरत थी। भारती ने इन उदाहरणों के माध्यम से अपनी रचनाओं की महत्ता इस रूप में प्रतिपादित की है कि उपर्युक्त दोनों वस्तुओं की तरह ही उनकी रचनाओं की उपयोगिता भी असंदिग्ध है। रचनाकार का अपनी रचनाओं के प्रति ऐसा विश्वास निश्चय ही अर्थगर्भी है।

पद्य-रचना के साथ ही सुब्रह्मण्यम् भारती ने गद्य-क्षेत्र में भी विपुल साहित्य की रचना की है। आधुनिक तमिल गद्य निर्माताओं में उनका प्रमुख स्थान है। अन्य भाषाओं की प्रमुख कृतियों के अनुवाद के साथ ही उन्होंने मौलिक ललित निबन्ध, कहानियाँ, रिपोर्ताज आदि की भी रचना की। उन्होंने 'चन्द्रिकैबिन कदै' नाम से एक अपूर्ण उपन्यास भी लिखा। कुल नौ अध्यायों में विभक्त इस उपन्यास में उनके यथार्थवादी उपन्यासकार की झलक देखी जा सकती है। अपनी पद्य-कृतियों के समान ही गद्य-रचनाओं में भी भारती ने देशभक्ति एवं सामाजिक सुधार को मुख्य विषय बनाया है। भारती एक जागरूक एवं कर्त्तव्यनिष्ठ पत्रकार भी थे। अपनी सजग पत्रकारिता के माध्यम से उन्होंने तमिलभाषियों को जाग्रत् करने का महती कार्य किया।

2.3.3. कविताओं का कथ्य

साहित्य के क्षेत्र में रीति को नकारकर सुब्रह्मण्यम् भारती ने अपनी रचनाओं में आधुनिक जीवन पर आधारित विषय-वस्तु को प्राथमिकता दी। उनका साहित्य जीवन के इतना करीब था कि पाठकों-श्रोताओं को उससे अपने को अलगाना कठिन था। भारती अपनी कविताओं की तुलना 'मिट्टी का तेल' एवं 'माचिस की डिब्बिया' जैसी जीवनोपयोगी वस्तुओं से करते हैं। जिस प्रकार तेल, नमक, माचिस आदि दैनिक व्यवहार से जुड़ी अनिवार्य वस्तुएँ हैं; भारती की नज़र में साहित्य भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए उतना ही अनिवार्य है। भारती की कविताएँ और उनका सम्पूर्ण लेखन तत्कालीन समाज में फैली विकृतियों को आड़े हाथों लेता है। क्रान्तिकारी विचारधारा वाले भारती अव्यवस्था उत्पन्न करने वालों के सम्मुख हो उनसे सवाल करते हैं। स्त्री-प्रताड़ना, बालविवाह, ऊँच-नीच, छुआछूत, भेदभाव, दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार आदि को भारती समाज के स्वस्थ विकास में बाधक मानते हैं। साथ ही वे अंग्रेजी सरकार की अनुचित नीतियों का भी विरोध करते हैं। वे अंग्रेजों की असलियत को तमिलजन के सामने उद्घाटित करते हैं। साम्राज्यवादी देशों की सत्ता में जकड़े तत्कालीन भारत की दयनीय दशा को आधार बनाकर उन्होंने 'पांचाली शपथम्' की रचना की। भारती समाज में आर्थिक समानता का स्वप्न देखते थे।

सुब्रह्मण्यम् भारती से पूर्व हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु का ध्यान भी इन विषमताओं की ओर गया था। भारती उसी विचारधारा के अनुगामी थे। भारतेन्दु निजभाषा प्रयोग के पक्षधर थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है – "निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटन न हिय के सूल।" उसी प्रकार भारती भी मानते हैं कि मातृभाषा की उन्नति के बिना किसी भी समाज की उन्नति सम्भव नहीं है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि अपनी भाषा के ज्ञान के बिना मन की पीड़ा को दूर करना भी मुश्किल है। भारती ने भारतभूमि की वन्दना अपनी भाषा में करने पर बल दिया है।

रचनात्मक स्पेस के अनुकूल ही धैर्य और साहस की अपेक्षा होती है। भारती की कविताओं में दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। उनके लिए अंग्रेजों की गुलामी और चापलूसी करना बहुत कठिन नहीं था। ऐसा करना उस वक़्त चलन में भी था। लेकिन, भारती ने साहस का पथ अख़्तियार किया। अपनी रचनाओं के द्वारा उन्होंने निडरता से व्यक्ति-समाज की खबर तो ली ही; साथ ही अंग्रेजी सरकार को चुनौती देने में भी अपने कदम पीछे नहीं हटाए।

अपनी इन क्रान्तिकारी प्रवृतियों के कारण ही उन्हें तमिलनाडु से भागकर पांडिचेरी में शरण लेनी पड़ी। उनकी लेखनी में वह आग दहकती है, जिसमें समस्त बुराइयों को जलाकर खाक कर देने की अभीप्सा है। वे ब्रिटिश शासन से मुक्ति के साथ ही भारतवर्ष को रूढ़िग्रस्त विकृत परम्पराओं, भटके हुए धर्म, पाखण्ड, अन्धविश्वासों, कुरीतियों से मुक्त देखने के अभिलाषी हैं।

सुब्रह्मण्यम् भारती की कविताओं में प्रयुक्त भाषा में सरलता, तन्मयता, स्पष्टवादिता का प्राचुर्य है। भारती जानते थे कि उनकी रचनाओं का पाठक वर्ग कौन है इसलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में बदलते समय की ध्वनियों, विषयों और लोकजीवन को मानवीय अभिव्यक्ति दी है। इनके अधिकाधिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रसार के लिए वे लोक संवेदना, लोकभाषा और ग्राम गीतों को चुनते हैं, जिससे रचना में मारक प्रभाव उत्पन्न हो सके। सुब्रह्मण्यम् भारती का काव्य राष्ट्रीय जागरण का उद्‌बोधन और राष्ट्रीय चेतना का काव्य है। उनकी चेष्टा आलस्य और प्रमाद में निमग्न भारतवासियों को झकझोरने, जगाने और उन्हें गम्भीर चेतना-उद्‌बोधक सन्देश देने की है। यही कारण है कि वे सामाजिक विकृतियों पर बार-बार करारी चोट करने के अपने उद्देश्यों से कभी पीछे नहीं हटते।

2.3.3.1. साम्राज्यवादी शक्तियों की भेद-नीति का जवाब

यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों ने शक्ति हासिल करने एवं उसे यथास्थिति बनाए रखने के लिए भेद-नीति का पुरजोर सहारा लिया। भेद-नीति में प्रतिपक्ष में खड़ी शक्तियों को टुकड़ों में बाँटकर उन्हें एक होने से रोकने की हर सम्भव कोशिश की जाती है। इसके लिए धर्म, भाषा, जाति, ऊँच-नीच आदि को आधार बनाया जाता है। सुब्रह्मण्यम् भारती की कविता 'रे विदेशियो ! भेद न हममें' में साम्राज्यवादी शक्तियों की इस भेद-नीति को उजागर किया गया है।

'रे विदेशियो ! भेद न हममें' कविता में राष्ट्र-प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है। इस अभिव्यक्ति के प्रचार-प्रसार के लिए 'वन्दे मातरम्' का महामन्त्र की तरह जाप करने पर बल है। जाहिर है, 'वन्दे मातरम्' महज शब्द नहीं, बल्कि तत्कालीन समाज के लिए शक्ति और एकता का अक्षय प्रेरणा-स्रोत है। इस पद में एक ऐसी दृष्टि है जिसके धारण से ही तमाम विषमताओं को मिटा देने की ऊर्जा प्रवाहित होने लगती है। यह एक ऐसा महामन्त्र है, जिसके जाप से ही व्यक्ति के भीतर आत्मविश्वास की धारा बहने लगती है।

भारती ने यह कविता साम्राज्यवादी शक्तियों को सामने रखकर लिखी है। उन्होंने इस कविता में उन स्थलों की पहचान की है जिनका सहारा लेकर साम्राज्यवादी शक्तियाँ भारतीयों के मध्य असमानता के बीच बोती थीं। भारती उन बिन्दुओं को एक-एक कर कविता में लेकर आते हैं, तथा साम्राज्यवादी शक्तियों को उनका जवाब देते हैं। उन्होंने दो टूक शब्दों में कहा है कि कोई इस भारत भू पर पैदा होने वाले व्यक्ति को मामूली समझने की भूल ना करे। यह उदारहृदय लोगों की महान् जन्मभूमि है। यहाँ धर्म, जाति के आधार पर समानता बरती जाती है।

भारती ने ज्यों ही भारतीय समानता की प्रवृत्ति का गुणगान किया तुरन्त साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत में व्याप्त अछूत समस्या का मुद्दा उछाल दिया। उन्होंने ऐसा इसलिए किया ताकि भारतीयों में एका और प्रेम कायम

ना हो सके। लेकिन, भारती ने उनकी इस कुटिलता का जवाब उनसे ही प्रश्न करके दिया। उन्होंने सवाल दागा कि जिन अछूतों की बात आप कर रहे हैं, क्या वे सभी व्यर्थ हैं ? जिन अछूतों की बात आप कर रहे हैं, क्या उनकी जन-जीवन में सार्थकता नहीं है ? जिन अछूतों की बात आप कर रहे हैं, क्या वे भारत को छोड़कर चीनी बन जाएँगे ? जिन अछूतों की बात आप कर रहे हैं, क्या वे इस देश को क्षति पहुँचाएँगे ? भारत में सदैव ही हजारों जातियाँ निवास करती रही हैं। लेकिन, हमारे मध्य कभी भी वैमनस्य का भाव नहीं रहा है। हम एक ही माँ की संतानें हैं, इसलिए हममें भाईचारा है और सदा रहेगा। हमारे मध्य की एकता को भंग करने की कोशिश न करें।

भारती ने इस भेद-नीति की भयावहता को बहुत गहरे आत्मसात किया था। वे बखूबी जानते थे कि साम्राज्यवादी शक्तियों की इस कपटपूर्ण नीति की वजह से हमारा अधोपतन निरन्तर होता रहेगा। लोक में जागरूकता कायम करने के लिहाज से भारती यह बताना नहीं भूलते कि साम्राज्यवादी शक्तियों की इसी भेद-नीति की वजह से हमें नीच और दास तक कहा गया। वे तमिलजन को ललकारते हुए कहते हैं कि मस्तक पर लगे कलंक को धोने का समय आ गया है। सभी मिलकर यह शपथ लें कि अब हम पहले के समान परतन्त्रता बर्दाश्त नहीं करेंगे।

भेद-नीति सम्बन्धी भारती का यह दृष्टिकोण कई मायनों में आज भी प्रासंगिक है। अपने आस-पास देखने की ज़रूरत है। विभाजन, उप-विभाजन से किसी का भी भला नहीं होगा। साम्राज्यवादी शक्तियों ने इस हथियार का उपयोग अपनी सत्ता और शक्ति को यथास्थिति बनाए रखने के लिए किया था। स्वतन्त्र भारत में भी सरकारें इस हथियार का इस्तेमाल करती रही हैं। यह कपटपूर्ण प्रवृत्ति आज भी चलन में है। भारतीयों को इसके प्रति सचेत व जागरूक करने की ज़रूरत है।

2.3.3.2. समतामूलक समाज की स्थापना

सुब्रह्मण्यम् भारती के जीवनकाल में भारत की परिस्थितियाँ सीधी-सरल नहीं थीं। प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का वातावरण तनावपूर्ण और संघर्षमय था। भारती के जन्म से पूर्व 1857 की विद्रोहाग्नि अपना असर दिखा चुकी थी। ब्रिटिश साम्राज्य की दमनकारी नीति, औद्योगिक क्रान्ति, पूँजीवाद, बाजार और अर्थतन्त्र, सामाजिक-धार्मिक-सांस्कृतिक प्रश्न, कला, साहित्य और विशेष रूप से तमिलभाषा के मुद्दे और मसले सब बहुत जटिल थे। अंग्रेजों की राजनैतिक प्रभुता केन्द्र में थी। उनकी नीति थी – 'Divide and Rule' ('बाँटो और राज करो')। भारती समझ चुके थे कि आजादी का स्वप्न पूरा करना आसान नहीं है। उसे हासिल करने के लिए इन विषमताओं की बेड़ियों को काटना होगा। फूट पड़ने से होने वाली हानियों से भारतीयों को अवगत कराना होगा। भारती जब इन समस्याओं पर विचार करते हैं तो उन्हें जाति-प्रथा की निरन्तरता सबसे बड़ी समस्या मालूम पड़ती है। समतामूलक समाज की स्थापना के लिए इस प्रथा का खात्मा करना उनका परम लक्ष्य है। इसलिए, वे तमिलजन को सचेत करने के लिहाज से कहते हैं कि जिन्हें हम अछूत कहते हैं, वे भी तो इसी भारतभूमि की संतानें हैं। वे विदेशी नहीं हैं और न कभी बनेंगे। इस पुण्यभूमि पर पैदा होने वाला प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात ही महान् है।

भारती को छुआछूत निवारणार्थ ऐसी पंक्तियाँ बार-बार लिखने की ज़रूरत इसलिए पड़ी, क्योंकि वे इस कुप्रथा की गहरे विद्यमान जड़ों से बखूबी परिचित थे। निश्चय ही सामाजिक जड़ता के प्रति उनकी दृष्टि अचूक थी और हृदय विशाल था। भारती न केवल अपनी कविताओं में बल्कि गद्य रचनाओं में भी इस समस्या को लगातार उठाते रहे और जनता को जागरूक करने की हर सम्भव कोशिश करते रहे। उनकी एक लम्बी कहानी का नाम है, 'छठवाँ भाग'। इस कहानी में देश की उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य के पालन के साथ जातीय समानता की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। इसी तरह अपनी एक दूसरी कहानी 'क्रिबनकंक्स किला' में उन्होंने देश के निर्माण में अछूतों के अस्वीकार और तिरस्कार से होने वाले नुकसान पर प्रकाश डाला है।

भारती ने अपने साहित्य के माध्यम से जिस समस्या की ओर बीसवीं सदी के आरम्भ में ही सचेत कर दिया था, वह आज भी मुँह बाए खड़ी है। आज भी भारतीय सामाजिक व्यवस्था जातिगत आधार पर बँटी हुई है। आज भी ऊँच-नीच का भाव समग्र व्याप्त है।

जिस समाज में किसी अन्य जाति को अपने से नीचा समझा जाएगा, जिस समाज में समस्त जातियों का सम्मान नहीं होगा, जिस समाज में स्त्रियों एवं बच्चों को उनका हक नहीं मिलेगा; वह समाज मानवीय संवेदना को कैसे आत्मसात कर सकता है ! आजादी की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों की रक्षा से भी है। वास्तव में विकास की गति एकरेखीय नहीं होती, उसमें विविधतापूर्ण मानव-समाज को गहरे में वहन करने की क्षमता होती है। जो समाज विकास के इन गम्भीर तत्त्वों को नहीं पहचानता है या पहचानते हुए भी जान-बूझ कर उनकी उपेक्षा कर देता है; उसके गर्त में जाने की सम्भावना हावी होने लगती है। समाज के समतामूलक विकास से ही देश का विकास परिभाषित होता है। इसीलिए शोषित समुदाय के हितैषी महात्मा गाँधी सचेत करते हैं कि "कोई भी कार्य करने से पहले यह सोच लेना चाहिए कि उस काम के करने से समाज के शोषित तबकों को कितना लाभ पहुँचेगा।" विकास की यही दृष्टि भारती के काव्य में भी देखने को मिलती है। सही मायने में सुब्रह्मण्यम् भारती की रचनाएँ आज भी उतनी ही प्रासंगिक हैं।

2.3.3.3. औद्योगिक विकास की अवधारणा

सुब्रह्मण्यम् भारती ने औद्योगिक विकास को माध्यम बनाकर देश में विभिन्न प्रदेशों के मध्य पारस्परिक तालमेल कायम करने का प्रयास किया। उनकी दृष्टि में औद्योगीकरण जनता का, जनता के लिए एवं जनता के द्वारा किया जाने वाला प्रयत्न है। भारती की 'सब शत्रुभाव मिट जाएँगे' कविता इस तथ्य की पुष्टि करती है। भारती ने गरीबी देखी थी। वे भोजन, कपड़ा और मकान की महत्ता से सुपरिचित हैं। इसलिए जब वे औद्योगिक विकास की बात करते हैं तो इसके माध्यम से होने वाली धन-धान्य में वृद्धि तथा समृद्धि की आशा से प्रफुल्लित हो उठते हैं। बाँध का बनाया जाना उन्हें राष्ट्रोन्नति और विकास के लिए उचित प्रतीत होता है। उनके अनुसार बाँध इसलिए ज़रूरी है कि उससे जल की समुचित व्यवस्था की जाएगी और जहाँ कहीं पानी की कमी होगी, बाँधों के माध्यम से उन स्थानों में सिंचाई का उत्तम प्रबन्ध कर औसत से अधिक पैदावार की जा सकेगी।

देश की समृद्धि वहाँ उपलब्ध दुर्लभ धातुओं पर भी निर्भर करती है। सोना कीमती व दुर्लभ धातु है। भारती संसाधनों के माध्यम से सोने की खदानें तलाशने और देश में निर्मित मशीनरी के माध्यम से उन्हें खोद कर सोना उत्पादन करने की वकालत करते हैं। उनका विश्वास है कि भारतभूमि के गर्भ में बहुमूल्य धातुएँ विद्यमान हैं। आवश्यकता है कि उन स्थानों को चिह्नित कर उन धातुओं को खोद निकाला जाय। वे कहते हैं कि यदि उद्यम किया जाए तो भारत की खदानों से इतना अधिक सोना निकलेगा कि उसका निर्यात विश्व के कोने-कोने में किया जा सकेगा। भारती यह जानते थे कि अंग्रेजी सरकार भारत से कच्ची वस्तुएँ ओने-पौने दाम पर खरीदकर विदेश ले जाती है और उनसे निर्मित वस्तुओं का निर्यात चौगुने दाम पर भारत में करके उच्च मुनाफा अर्जित करती है। भारती भारत की एक ऐसी तस्वीर निर्मित करते हैं जहाँ किसी की गुलामी न करनी पड़े। वे एक ऐसे भारत की कल्पना करते हैं जहाँ व्यापार करने के लिए दुनिया के व्यापारी लालायित होंगे। वर्तमान भारत की व्यापार-नीति पर ध्यान दें तो भारती की यह परिकल्पना बहुत मूल्यवान् प्रतीत होती है। भारती की बातों का मर्म तब अधिक अच्छे से समझा जा सकता है जब इस तथ्य पर ध्यान दिया जाए कि आज विश्व के विभिन्न देशों द्वारा भारत में अपने उद्योग स्थापित करने के लिए पसीने बहाए जा रहे हैं।

सुब्रह्मण्यम् भारती ने अपनी रचनाओं में देश के संतुलित विकास पर बल दिया है। उनके अनुसार यह संतुलन तभी कायम हो सकेगा जब राष्ट्र में विभिन्न प्रदेशों के मध्य भी पारस्परिक विनिमय की उचित व्यवस्था की जाएगी। औद्योगिक दृष्टि अपनाकर ऐसा करना सहज ही सम्भव है। गंगा के कछार में गेहूँ की पैदावार अधिक है। गंगा उत्तर भारत में बहती है। कावेरी के किनारे पान अच्छे होते हैं। कावेरी कर्नाटक और तमिलनाडु के मध्य बहने वाली सदानीरा नदी है। भारती इन दोनों वस्तुओं (गेहूँ और पान) का आपस में आदान-प्रदान करने की बात करते हैं। यहाँ गाँधीजी की विचारधारा का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। गाँधीजी ने कहा था कि आत्मनिर्भर समाज स्वस्थ भारत का आधार है। उन्होंने विकास का जो मॉडल प्रस्तुत किया था, उसमें राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई, यानी गाँव को आत्मनिर्भर बनाने की बात की थी। यही खुशहाल समाज का आधार भी है। जब प्रदेश की जनता सम्पन्न होगी तब वह कलाकर्म में भी लीन होगी। व्यक्ति और समाज के स्वस्थ विकास के लिए रोटी, कपड़ा और मकान के साथ मानसिक खुराक की भी ज़रूरत होती है। व्यक्ति अपने आसपास से तभी संवेदित होगा जब वह सत्साहित्य पढ़ने-सुनने का अभ्यासी होगा। अपने क्षेत्र की सांस्कृतिक धरोहर से भलीभाँति परिचित होने के साथ ही अन्य प्रदेशों की रचनात्मकता से सम्बन्ध स्थापित करना व्यक्ति की बुनियादी ज़रूरत है। भारती मराठी कवियों की कविताएँ सुनकर उन्हें केरल-गजदन्त भेंट करके सम्मानित करना चाहते हैं। वे ऐसे-ऐसे यन्त्रों के आविष्कार की कल्पना करते हैं, जिसकी सहायता से काशी के विद्वानों के व्याख्यान अपने प्रदेश में रहकर ही सुने जा सकें। आज के टेलीफोनिक युग में भारती की इस आकांक्षा के मर्म को समझना थोड़ा मुश्किल है। आज का युवा सोचेगा कि दूसरे प्रदेश के लोगों से बात करना कौन सी बड़ी बात है। लेकिन, इस निर्णय पर पहुँचने से पहले बीसवीं सदी के प्रारम्भ को ध्यान में रखना होगा, जहाँ ऐसे यन्त्रों का सर्वथा अभाव था।

भारती रेशमी व सूती वस्त्रों का उत्पादन बढ़ाने पर बल देते हैं। उनकी दूरदृष्टि का आकलन इससे भी लगाया जा सकता है कि वे देश के भीतर ही अस्त्र-शस्त्रों के उत्पादन की बात करते हैं। भारती के मन में यह बात

भी अवश्य रही होगी कि अस्त्र-शस्त्र के निर्माण को लेकर सवाल भी किए जा सकते हैं। इसलिए वे स्पष्ट तौर पर निर्देश देते हैं कि हथियारों के निर्माण के विधिवत प्रशिक्षण के लिए राष्ट्र में औद्योगिक और शैक्षणिक शालाएँ निर्मित की जाएँ। शालाओं में श्रमिकों को भी शस्त्र-ज्ञान दिया जाए। जाहिर है, ऐसा करने के लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता होगी और लक्ष्य पर एकाग्रचित्त होकर ध्यान रखना होगा। इसके लिए वे रंचमात्र विश्राम न करने का संकल्प लेने की प्रेरणा देते हैं।

आज वैश्विक स्तर पर हथियारों की खरीद-बिक्री बहुत धड़ल्ले से हो रही है। भारत के सन्दर्भ में बात करें तो देश की राष्ट्रीय आय का एक बड़ा हिस्सा इन हथियारों की खरीद में लगाया जा रहा है। भारती के भारत में ऐसी नीति के लिए कोई जगह नहीं है। यहाँ तो कृषि के उपयोगी यन्त्रों से लेकर वायुयान तक का निर्माण करने का स्वप्न है। सिर्फ यही नहीं, उत्पादन की जाने वाली वस्तुओं की सूची में भव्य वाहन तथा जलयान को भी शामिल किया गया है। भारती का मत है कि यदि यह सपना साकार हुआ तो भारत को दुनिया पर राज करने से कोई नहीं रोक सकता। स्वयं के संसाधन विकसित करने से राष्ट्र के विकास की गति में तीव्रता आएगी और नभ में चन्द्रमा तथा उससे आगे तक की यात्राएँ एवं अनुसंधान भी किये जा सकेंगे। सुब्रह्मण्यम् भारती भारत की उन्नति एवं समृद्धि के प्रति महत्त्वाकांक्षी हैं। वे समूचे विश्व के समस्त उद्योग भारतभूमि पर स्थापित करने का स्वप्न भी देखते हैं। सुई से लेकर बढ़ई के काम में इस्तेमाल होने वाले यन्त्र का उत्पादन वे अपने ही देश में करने की बात करते हैं। भारती का विश्वास है कि हरे-भरे वन-उपवन से भरे-पूरे भारत में एक दिन इतनी समृद्धि आएगी कि सब शत्रुभाव स्वतः ही तिरोहित हो जाएँगे। इन सबका सकारात्मक प्रभाव इतना होगा कि जातियों की जकड़न से भी मुक्ति मिल जाएगी और तब सिर्फ दो ही जातियाँ अस्तित्व में रहेंगी – 'नर' एवं 'नारी'।

2.3.4. पाठ-सार

सुब्रह्मण्यम् भारती से पूर्व तमिल साहित्य परम्परा में महाकाव्यपरक रचनाएँ केन्द्र में थीं। एक समय ऐसा भी आया जब रचनाओं में परम्परागत बिम्ब-विधान, छन्दशास्त्रीय शब्दजाल को ही प्रमुखता दी गई। भारती का समय पूर्ववर्ती समय से इस मायने में भिन्न है कि इस समय रचित साहित्य में सहजता एवं सरलता के साथ काव्य में देशभक्ति की भावना को महत्त्व दिया गया और काव्य को लोकोन्मुख बनाया गया।

सुब्रह्मण्यम् भारती की कविताओं में साम्राज्यवादी शक्तियों की विभेदकारी नीति को प्रकट किया गया है और भारत को आत्मनिर्भर बनाने का उद्‌बोधन दिया गया है। भारती तमिलजन को जागरूक करना चाहते हैं। वे उस जागरूकता के बूते लोक को संगठित होने की प्रेरणा देते हैं। वे ऊँच-नीच, जाति-धर्म के स्तर पर समानता की वकालत करते हैं। भारती भारत को समृद्धि और उन्नति के पथ पर ले जाने के आकांक्षी हैं। वे कोरी आकांक्षा व्यक्त नहीं करते प्रत्युत उन्नति के उपाय भी सुझाते हैं। उनका विश्वास है कि एक दिन भारत एक ऐसा देश बनेगा जो समूचे विश्व पर राज करेगा। तब दुनिया के तमाम उद्योग-धंधे भारत में स्थापित किये जाएँगे। भारती के भारत में प्रत्येक प्रदेश आत्मनिर्भर होगा। प्रदेश के संसाधनों के सदुपयोग से जनजीवन में खुशहाली आएगी।

2.3.5. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'रे विदेशियो ! भेद न हममें' कविता किसे सम्बोधित है ?

(क) अंग्रेज़ों को
(ख) मुगलों को
(ग) फ्रांसीसियों को
(घ) सभी साम्राज्यवादी शक्तियों को

2. 'आठ दिशाओं' से तात्पर्य है –

(क) अमरीका
(ख) पाकिस्तान
(ग) चीन
(घ) पूरा विश्व

3. 'मरहठों की ओजस कविता' कहा गया है –

(क) तमिल कविताओं को
(ख) कन्नड़ कविताओं को
(ग) मराठी कविताओं को
(घ) तेलुगू कविताओं को

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. तमिल साहित्य की परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. 'रे विदेशियो ! भेद न हममें' कविता में अधोपतन के कारणों की चर्चा कीजिए।
3. 'सब शत्रुभाव मिट जाएँगे' कविता में जलमार्गों का मुख पश्चिम की ओर मोड़ने की व्याख्या कीजिए।
4. "कुछ न असम्भव हमें, असम्भव को सम्भव कर पाएँगे।" पंक्ति की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "ब्रिटिश हुकूमत की भेद-नीति की वजह से भारत को आजाद होने में अधिक वक्त लगा।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
2. 'सब शत्रुभाव मिट जाएँगे' कविता के सन्दर्भ में सुब्रह्मण्यम् भारती की औद्योगिक नीति का विवेचन कीजिए।

3. 'रे विदेशियो ! भेद न हममें' कविता में सुब्रह्मण्यम् भारती का बल किन बिन्दुओं पर अधिक है ? विश्लेषण कीजिए।
4. "जाति, धर्म का दम्भ समाज के विकास में बाधक है।" व्याख्यायित कीजिए।

2.3.6. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. सुब्रह्मण्यम् भारती सदृश देशभक्तिपरक कविताएँ लिखने वाले हिन्दी के किसी एक कवि की रचनाओं का विश्लेषण कीजिए।

2.3.7. कठिन शब्दावली

सदानीरा	:	सदा प्रवाहित होने वाली नदी
प्रसूत	:	पैदा हुआ
स्फुट	:	छिट-पुट
अनुश्रुति	:	श्रुति परम्परा से प्राप्त कथा तथा ज्ञान

2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. नन्दकुमार, प्रेमा (1979), भारतीय साहित्य के निर्माता भारती, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली
2. शर्मा, रामविलास (1999), भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 81-7016-439-7
3. गोविन्दराजन्, एम. (2001), तमिल साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भाषा संगम, चेन्नई
4. Venkatchalapathy, A.R (2018), Who Owns That Songs, juggernaut, shahpur jat, New Delhi, ISBN : 9789386228673
5. Indian express (May, 13, 2018), The Sunday express Magazine
6. सुब्रह्मण्यम् भारती की राष्ट्रीय कविताएँ एवं 'पांचाली शपथम्'

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. https://www.youtube.com/watch?v=ImYv7lTK9E4
2. https://www.youtube.com/watch?v=o8ISYEnjZkI
3. https://www.youtube.com/watch?v=O2A6LTIxMos&t=46s
4. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
5. http://www.hindisamay.com/
6. http://hindinest.com/

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 4 : पंजाबी – पाश

इकाई की रूपरेखा

2.4.0. उद्देश्य कथन
2.4.1. प्रस्तावना
2.4.2. रचनात्मक परिवेश
2.4.3. 'सबसे ख़तरनाक' : अन्तर्वस्तु-विश्लेषण
2.4.4. 'मेरी बुलबुल' : अन्तर्वस्तु-विश्लेषण
2.4.5. पाठ-सार
2.4.6. बोध प्रश्न
2.4.7. सहायक ग्रन्थ

2.4.0. उद्देश्य कथन

भारत की सांस्कृतिक समझ और साझी विरासत को समझने के लिए भारत की अन्य भाषा-बोलियों में रचित साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप पंजाबी भाषा के कवि अवतार सिंह संधू 'पाश' की रचनाधर्मिता का अध्ययन करेंगे। पंजाबी भाषा के कवि का अध्ययन पंजाब की सांस्कृतिक विरासत से परिचय कराता है। पाश की हिन्दी में अनूदित कविताओं 'सबसे खतरनाक' और 'मेरी बुलबुल' के विश्लेषण के माध्यम से आप पंजाबी भाषा और पाश के चिन्तन की विराटता को समझ सकेंगे। भगतसिंह की चेतना का उजास 'पाश' की कविता में देखने को मिलता है। 'पाश' की कविता के बहाने आप भारत के भारतीय भाषा के लेखक के माध्यम से सन् 70 से 80 के दशक की काव्यात्मक चिन्तन के 'सेंस' और 'रिस्पांस' को देख पाएँगे। अनुभूति जब जिम्मेदारी में धुल जाती है तो उसका तेवर असाधारण बोध का हो जाता है। इसी असाधारणता को पाश की कविताओं में देखा जा सकता है। इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. कवि के संघर्ष साथ ही, सत्ता और समाज की चुनौतियों को समझ सकेंगे।
ii. "कवि का अपनी भूमि से लगाव उसकी काव्यात्मक चेतना से कैसे जुड़ता है" – इसे समझ सकेंगे।
iii. भारत के राजनैतिक परिदृश्य में कविता की सृजनात्मकता से परिचित हो सकेंगे।
iv. भाषा की लोकरंजकता तथा लोकभाषा का कविता में संगुफन कैसे कविता को विशिष्ट बनाता है – यह समझ सकेंगे।

2.4.1. प्रस्तावना

अवतार सिंह संधु 'पाश' 1970 की पंजाबी कविता का वह चमकता सितारा था जिसने समतावादी दुनिया की चाहत की थी। 9 सितम्बर 1950 को तलवंडी सलेम, तहसील नकोदर, ज़िला जालन्धर में जन्मे इस कवि को मात्र 37 वर्ष की अवस्था अर्थात् 23 मार्च 1988 को खालिस्तानी आतंकवादियों द्वारा मार दिया गया।

लौहकथा (1970) उड्ड़दे बाजाँ मगर (1974), साडे समियाँ विच (1978) लडांगे साथी (1988) खिल्लरे होए वर्के (1989) इनके प्रमुख कविता-संग्रह हैं। हिन्दी में उनका प्रथम संग्रह 'बीच का रास्ता नहीं होता' (1989) का प्रकाशन होता है। उनका दूसरा संकलन 'समय ओ भाई समय' (1993) में आता है। 'पाश कविता समग्र' का प्रकाशन भी अब हो चुका है जिसमें उनकी अनेक नई-पुरानी कविताओं का संकलन किया गया है।

2.4.2. रचनात्मक परिवेश

ऐसे समय में जब भारतीय कविता विभिन्न रूपों में प्रस्तुत हो लक्ष्य का निर्धारण कर रही थी तब भारत के पंजाब प्रान्त में अवतार सिंह संधू'पाश' अपनी कविता में मिट्टी की महक को महसूस कर रहा था। भारत का रूपक वह खेतों, फसलों, त्योहारों के माध्यम से अपनी कविता में ढूँढ रहा था। पिता की काव्यात्मक विरासत का स्फुरण कवि 'पाश' में था लेकिन कविता में 'माँ' हर जगह विद्यमान थी। जो कवि किसी प्रेमिका की तरह अपनी धरती से प्यार करता था उसकी कविता को खतरनाक साबित किया गया। उसकी कविता से वो सरकार डरती थी जो अपनी सत्ता स्थापित कर लोगों को डराना चाहती थी। 'पाश' हर उस छलावे से दूर रहना चाहते थे जो साधारण जन को शिकार बनाती थी चाहे पार्टी हो या कविता। अतएव कभी कम्युनिस्ट कभी नक्सल, कभी लेनिन के विचारों से प्रभावित यह कवि साधारण-जन के जीवन को सृजनात्मक चिन्तन के माध्यम से कभी स्कूल खोल कर, कभी हस्तलिखित पत्रिका 'हाक' निकालकर बदलना चाहता है।

'सिआड़', 'हाक', 'हैम ज्योति' तथा 'एंटी-47' जैसी पत्रिकाएँ निकालकर जन-जीवन में यथा-स्थिति को बदलना चाह रहे थे। 1970 के दशक के बाद की पंजाबी कविता को 'पाश' ने नई ऊँचाइयों पर पहुँचा दिया। अब तक के लेखक के पास सदैव भारत-पाक विभाजन की त्रासदी के किस्से को 'पाश' ने बदलकर 'पंजाब' केन्द्रित बना दिया। इन कविताओं में अतीत मोह या अश्रू नहीं थे। उनकी कविता के केन्द्र में संघर्ष था जिसे खालिस्तानी आन्दोलन के विरोध ने और धारदार बना दिया था। पाश ने अपने पहले काव्य-संग्रह 'लौहकथा' में पहली कविता 'भारत' लिखी है। 'भारत' कविता भौगोलिक सीमांकन से परे सामान्य जन के जुड़ाव से जुड़ जाती है –

इस शब्द के अर्थ
खेतों के उन बेटों में हैं
जो आज भी वृक्षों की परछाइयों से
वक़्त मापते हैं

भारत के अर्थ
किसी दुष्यन्त से सम्बन्धित नहीं
वरन् खेतों में दायर हैं
जहाँ अन्न उगता है
जहाँ सेंध लगती है

यह सामान्य जुड़ाव सिर्फ़ 'भारत' तक ही निबद्ध नहीं है। वह अपने गीतों के एक-एक बोल इस देश के गूँगों को, सामान्य जन को न्योछावर करना चाहता है।

'मुझे चाहिए कुछ बोल' कविता में कवि अपने उन सारी प्रिय वस्तु को त्याज्य समझता है जब उसे एक 'उम्दा' बोल मिल जाए – जो जनता के काम आ सके। इस क्रम में कवि स्वयं को 'कविताओं की धूनी' पर स्वयं को जला देने की बात करता है। अमीन सायानी के डायलॉग आनन्द बख्शी, लक्ष्मीकान्त, इंदिरा के भाषण, यमला जट्ट की तूंबी, टैगार का नेशनल एंथम, गुलशन नंदा के नावेल, जफ़रनामा, बाजपेयी के बोझिल बदन, हेमंत वसु की लाश, लाला जगतनारायण का सिर, माओ – ये सब कवि पाश के किसी काम के नहीं हैं, यदि उसे ऐसे कुछ बोल न मिलें जिससे एक गीत न बन सके। उसकी तासीर इतनी तेज है कि अपना पहला संग्रह 'लौहकथा' भी वह कुर्बान करने को तैयार है, अपने प्रिय कवि अमरजीत 'चन्दन' को भी त्याग सकने की हिम्मत है उसमें, गर उसे ऐसे बोल मिल सकें जिससे गीत बन सके। कविता के अन्त में, वह बताता है कि यह गीत उसे क्यों चाहिए –

यह गीत मुझे उन गूँगों को देना है
जिन्हें गीतों की कद्र है
लेकिन जिनका आपके हिसाब से गाना नहीं बनता

(सम्पूर्ण कविताएँ – पाश, पृ. 93)

पाश यह भी चुनौती देना नहीं भूलते कि –

गर आपके पास नहीं है कोई बोल, कोई गीत
मुझे बकने दें मैं जो बकता हूँ।

2.4.3. 'सबसे ख़तरनाक' : अन्तर्वस्तु-विश्लेषण

यह कविता पंजाब सन्दर्भित कविताओं में से एक है। इसका रचनाकाल 1978-88 है। यह कविता पाश की अन्तिम कविताओं में से एक है जो अपूर्ण रह गई लम्बी कविता के अंश के रूप में मिलती है।

पाश की कविताओं पर काम करने वाले आलोचक 'चमनलाल' ने इस कविता के बारे में लिखा है, "इस कविता में पाश ने शोषण, दमन और अत्याचार से भी अधिक खतरनाक माना है – इंसान का प्रतिरोध करने, जीने

और उसके सपनों के मर जाने की स्थिति को। आकस्मिक नहीं कि पाश ने स्वयं अपने बलिदान द्वारा इस 'सबसे खतरनाक' स्थिति को भेद दिया।"

पाश की यह कविता हर युवा क्रान्तिकारी की जुबान पर आज भी चस्पां है। वे युवा जो अपने गीतों से दुनिया को बदलने का सपना देखते हैं उनके लिए 'पाश' मन और मिज़ाज के कवि हैं। इस जमाने में सबसे खतरनाक क्या है? 'खतरनाक' की तीव्रता को कवि व्यक्त करता है कि – "किसी की मेहनत को यदि कोई लूट ले या पुलिस के द्वारा सताया-मारा जाय या इससे भी अधिक गद्दारी और लोभ से अपनी मुठ्ठी को भरा जाय – इन सभी लूट, खसोट, गद्दारी को कवि बर्दाश्त कर सकता है और बिना गलती के पकड़ लिया जाना, सहमी हुई चुप्पी जिसमें कपटियों के शोर में सही बातों का दब जाना या रोशनी की चाहत न करते हुए जुगनू की लौ में पढ़ लेना, अपने गुस्से को मुट्ठियाँ भींचकर प्रकट नहीं करने को पाश बुरा मानते हैं लेकिन 'खतरनाक' की परिभाषा में ये सब वस्तुस्थिति बुरी तो है लेकिन खतरनाक नहीं है। खतरनाक वह होता है जब आपके अन्दर बेचैनी पैदा नहीं होती –

सबसे ख़तरनाक होता है
मुर्दा शान्ति से भर जाना
न होना तड़प का
सब सहन कर जाना
घर से निकलना काम पर
और काम से लौटकर घर आना
सबसे ख़तरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना

(सम्पूर्ण कविताएँ – पाश, पृ. 200)

इस पंक्ति से पाश 'खतरनाक' की परिभाषा शुरू करते हैं वे आँखें जो देखती हुई भी जमी बर्फ बन जाए अर्थात् न देखे या दुःख की भयावहता इतनी अधिक हो जाय कि आँखें देखना भूल जाए; खतरनाक शायद यह होता है। इस आँख की दृष्टि के विस्तार को कुण्ठित करने वाली वह दशा जिसमें वह दुनिया से प्यार करना, चूमना भूल जाए – जो देखती हुई भी अन्धी हो जाय और बिना विरोध किए लक्ष्यहीन हो यथास्थिति को जो स्वीकार करते हुए अपनी आँखों की चमक को जो खो दे ऐसी प्रतिकारहीन, प्रहारहीन, तेजहीन आँखों को जो, भय से दृष्टिगोचर होने को भी अन्धेपन का पर्याय मान ले, ऐसी आँखें उन्हें खतरनाक लगती हैं।

दरअसल, यह सब कहते हुए सत्ता की साजिशों को पाश बेनकाब करते चलते हैं। आँखों को अन्धता की और ले जाने वाली सत्ता है जो नहीं चाहती कि वे आँखें देखें। दूसरा अर्थ इसमें यह भी व्याप्त है जब आँखें देखना शुरू करती है तो सत्ता उसे बर्दाश्त नहीं करती और उसका दमन लोगों की आँखों पर पट्टी बाँधने को मजबूर कर देता है। अतएव पाश की कविता में दोनों स्थितियाँ व्याप्त हैं जब भय और साजिश दोनों की एकमयता सामान्य आदमी के जीवन को दूभर का दे और वह चूँ तक न बोल सके।

पाश व्यक्ति की चुप्पी से परेशान होते हैं। वे कहते हैं कि हत्याकाण्ड के बाद चाँद का उगना और वीरान हो चले, आँगन में उसका आना बेहद शर्मनाक है लेकिन उससे भी अधिक शर्मनाक, उस चाँद को उगते हुए देखना अर्थात् उसमें सौन्दर्य, एय्याशी में डूबे रहना उससे भी अधिक खतरनाक है। ऐसी स्थिति, जब व्यक्ति क्षण भर में, हुए निर्ममता के पलों को भुला बैठता है। जो आप तक पहुँच बनाने के लिए कितनों का गला घोंट अपने गीतों को आवाज़ देता पहुँच बनाता है। भयातुर लोगों को अपने डंडे से और भी जो भयभीत कर पहुँचता है, ऐसे गीतों से और भयानक कुछ नहीं होता। इन सारी स्थितियों से पथराए क्षणों के लिए कवि दिशा, सूरज, धूप को रूपक गढ़ता है। 'आत्मा का सूरज', 'मुर्दा धूप', 'जिस्म के पूरब' का बिम्ब पाश प्रस्तुत करते हैं। 'आत्मा का सूरज' वह मन है जिसे प्रतिरोध में उठना चाहिए, जिसे अपनी धूप से भयातुर, सहमे जन के मन में उष्मा का संचार करना चाहिए और वह भी आप अपनी छाती में जज़्ब कर डुबा देते हैं ऐसी स्थिति के खिलाफ़ पाश व्यथित हैं।

सबसे ख़तरनाक वह दिशा होती है
जिसमें आत्मा का सूरज डूब जाए
और उसकी मुर्दा धूप का कोई टुकड़ा
आपके जिस्म के पूरब में चुभ जाए

इस पूरी कविता में गुस्से का, नाराजगी की 'इंटेनसिटी' तीव्रता बढ़ती जाती है। मनुष्य के अन्दर उभर रहे ज्वार की दिशा को तय करने की बात करते हैं पाश। बर्दाश्त करने की क्षमता बढ़ाने की बजाय विद्रोह की ताकत को विस्तार देना चाहिए। पाश के लिए मनुष्यता से बड़ा कोई भाव नहीं और जो राष्ट्र या राजनीति इस भावना से खेले तो चुनौतियों को स्वीकार करना चाहिए न कि खोल में छुप जाना चाहिए।

पाश की हर कविता एक दूसरे की कभी निमज्जित करती है तो कभी अलग हो जाती है। सामान्य जन के प्रति संवेदना, उनके हक़ के लिए आवाज़ उठाना पाश की विशेषता है। नामवर सिंह ने पाश की तुलना स्पेन के कवि लोर्का से की है। लोर्का की कविताओं में भी अपने देश के लोगों के प्रति अनुराग था। लोर्का भी तानाशाही के खिलाफ था। उसकी अमर कविता 'एक बुलफाइटर की मौत पर शोकगीत' को जब जनरल फ्रैंको ने सुना तो उसके आदेशानुसार इस शोकगीत को लिखने-गाने वाले लेखक की आवाज़ को बन्द कर दिये जाने का आदेश हुआ फलतः लोर्का की हत्या हो जाती है। पाश की हत्या भी खालिस्तानी जुनून ने ले ली। अनन्त सम्भावनाओं से भरे 37 वें वर्ष में दोनों की हत्या होती है। एक पचास वर्ष पहले, दूसरा पचास वर्ष बाद। पचास वर्ष के अन्तराल में भी दुनिया को चाहे वह स्पेन हो या भारत हम रहने लायक नहीं बना सके।

कोई भी सृजन जब लोक से जुड़ जाता है तब उसकी ताकत असीम हो उठती है। पाश की कविता में भी यह लोक देखने को मिलता है पूरी जीवन्तता के साथ। उनकी 'हाथ' कविता में द्वन्द्व के जो उदाहरण उन्होंने लिए हैं अन्य कवियों के यहाँ यह गायब है जब आप पारम्परिक प्रतीकों में नयी अर्थक्ता ढूँढ़ते हैं –

हाथ अगर हों तो
'हीर' के हाथों से 'चूरी' पकड़ने के लिए ही नहीं होते

'सैदे' की बारात रोकने के लिए भी होते हैं
'कैदो' की बाँहें' तोड़ने के लिए भी होते हैं
हाथ श्रम करने के लिए ही नहीं होते
लुटेरे हाथों को तोड़ने के लिए भी होते हैं

'हीर', 'सैदे' और 'कैदो' के माध्यम से 'हाथ' को नई ताकत देते हैं पाश।

वरिष्ठर आलोचक नामवर सिंह ने उनकी कविता-भाषा के बारे में लिखा है कि, "उसकी कविता खेतों, खलिहानों और खुरलियों की जीती-जागती ठोस भाषा में अनायास ही बोलती-बतियाती है। जैसे "हुस्न कोई मक्की की नमक छिड़की रोटी जैसी लज्जत है, सपने बूढ़े बैल के उचड़े हुए कन्धों जैसे।" कविता की यह वह दुनिया है जिसमें 'गंड में जमते गुड़ की महक है', चाँद की चाँदनी में चमकती सुहागी हुई बत्तर धरती है, तीतरपंखी बदली है, बाल्टी में दुहे हुए दूध पर गाती हुई झाग है और इसी तरह के और भी बिम्ब हैं जिनका प्रदर्शन करके आज बहुत से कवि अपने आपको 'खेतों का पूत' कहते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश ऐसा 'सपूत' न था।"

2.4.4. 'मेरी बुलबुल' : अन्तर्वस्तु-विश्लेषण

यह कविता 'पाश समग्र' में संकलित है जो 'बिना शीर्षक बिखरी हुई अधूरी व कुछ अन्य कविताएँ (पत्र-पत्रिकाओं व डायरी के पन्नों से) अध्याय में शामिल हैं।

यह कविता पंजाब के समकालीन सत्ताधारियों को सम्बोधित है। इस कविता में गाने वाली बुलबुल को कवि रोने के लिए कहता है। समय का प्रतीक कुत्ता है जिसे कवि भौंकने के लिए कहता है। सड़क पर भटकती आत्माएँ वह सामान्य आदमी हैं जो सत्ता की चुनौतियों के समक्ष विकल है। बुलबुल अपनीआवाज़ की तासीर खो चुकी है क्योंकि मौसम अब गाने का रहा नहीं और उसके गायन को सुनकर कोई भी बीमार अर्थात् सामान्य जन अच्छा नहीं होगा।

इस कविता में गहरी उदासी फैली हुई है। भय ने ऐसा वातावरण पैदा किया है कि वृक्ष की टहनियों पर बैठ गाने वाली बुलबुल उड़ चुकी है और जो टहनियाँ गीतों से आबाद रहतीथीं, वह अब जम चुकी हैं। भय इतना व्याप्त है कि सूर्य के मामूली-से टुकड़े से सहमकर वह भाप बनकर उड़ गया। कहने का मतलब है बुलबुल उसके गीत, वृक्ष, टहनियाँ सब-के-सब ओस की तरह भाप बन चुके हैं। संघर्ष करने का माद्दा ही नहीं रहा उनमें।

समय के लिए कुत्ते का रूपक भी पाश ने इस्तेमाल किया है। घड़ी की सुइयों को काट खाने वाला कुत्ता और कौन हो सकता है सिवाय भौंकने और लूट-खसोट करने वाली राजनीति के। सुरक्षा के लिए बनायी गई दीवारों पर इसने पैने दाँत गड़ाए हैं, सौन्दर्य को पल्लवित करने वाले गमलों पर इसने पेशाब किया है। यह कुत्ता और कोई नहीं सरकारी कारिंदा है जिसे सरकार ने खुले आम छूट दे रखी थी। पाश कहते हैं – सरकार के बंदों ने

इसे पटाकर बंगलों के फाटक पर बाँधा है – अर्थात् अन्याय के खिलाफ कोई सरकारी बंदों तक न पहुँच सके इसलिए भौंकने, नोंचने वाले कुत्ते वहाँ बाँधे गए हैं।

पाश 'बुलबुल' को बार-बार इस कविता में सम्बोधित करते हैं। यह 'बुलबुल' कोई प्रेमिका नहीं, यह भारत देश है। कवि 'पाश' दुखी होकर कहते हैं कि अब वे 'जीने की शर्त' हार चुके हैं तो सत्ता की चुनौतियाँ उनके सम्मुख थीं। बार-बार जेल और पुलिस की यातना से तंग कवि को अपनी कविता पर, गीत पर बेहद भरोसा था। वह कहता था –

अपने तो सिर्फ़ गीत हैं, समय अपना नहीं है।
मैं – जो सिर्फ एक आदमी बनना चाहता था
यह क्या बना दिया गया हूँ?

मर्म को भेदने वाला गहरा आत्म-बोध है 'पाश' के साथ। उनकी कविता में धीरे-धीरे अपनी जनता के प्रति कुछ कर सकने की गहरी चिन्ता रूपायित होती है। 'मैं अब विदा लेता हूँ' कविता की पंक्तियाँ इसी ओर इशारा करती हैं –

तुम यह सभी कुछ भूल जाना मेरी दोस्त
सिवाय इसके
कि मुझे जीने की बहुत लालसा की
कि मैं गले तक ज़िन्दगी में डूबना चाहता था
मेरी भी हिस्से का जी लेना मेरी दोस्त
मेरे भी हिस्से का जी लेना

पाश को जैसे मृत्यु गन्ध की भनक लग गई थी। 'मेरी बुलबुल' कविता भी अपूर्ण कविता रह गई। उसकी अपूर्णता ही सम्पूर्णता की खोज में दिखाई देती है जब पाश आदमी की बजाय घोड़ा बनना चाहते हैं। इंसानी हड्डियों पर काठी तो नहीं लगाया जा सकता और जो लगाम आज की सत्ता ने आदमी को लगाए हैं उसके लिए घोड़ा बनना लाजिमी है और इंसानी पैर युद्ध के टाप नहीं कर सकते। घोड़ा शक्ति का, विजय का, युद्ध का प्रतीक है। पाश स्वयं को मनुष्य के रूप में नहीं घोड़े के रूप में देखना चाहते हैं। मनुष्यता के लिए घोड़ा बनना पाश की नज़र में लाज़िमी है –

मैं अब आदमी की बजाय घोड़ा बनना चाहता हूँ
इन इंसानी हडिड्यों पर तो काठी बहुत चुभती है
मेरी बराछों में लगाम पीड़ा पहुँचाती है
मेरे इंसानी पैर ग़ज़ल के पिंगल जैसी टाप नहीं करते
समय बड़ा कुत्ता है मेरी बुलबुल...

(पाश-समग्र, पृ. 221)

पाश की कविता में अपनी धरती के लिए आर्त्तनाद है । पंजाब के लोकजीवन का गहरा रंग पाश की कविता को सबसे कहीं आगे ले जाता है । उनकी कविताओं में धर्मी फौजन, चरवाहा महिन्दर, तारे की जवान पत्नी रूठा देबा, मोहने लुहार, बिन्दर की यारी जैसे चरित्र कविता के चरित्र को गढ़ते हैं । गिद्दा, चिड़ियों का चम्बा, छन्नी के गीत, साहिबाँ, सोहनी-महिवाल – पंजाबी भाषा, भूगोल, संस्कृति और उन सबके बीच पाश की ख़्वाहिशों का सिलसिला है कविताओं में । यथार्थ और यथार्थ पाश की कविता का शिल्प है और शैली भी । 'प्रतिबद्धता' कविता में वे कहते हैं –

हम चाहते हैं अपनी हथेली पर कोई इस तरह का सच
जैसे गुड़ की पत्त में 'कण' होता है
जैसे हुक्के में 'निकोटिन' होती है
जैसे मिलन के समय महबूब के होठों पर
मलाई जैसी कोई चीज़ होती है –
.....
हम झूठ -मूठ का कुछ भी नहीं चाहते
और हम सब कुछ सचमुच का देखना चाहते हैं –

(सम्पूर्ण कविताएँ – पाश, पृ. 141)

'पाश' के लिए सत्य को स्वीकार करने में कोई छल-प्रपंच नहीं है । उनकी कविता युद्ध और शान्ति को खेल समझने वाले लोगों की आँखों में गड़ती है । अपने अधिकार को पाने के लिए युद्ध को स्वीकार करने में 'पाश' को कोई हिचक नहीं है क्योंकि सत्ता के खेल को वे समझ चुके हैं । उनके लिए हर रास्ता जनता का, आम जन का सुख है । इसलिए बीच के रास्ते को वे तवज्जो नहीं देते । जीवन को सरल बनाने के लिए यदि युद्ध अवश्यम्भावी है तो कवि युद्ध का आह्वान करना चाहता है । 'युद्ध और शान्ति' कविता में कहते हैं –

युद्ध हमारे बच्चों के लिए
धारियों वाली गेंद बनकर आएगा
युद्ध हमारी बहनों के लिए
कढ़ाई के सुन्दर नमूने लाएगा
युद्ध हमारी बीवियों के स्तनों में
दूध बनकर उतरेगा
युद्ध बूढ़ी माँ के लिए नज़र की ऐनक बनेगा
युद्ध हमारे बुज़ुर्गों की कब्रों पर
फूल बनकर खिलेगा

2.4.5. पाठ-सार

ज़िंदगी को सलीके और ईमान के साथ जीने के लिए 'पाश' प्रयत्नशील रहे । उन्होंने अपनी शर्तों पर जीवन को जिया । तभी तो उनकी हस्तलिखित पत्रिका 'हाक' और 'एंटी-47' से भिंडरावाले को डर लगता था ।

बाद के दिनों में अपनी तंगी और जहालत से तंग आकर पाश अमेरिका चले गए। अमेरिका जाकर 'एंटी-47' हस्तलिखित पत्रिका का एक अंक उन्होंने निकाला, जिसमें धार्मिक कट्टरता पर उन्होंने जबरदस्त चोट की। सिख विरोधी दंगों पर उन्होंने चोट की। उनकी 'कुएँ', 'धर्म-दीक्षा के लिए विनयपत्र' 'बेदखली के लिए विनयपत्र', 'सपने', 'सबसे खतरनाक' जैसी कविताएँ इसी ओर इशारा करती हैं। 1987 के उत्तरार्द्ध में वह नए स्वप्न के साथ भारत आए लेकिन उनकी कविता हथियार का काम कर रही थी फलस्वरूप 23 मार्च 1988 को उनकी हत्या कर दी गई। उनकी हत्या एक विचार, राष्ट्र से प्रेम करने वाले जाँबाज की हत्या थी जो अपने गाँव पेड़, पौधों, खेतों, गाय-बैल, भाई-बहन-माँ से प्यार करता था। पंजाब की धरती उसकी महबूबा थी और जिसके लिए उसने अपना सब कुर्बान कर दिया।

2.4.6. बोध प्रश्न

1. "पाश प्रतिबद्धता के कवि हैं।" विचार कीजिए।
2. "पंजाब के लोक-जीवन का बिम्ब पाश की कविता है।" व्याख्यायित कीजिए।
3. नामवर सिंह ने पाश को 'पंजाबी का लोर्का' क्यों कहा है ?
4. "पाश की पंजाबी कविता भारतीय कविता का रूपक बन जाती है।" कैसे ?
5. "पाश की कविता का सामान्य जन विश्व का सामान्य जन है।" उक्त कथन का मर्म उद्घाटित कीजिए।
6. 'सबसे खतरनाक' कविता का कथ्य क्या है ?
7. 'मेरी बुलबुल' कविता किसको सम्बोधित है ? विस्तारपूर्वक समझाइए।

2.4.7. सहायक ग्रन्थ

1. सम्पूर्ण कविताएँ : पाश, सम्पादन एवं अनुवाद– चमनलाल, आधार प्रकाशन पंचकूला (हरियाणा)।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : काव्य

इकाई – 5 : संताली – निर्मला पुतुल

इकाई की रूपरेखा

2.5.0. उद्देश्य कथन
2.5.1. प्रस्तावना
2.5.2. क्या तुम जानते हो : स्त्री अस्मिता का प्रश्न
2.5.3. बिटिया मुर्मू के लिए : जागरण सन्देश
2.5.4. उतनी दूर मत ब्याहना बाबा : अपनी ज़मीन और संस्कृति से जुड़े रहने की ललक
2.5.5. पाठ-सार
2.5.6. बोध प्रश्न
2.5.7. सहायक ग्रन्थ-सूची

2.5.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई संताली भाषा की कवयित्री निर्मला पुतुल के रचनाकर्म पर आधारित है। इस पाठ के अध्ययन उपरान्त आप निर्मला पुतुल की कविताओं में अभिव्यक्त जनजातीय जीवन, विकास के कारण उत्पन्न संकट, विकास से उपजे विस्थापन, भूमण्डलीकरण और औद्योगिकीकरण के माध्यम से आदिवासी कविता के स्त्री पक्ष को समझने सकेंगे। साथ ही, स्त्री-पारिस्थितिकी के नए विमर्श को भी निर्मला पुतुल की कविता से समझाने का प्रयास प्रस्तुत इकाई में किया जाएगा। आपके पाठ्यक्रम में निर्मला पुतुल की तीन कविताएँ निर्धारित हैं – (i) क्या तुम जानते हो, (ii) बिटिया मूर्मू के लिए और (iii) उतनी दूर मत ब्याहना बाबा ! प्रस्तुत पाठ के माध्यम से इन कविताओं के निहितार्थ को समझाने का प्रयास किया जाएगा। वस्तुतः निर्मला पुतुल की कविताएँ ऊपरी तौर पर पढ़ने में जितनी सरल प्रतीत होती हैं, उनकी परिधि उतनी ही व्यापक और विस्तीर्ण है। ये कविताएँ एक साथ आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी स्त्री विमर्श और आधुनिकता से उपजे संकट की पड़ताल कर सकने में सक्षम हैं। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आधुनिक हिन्दी कविता के नए परिप्रेक्ष्य 'आदिवासी कविता के स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य' को समझ सकेंगे।
ii. निर्मला पुतुल के सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार को समझ पाएँगे।
iii. निर्मला पुतुल की कविताएँ अन्य समकालीन कविताओं से कैसे अलग है, इसे जान सकेंगे।
iv. 'स्त्री-पारिस्थितिकी' (Eco-Feminism) से इन कविताओं के सरोकार को हम समझ पाएँगे।
v. जल-जमीन और जंगल के बचाव में स्त्री-सहभागिता को समझ सकेंगे।

2.5.1. प्रस्तावना

आदिवासी रचनात्मकता कविता की 5000 साल की पुरानी भारतीय साहित्य की विरासत को पोषित और पल्लवित कर रही है। आदिवासी कविता पाठक को भारत-भूमि के उस विशाल समुदाय के सांस्कृतिक महत्त्व से रूबरू कराती है जिसने प्रकृति के संरक्षण के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। बाजार-उत्पादन, विपणन से परे यह कविता जीवन के अनुराग-विराग का राग बनकर उभरी है। इसमें जहाँ एक ओर स्वच्छ-निर्मल हृदय का उल्लसित भाव दिखाई पड़ता है तो वहीं साथ ही अपने अधिकार छीने जाने से उपजी पीड़ा का दग्ध भाव भी कविता में घुलता दिखाई देता है। जंगल, पहाड़, पठार, नदी, घाटी से निकलती इस आवाज में पर्यावरण और प्रकृति से मनुष्य के सम्बन्ध की कथा का स्वर सहज ही प्रस्फुटित होता है।

आज आदिवासी कविता साहित्य का विशिष्ट परिप्रेक्ष्य बन चुका है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में जब भाषा और संस्कृति को भी बाजार का विषय बनाया जाने लगा तब मुख्यधारा से दूर हमारा साहित्य भी साकांक्ष होने लगा। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में पीछे छूट गए और लगभग खो से गए हमारे सांस्कृतिक मूल्यों और विरासत को पुनः देखने का पुरजोर प्रयत्न आदिवासी कविता ने किया है। इस प्रयत्न से भारतीय कविता के नये तेवर उपस्थित हुए। "वह हिन्दी भाषा को नई-नई ध्वनियों, लयों, स्वरों, शब्दों और मुहावरों से लैस भी कर रही है। आदिम युग के मिथकों और कल्पनाओं को सहेज रही है और इतिहास से छूटे प्रसंगों को भी कविता-कहानी व गीतों में ढाल रही है – यह कलम।" (कलम को तीर होने दो, पृ. 5)

आदिवासी कविता जनजातीय जीवन का विशाल परिप्रेक्ष्य उपस्थित करती है। प्राकृतिक सौन्दर्य, मूल निवासियों की प्राचीन संस्कृति, जीवन शैली, आचार-विचार, रूढ़ियाँ-परम्पराएँ, कानून-नियम, पर्व-त्योहार, रस्में-मेले, तौर-तरीकों को अभिव्यक्त करती आदिवासी कविता औद्योगिकीकरण की विनाश-लीला से उपजे खतरों से सावधान भी करती है। आदिवासी कविता विकास-विरोधी नहीं है, वह प्रकृति के संरक्षण के साथ किए जाने वाले विकास की हिमायती है। प्रकृति का क्षरण उसे किसी भी कीमत पर सह्य नहीं। यही कारण है कि आदिवासी रचना के केन्द्र में प्राकृतिक संसाधनों को बचाने की कोशिश का उद्बोधन विद्यमान है। आदिवासी कविता विस्थापन से उपजे भय को भी अभिव्यक्त करती है। वह पलायन के विरोध में है। भौतिक सुख-संसाधनों और व्यसनों का लोभ युवाओं को नगरीय संस्कृति की ओर आकर्षित कर रहा है जिसके छल में पड़कर वे अपनी कला-हुनर, स्वास्थ्य और जीवन को नष्ट कर रहे हैं।

प्रकृति की निकटता के कारण जीवन-यापन की पारस्परिकता का भाव जनजातीय कविता में विद्यमान है। भूमण्डलीकरण, औद्योगिकीकरण, उदारीकरण जैसी नीतियों से सम्पूर्ण विश्व एक बाजार के रूप में देखा जा रहा है। 'जैविक विचार' की तरह 'जैविक फसल' की ललक विश्वप्रसिद्ध मॉल और बाजारों में सशक्त उत्पाद की तरह देखी जा रही है। आदिवासी कविता, बाजारवाद से उपजे संकट, जिसके मूल में प्रकृति के नष्ट होने का भय निहित है, को ऊँचे स्वर में सम्प्रेषित करती है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आदिवासीजन के सीधेपन का फायदा उठाती हैं। उनमें आधुनिक उपकरण यथा मोबाइल, टेलीविजन, ट्रांजिस्टर आदि का लोभ जाग्रत् करती हैं और कभी न पूर्ण

होने वाली तृष्णा के भँवरजाल में पड़कर सीधा-सादा आदिवासी युवा अपनी बहुमूल्यवान् सम्पदा गिरवी रखता जाता है। पूँजीवादी समाज का अजगर धरती की उर्वरता का भक्षण करता हुआ धीरे-धीरे किस तरह समूची प्राकृतिक सम्पदा को निगलना चाहता है, आदिवासी रचनाओं में इस संकट से उपजी पीड़ा को अनुभव किया जा सकता है।

आदिवासी साहित्य किसी शास्त्र से उपजा साहित्य नहीं है। वह लोकहृदय का सहज उद्गार है। जब वैचारिकता और आलोचनात्मकता की भाषा-शैली अपना स्वरूप खोने लगी है तब लोक, आदिम और जनजातीय भाषा-शैली उसे पुनः स्थापित करती है। प्राकृतिक चेतना अब विमर्श के केन्द्र में है क्योंकि उसका विकास बाहर के खाद-पानी से नहीं हुआ है। बिना किसी को कष्ट पहुँचाए प्राकृतिक अनुशासन के साथ जनजातीय कविता बाहरी आक्रमण को महसूस करती है।

प्रकृति के साथ ही स्त्री के दोहन और शोषण की प्रभावान्विति भी आदिवासी कविता का केन्द्रीय पक्ष है। स्त्री और प्रकृति का सामंजस्य 'जनजातीय कविता' की अपनी अनूठी विशिष्टता है। वैसे विचारधारा के रूप में इसका जन्म पाश्चात्य देशों में 1960 के दशक में ही हो गया था जब रेचल कर्सन ने Silent spring (मौन वसन्त) कविता लिखी। मनुष्य की लालसा जब बेलगाम हो जाती है तो उसका असर पूरी धरती और जीवमण्डल पर कैसा पड़ता है इसे हम रेचल कर्सन की कविता में देख सकते हैं।

फ्रांसीसी नारीवादी फ्रान्स्वा द यूबोन ने सन् 1974 में स्त्री पारिस्थितिकी की संकल्पना की सैद्धान्तिकी तैयार की। उन्होंने सिद्ध किया कि पृथ्वी के क्षरण का कारण पुरुष है। पुरुष के आक्रमण से धरती को बचाकर मानव की रक्षा स्त्री ही कर सकती है। अब स्त्री और प्रकृति दोनों पर अधिकार स्थापित कर पुरुष दोनों का शोषण कर रहा हैं। स्त्री में ही वह शक्ति है जो शोषण मुक्त समाज की स्थापना कर सकती है। यों भारतीय मनीषा में सीता, द्रौपदी, सुनयना, मन्दोदरी, मीरा, शकुन्तला की उपस्थिति बहुत पहले से दर्ज है। 'उर्मिला' और 'यशोधरा' तो पारिस्थितिक स्त्रीवाद के विलक्षण उदाहरण है। किन्तु हिन्दी कविता में स्त्री पारिस्थितिकी की विधिवत् स्थापना सर्वप्रथम महादेवी वर्मा की रचनाओं में देखी जा सकती है। पारिस्थितिवाद तीन प्रतिमानों जैव संकट, सामाजिक संकट तथा सांस्कृतिक संकट के आधार पर पृथ्वी के संकट को देखता है। स्त्री बहनापे (Sisterhood) के माध्यम से इन तीनों संकटों से धरती को उबार सकती है। इको-फेमिनिज़्म किसी भी युद्ध के खिलाफ़ है। स्त्री-शक्ति पूरी धरा को अपनी संतान मानती है इसलिए किसी भी प्रकार के संहार का वह विरोध करती है अतएव पूँजीवादी साम्राज्यवादी जघन्य वृत्तियों का विरोध उनका प्रथम कर्त्तव्य बन जाता है। घर और बाहर की समरसता दुनिया के संघर्ष को दूर कर सकने में सक्षम हैं। महादेवी के शब्दों में, "क्रान्ति की अग्रदूती और स्वतन्त्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।" स्त्री पारिस्थितिकी मानवीय दृष्टिकोण को अपनाता है। यह पुरुष केन्द्रित अधिकार और उसकी संरचना को विकेन्द्रित कर स्त्री को भी सहभागी बनाने का प्रयास करता है। फ्रान्स्वा के अनुसार, "स्त्रीत्व पर आधारित भूमि ही सबको सुरक्षा प्रदान करेगी।" यह सिद्धान्त भूमि से जुड़े समस्त दरिद्र, दुर्बल और शोषितों के पक्ष में स्त्री-शक्ति का आह्वान करता है। यह सिद्धान्त पुरुषों के लिए 'शिकारी' का बिम्ब और स्त्री और पृथ्वी के लिए शिकार के बिम्ब को ग्रहण करता है।

निर्मला पुतुल की कविताएँ संथाली संवेदना सेको समग्रता में अभिव्यक्त करती हैं। आदिवासी जीवन की अस्मिता को वे धरती की अस्मिता से जोड़कर देखती हैं। उनकी कविताएँ स्त्री और धरती के शोषण के कई रूप उजागर करती हैं और वे खुलकर उनका प्रतिरोध भी करती हैं। वास्तव में निर्मला पुतुल की कविताएँ पारिस्थिति स्त्रीवाद का सशक्त उदाहरण हैं।

निर्मला पुतुलसंताली भाषा का एक जाना-पहचाना नाम है। उनकी रचनाएँ अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। उनके प्रकाशित काव्य-संग्रहों में 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' और 'अपने घर की तलाश में' प्रमुख हैं। शीघ्र ही उनका एक नया काव्य-संग्रह प्रकाशित होने वाला है जिसका शीर्षक है – 'फूटेगा एक नया विद्रोह'। निर्मला पुतुल एक सहृदय साहित्यकार हैं। आदिवासी जीवन और महिलाओं से जुड़े मुद्दों तथा साक्षरता जैसे सामाजिक कार्यों में उनकी सक्रियता है।

2.5.2. 'क्या तुम जानते हो' : स्त्री अस्मिता का प्रश्न

निर्मला पुतुल की कविताएँ चिन्तन के नये दरवाजे खोलती हैं। भारतीय कविता के आँगन में जब कई विमर्श पश्चिम से आयातित हो भारतीय रूपक में बँधने का प्रयास कर रहे थे, ऐसे समय में संताली कविता की इस भूमि में टेसू के फूल का टटकापन दिखायी देता है साथ ही माँदल की थाप के साथ महुआ की मादकता भी महसूस की जा सकती है। भरी-पूरी प्रकृति के साथ कविता के फूल पठार पर बिखरे पड़े हैं जिन्हें न विदेशी रूपक के नकल की ज़रूरत है और न बिम्ब के लिए किसी स्मृति की आवश्यकता है। प्रकृति का उजास कविता की भावभूमि में अनायास ही पिरोया हुआ है।

निर्मला पुतुल की कविताएँ न तो आयातित विचारों से प्रेरित है और न ही इनमें प्रसिद्धि की अनावश्यक छटपटाहट देखने को मिलती है। सवाल यह है कि तब आज के दौर में इस प्रकार की कविता केन्द्रीय विमर्श की श्रेणी में अपना स्थान कैसे बना सकी। जिन विचारों को हम कुछ वर्ष पहले तक हाशिए का विमर्श (Sub-aftern) कहकर एक विशेष खाने में 'सेट' करने का प्रयास कर रहे थे उसने स्त्री, दलित, हाशिए को धकियाते हुए कैसे स्वयं को विशिष्ट की श्रेणी में स्थापित कर दिया। इन प्रश्नों का जवाब इस रूप में देखा जा सकता है कि वास्तव में आदिवासी कविता का स्त्री-पाठ स्वतन्त्रता-परतन्त्रता, विकास, विस्थापन, औद्योगीकरण-नगरीकरण, पर्यावरण, प्रकृति के साथ मनुष्य के तादात्म्य, भोगवादी प्रवृत्ति का परिणाम, बंजर होती धरती से लेकर बंजर होते हृदय की कहानी कहता है। इसकी यही सच्चाई, निर्भीकता और संवेदनशीलता इसे जनप्रिय बनाती है।

निर्मला पुतुल की कविताएँ स्त्री, धरती और युवाओं के शोषण को उद्घाटित करती हैं। यह शोषण बाहरी लोग नहीं कर रहे हैं। चेहरे पर मुखौटा डाले अपने ही राष्ट्र के लोग विभिन्न कंपनियों के माध्यम से कर रहे हैं। अपनी ही धरती पर आदिवासी युवा आज मजदूर बन गए हैं। सरकार के वादों का खोखलापन भी किसी नीति के प्रति विश्वास नहीं दिला पाता। एक प्रकार से यह कविताई स्वयं के होने का बोध कराती है। निर्मला पुतुल अपने परिवेश से प्यार करती हैं। अपनी कविताओं के माध्यम से वे प्रकृतिस्थ जनों से अपने इतिहास, संस्कृति और

सभ्यता को बचाकर रखने का आह्वान करती हैं। अपनी जमीन और जंगल छोड़ श्रमिक बनने जा रहे आदिवासी भाइयों-बहनों को वे अपने समुदाय की शौर्यगाथाएँ स्मरण कराती हैं। पुतुल की कविताएँ उन्हें सजग करती हैं कि देखो ! कहीं बाहरी ताकतें तुम पर हावी न हो जाएँ। 'क्या तुम जानते हो' कविता की संरचना में वानस्पतिक सम्पदा को बचाने का पाठ स्पष्टतया देखा जा सकता है। औषधीय गुणों, शौर्य के प्रतीक तीर-धनुष के साथ अपनी भाषा-बोली के बिलाते जाने का दुःख इस कविता में विलाप बन कर उभरता है। परन्तु दुःख का भाव यहाँ देर तक निम्मजित नहीं होता – सवाल बन कर फूट पड़ता है। यह सवाल कभी पुरुष से है तो कभी अपने देश से, तो कभी देस-कोस के लोगों से। वस्तुतः निर्मला पुतुल की प्रायः सभी कविताओं में स्त्री अपने विभिन्न रूपाकारों में मौजूद है। वह कभी स्थापित स्त्री के रूप में तो कभी निर्वासित स्त्री के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है। कभी पत्तल बनाती बाहामुनी तो कहीं बिटिया मुर्मू, कहीं बूढ़ी पृथ्वी तो कभी पिलचू बूढ़ीके रूप में स्त्री उनकी कविता के केन्द्र में विद्यमान है। माँ के विभिन्न रूप भी वहाँ मौजूद हैं। उसके पास सम्बन्धों का भरा-पूरा संसार है – ढेपचा के बाबू, माँ, बाबा, भाई मंगल बेसरा, आस-पड़ोस के छोटे भाई आदि। सिद्धू-कान्हू, बिरसा मुण्डा, तिलका माँझी जैसे पुरखों के शौर्य का वर्णन युवाओं के प्रेरणार्थ बार-बार किया गया है। लेकिन, इन सबके मध्य जो बेचैन स्त्री है वह अपना एकान्त ढूँढती है। नगाड़े, माँदल और बाँसुरी की आवाज अब उसे उत्तेजित नहीं करते। उस आवाज में वह उन चालाकियों को पकड़ना चाहती है जिसने जीवन-रस को निचोड़ लिया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के बरक्स यह कविता मुक्ति की आकांक्षा का गीत मात्र नहीं है बल्कि सामाजिक संघर्ष में स्त्री की स्थिति और उसे हाशिए पर धकेले जाने की पीड़ा की अभिव्यक्ति भी है। निर्मला पुतुल की कविता आदिवासी अस्मिता के साथ स्त्री-अस्मिता को जोड़कर देखती है। बलत्कृत, शोषित, घरेलू श्रमिक के रूप में स्त्री की छवि, अनुर्वरा बना दी गई धरती और लूट-खसोट की शिकार बनी प्रकृति के साथ संघटित हो जाती है। 'ढेपचा के बाबू' कविता से उद्धृत यह पंक्तिदेखिए –

कोई आया, कुछ उठा ले गया
तुम बाँसुरी बजाते रहो

दरअसल, यह घर और बाहर की दुनिया में स्त्री का वह बोध है जहाँ उसे अपना कोई नहीं दिखता। इसलिए वह इस निस्संगता / निष्क्रियता के खिलाफ उठ खड़ी होती है –

इस बार मैं चुप नहीं रहूँगी
छीन कर तोड़ दूँगी तुम्हारी बाँसुरी
कि देखो इस बार
वो मुझे उठाने आ रहे हैं

संवेदनशून्यता के सहभागी पति, पिता, पुरुषवादी सत्ता, विभिन्न रूप में बिखरे पुरुषवाची सम्बन्धों से विश्वास का उठ जाना आदिवासी स्त्री तथा उस जैसी अन्य स्त्री का चीत्कार है –

कैसे भूल जाऊँ वह राक्षसी रात
जिसमें दुनिया की सारी संवेदनाएँ
मेरा सबसे ऊँचा विश्वास
पवित्र रिश्ते की आस्था
सब कुछ लुट गया।

प्रियतर बनने से अलग अप्रिय होने के खिलाफ़ निर्मला पुतुल की कविताएँ पहाड़, पठार, घाटी, झरने से निकल काँटों के बीच से पुटूस के फूल के खिलने का इंतज़ार करती है जहाँ एकान्त में तितलियाँ होंगी, उनको मारने वाले कीटनाशक नहीं।

'क्या तुम जानते हो' – प्रश्नाकुलता से शुरू हुई यह कविता एक के बाद एक अनेक प्रश्न करती है। यह कविता स्त्री से जुड़े प्रश्नों के साथ ही स्त्री के एकान्त, स्त्री की ज़मीन, सदियों से घर तलाशती एक बेचैन स्त्री के घर का पता, स्थापित और निर्वासित होती स्त्री के द्वन्द्व, रिश्तों के कुरूक्षेत्र में स्त्री की स्थिति, उसके भीतर का खौलता इतिहास, उसकी फैलती जड़ों को समझने की कोशिश, रिश्तों के व्याकरण को समझने का उसका प्रयास जैसे कई मुद्दों को प्रकट करती है।

क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकान्त ?

घर-प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को
उसकी अपनी ज़मीन के बारे में
बता सकते हो तुम ?

बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को
उसके घर का पता ?

क्या तुम जानते हो
अपनी कल्पना में
किस तरह एक ही समय में
स्वयं को स्थापित और निर्वासित
करती है एक स्त्री ?

सपनों में भागती
एक स्त्री का पीछा करते

कभी देखा है तुमने उसे
रिश्तों के कुरुक्षेत्र में
अपने आपसे लड़ते ?

अनेकानेक प्रश्नों के मध्य यह कविता बेहद तरल दृष्टि की आकांक्षा रखती है। अतएव यह कविता स्त्री के साथ अपनेपन के बोध की चाहना करती है। अपनेपन के बोध के बिना स्त्री को और उसके मनोभावों को समझने की दृष्टि विकसित नहीं हो सकती। इस बाबत निर्मला पुतुल स्त्रीत्व की परिभाषा गढ़ने से पहले रसोई और बिस्तर के गणित से परे, तन के भूगोल से परे मन की गाँठ खोलने की बात करती हैं।

तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठें खोलकर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का
खौलता इतिहास ?

पढ़ा है कभी
उसकी चुप्पी की दहलीज़ पर बैठ
शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को ?

उसके अंदर वंशबीज बोते
क्या तुमने कभी महसूसा है
उसकी फैलती जड़ों को अपने भीतर ?

'क्या तुम जानते हो' कविता अनेकानेक प्रश्नों का संगुफन है।एक प्रश्न के भीतर अनेक प्रश्न और प्रत्येक शब्द के अंदर शब्द-बीज परिव्याप्त हैं। ध्यान से देखें तो निर्मला पुतुल की कविता सीमाओं से परे जाना चाहती है और फिर-फिर सीमा में लौट आती है। इसी तरह 'अपनी जमीन तलाशती बेचैन स्त्री' कविता में निर्मला पुतुल स्त्री की घर, संतान, प्रेम और जाति से मुक्ति की बात करती हैं क्योंकि यही वह चौहद्दी है जिससे वे अक्सर पार नहीं कर पातीं। उस परिधि में उनका स्नेह उन्हें बाँधता है लेकिन उनके समर्पित मन को पुरुषवादी, वर्चस्वशाली रावण हर के ले जाना चाहता है। वह कहती हैं कि हम स्वयं को देखने के लिए पुरुष दृष्टि के अभ्यस्त हो चुकी हैं। हमने न तो कभी अपनी दृष्टि विकसित की और न ही कभी पुरुष दृष्टि की मानकता पर सवाल उठाया। हमने सदा से पुरुष दृष्टि को ही मानक स्वीकार किया और उसी के आधार पर अपना मूल्यांकन करती रहीं। इसीलिए बार-बार वे स्वयं को स्वयं की दृष्टि से देखने की बात करती हैं।

'क्या तुम जानते हो' कविता में निर्मला पुतुल हर उस दृष्टि का निषेध करती हैं जो पहले से चली आ रही है और स्त्री को अपने मानदण्ड में बाँधने की कोशिश करती है। यह कविता न सिर्फ़ तथाकथित पुरुष दृष्टि का निषेध करती है बल्कि स्त्री-विमर्श की पश्चिमी परिभाषा को भी दरकिनार करती हैं। 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' काव्य-संग्रह की यह प्रतिनिधि कविता एक प्रकार से स्त्रीवादी विमर्श का उद्घोष है जिसमें अपनी ज़मीन से जुड़े विमर्श के चिन्तन का वास्तविक प्रयास किया गया है।

स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य का विस्तार 'चुड़का सोरेन से' कविता में देखा जा सकता है। जहाँ कवयित्री अपनी बहनों से ठिठोली करते, गुपचुप बतियाते, दाँत निपोरते व्यक्ति से बचने की सलाह देती हैं। सवाल करते यह पूछना नहीं भूलती कि वह कौन-सा जंगली जानवर था जो तुम्हारी बहन मुँगली को उठाकर ले गया। वे विश्वास की जड़ों को कुतर रहे लोगों की भाषा को पहचानने का प्रयास करने को कहती हैं। ललिता उराँव, दीपा मुर्मू, बुधनी, रीता कुजूर के गायब होने, गर्भवती होने की सच्चाई को समझने को कहती हैं क्योंकि ऊँची सेण्डल वाली स्टेला कुजूर, बैग लटका कर बाजार जाने वाली शिलवन्ती से सावधान रहने की ज़रूरत है। 'कुछ मत कहो सजोनी किस्कू !' कविता में बागजोरी गाँव में हल चलाने वाली सजोनी किस्कू के साथ कवयित्री खड़ी हैं। 'माँझी हाड़ाम' कविता में वर्चस्व का वह प्रतिनिधि बनकर आता है जिसके लिए यह गँवारा नहीं है कि कोई स्त्री हल चलाए और यदि सजोनी किस्कू जैसी स्त्री यह करती है तो उसे बैल बनाकर हल में जोता जाता है और खूँटे में बाँध जानवर की तरह भूसा खिलाया जाता है।

स्त्री के प्रति उत्पीड़न का यह भाव कहाँ से आया ? कवयित्री पुरुषवादी समाज से प्रश्न करती हैं कि 'संथाल-विद्रोह' के समय तुम्हारा पौरुष कहाँ गया था जब तुम महिलाओं को यूँ ही अकेला छोड़ भाग गए थे। एक प्रकार से उस पूरे इतिहास के मर्म पर निर्मला पुतुल ऊँगली रख देती हैं जहाँ से स्त्री को धकियाया जाता रहा है। पहाड़पुर की 'प्यारी हेम्ब्रम' को निर्मला याद करती हैं जिसका पति 'जातीय टोटम' के विरुद्ध उसके नाक-कान काट देता है। सवाल यह है कि इतनी हिंसक मनोवृत्ति को पुरुषों ने अपना अधिकार कैसे समझा कि वे 'सुबोधनी मारण्डी', 'पकलू मराण्डी' जैसे महिलाओं को कभी डायन करार दे उनकी इज्जत लूट लेता है तो कभी नंगा करके नाच नचाता है। 'माँझी हाड़ाम', 'पराणिक', 'गुड़ित' जैसे चरित्र आदिवासी समाज के ऐसे ठेकेदार हैं जो किसी स्त्री के चरित्र की बोली लगाना अपना परम अधिकार मानते हैं।

'क्या तुम जानते हो' जैसी कविता किसी बन्द कमरे में बैठकर बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ने से नहीं उपजी है। जन-संघर्ष में सक्रिय भागीदारी और अपने आस-पास घटित हो रही घटनाओं पर पैनी नज़र से ही ऐसी कविताओं का स्वतः प्रस्फुटन होता है। निर्मला पुतुल अपनी कविताओं में हिंसक मनोवृत्ति के खिलाफ पुरजोर आवाज़ उठाती हैं। आदिवासी कविता का स्त्रीवादी परिप्रेक्ष्य ठेठ चिन्तन से उपजा है। यहाँ पूँजीवादी सिद्धान्त काम नहीं करता।

एक बात जो सम्पूर्ण धरा पर समान है वह है स्त्री पर अत्याचार। पृथ्वी के गोलार्द्ध में यह हिंसा सर्वत्र लगभग एक समान है। इसी हिंसा का दूसरा रूप प्रकृति का शोषण है जहाँ, स्त्री और प्रकृति एक हो जाती है।

'अपने घर की तलाश में' कविता में 'अपने होने का अर्थ' ढूँढने के पर्याय में स्त्री और धरती निमज्जित हो जाती हैं। 'बूढ़ी पृथ्वी का दुःख' कविता में स्त्री-पारिस्थितिकी का विस्तार देखा जा सकता है। यह कविता पुरुष केन्द्रित अधिकार और उसकी संरचना को स्पष्ट करती है। जैव संकट, सामाजिक संकट और सांस्कृतिक संकट को आदिवासी स्त्री विशेष रूप से प्रत्यक्षतः भुगत रही है। स्त्री और प्रकृति दोनों का शोषण पुरुषाधिपत्य का परिणाम है। इस शोषण के विरुद्ध स्त्री अपनी आवाज़ उठा सकती है लेकिन प्रकृति बोल नहीं सकती। हालाँकि वह भी चुप नहीं बैठती। अति होने पर त्रस्त हो वह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी आदि के माध्यम से पुरुषवादी अहंकार से अपना बदला लेती है। प्रभुत्व की आकांक्षा प्रकृति को नाश करने में लगी है और यही आकांक्षा स्त्री के सन्दर्भ में भी देखी जा सकती है। मिट्टी की उत्पादकता के साथ ही स्त्री की उर्वरता को भी पुरुषों ने अपने अधीन कर रखा है। धरती पर विभिन्न कीटनाशकों एवं उर्वरकों के प्रयोग के समान ही स्त्री के गर्भनिरोधक और गर्भपात के लिए तमाम तरह के इंजेक्शन और दवाइयों का प्रचुरता में दुरूपयोग किया जा रहा है। स्त्री देह पर अपना आधिपत्य समझने के कारण उसके कष्ट, पीड़ा और अस्वस्थता को दरकिनार कर मनमाना आचरण किया जा रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि पृथ्वी के शोषण की बढ़ोतरी के साथ ही स्त्री-शोषण के बढ़ते अनुपात को भी देखा जा सकता है। पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफे के सिद्धान्त पर चलती है तो समाजवादी व्यवस्था प्रगति के सिद्धान्त पर। किन्तु ये दोनों ही सिद्धान्त प्रकृति और स्त्री के लिए यन्त्रणादायक हैं। वास्तव में 'क्या तुम जानते हो' कविता का विस्तार झारखण्ड क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रह जाता बल्कि सकल विश्व में इसकी परिव्याप्ति देखी जा सकती है। पर्यावरण के दोहन और शोषण से कवयित्री दुखी और बेचैन हैं।

2.5.3. 'बिटिया मुर्मू के लिए' : जागरण सन्देश

'बिटिया मुर्मू के लिए' कविता में तीन परिप्रेक्ष्यों का अंकन किया गया है। कविता अपने पहले परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण जनजातीय समाज को सोये से जगाने का प्रयास है। कवयित्री अँधेरे और साजिश के खिलाफ उठ खड़े होने को कहती हैं। उन शक्तियों को पहचानने की बात करती हैं जिसने इस धरती को रसहीन-सारहीन कर दिया है। अपनी मेहनत से पैदा की गई उस फसल की ओर संकेत करती हैं जिसका सही मूल्य चुकाए बिना बाजार में भेज दिया गया है। कवयित्री क्षुब्ध हो आश्चर्य व्यक्त करती हैं कि जिन लोगों ने कठिन परिश्रम कर अपने पसीने से सींच कर उस फसल की खेती की है वह अनाज उन्हीं की बस्ती की दुकानों पर बिकने चला आया है। बाजारवादी सभ्यता का खेल इस जनजातीय समाज के लिए नया है। उसे इस खेल की धूर्तता का ज्ञान नहीं है।

तथाकथित सभ्य समाज ने पहले तो अधिक उपज के लिए अपनी ज़मीन पर खाद, कीटनाशक का प्रयोग कर दुगुनी-तिगुनी पैदावार की और अब उस ज़मीन की उर्वरता कम होने की बात कर वही समाज जंगलों की ओर खिसक आया है। अब जंगल उसकी निगाह में हैं। जंगल में प्राकृतिक रूप से उपजने वाले धान्य और औषधि पर 'जैविक उत्पाद' का लेबल चस्पा कर बाजार में बेचा जा रहा है। जैविक (Organic) खाद्यान्नों एवं औषधियों की बढ़ती माँग आज जनजातीय समाज के शोषण का कारण बन गई है। जैविक तन, जैविक मन और जैविक धन के लोलुप, दुष्ट, मायावी, तथाकथित सभ्य समाज ने जंगल की संतान का जीना दुर्भर कर दिया है। उन्हें पता चल चुका है कि सर्वश्रेष्ठ असाध्य रोगों की औषधियाँ जंगलों, पहाड़ों और कंदराओं में ही मिल सकती हैं। वे जान चुके

हैं कि पहाड़ से गिरते सोते में ही चर्म रोगों का निदान मिलता है। उन्होंने जान लिया है कि पेड़ पर लिपटी लताओं, छालों और जड़ों में, जानवरों के नखों, दाँतों, चमड़ों और हड्डियों में शक्तिवर्धक तत्त्व विद्यमान हैं। सवाल यह है कि जब वे यह जान चुके हैं कि प्राकृतिक परिवेश में सब कुछ बेहतर है तो उसे संरक्षित करने की कोशिश क्यों नहीं की जाती। अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियों और राष्ट्रीय उद्योगों ने मानवता और देशभक्ति के नाम पर जनजातीय समाज की रसना को चूसने का प्रयास किया है। सड़कें, बिजली वहीं तक जाती हैं जहाँ तक कंपनियों के प्लांट लगे हुए हैं। विद्यालय, अस्पताल अभी भी नदारद हैं। विकास के नाम पर सरकारें आँखें बन्द किए हुए हैं। भाषा की मृत्यु, संस्कृति का क्षरण और समाज के विलोपन के साथ ही वृक्ष और धरती को नग्न करते हुए बलत्कृत होती इन पहाड़ी देवियों के आर्त्तनाद को कौन सुनेगा।

कवयित्री की व्यथा अपने लोगों को आवाज देती है। वह उनके उठने में तेजस्विता, ऊर्जा का संचार करना चाहती है। 'तूफान से बवण्डर', 'राख में दबी चिनगारी' की तरह खड़े होने और सुलगने को कहती है। कवयित्री अपने समुदाय से प्रश्न करती हैं –

सोचो ...
तुम्हारे पसीने से पुष्ट हुए दाने
एक दिन लौटते हैं
तुम्हारा मुँह चिढ़ाते
तुम्हारी ही बस्ती की दुकानों पर
कैसा लगता है तुम्हें जब
तुम्हारी ही पहुँच से
दूर होती दिखती हैं
तुम्हारी ही चीज़ें ... ?

यह 'कैसा लगता है तुम्हें' यहीं नहीं थमता है। कविता के दूसरे परिप्रेक्ष्य में यह व्यथा और भी अधिक घनीभूत हो उठती है। अपने लोगों के सीधेपन से उकताकर कवयित्री पूछती हैं –

क्या अब भी विश्वास करने लायक
बचा है यह समय ?

तुम्हारे विश्वास की जड़ें आख़िर
कितनी गहरी हैं
समय के द्वारा लगातार कुतरे जाने के बावजूद ?
क्या वे पाताल में गई हैं ... ?

यह विश्वास की जड़ें क्या पाताल तक फैली हैं जो तुम दुष्ट व्यवस्था की छलनाओं को नहीं पहचान पा रहे हो। अन्त में कवयित्री का थका स्वर सुनाई देता है –

जबकि तुम्हारे हिस्से में
भूख और थकान के सिवा
सिवा एक बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद के
शायद कुछ भी नहीं है ...

विडम्बना ही है – कि
सबसे ज़्यादा कैसे करती हो
ईश्वर पर विश्वास .... ?

कविता के तीसरे परिप्रेक्ष्य में कवयित्री के हृदय का बाँध खुल कर फूट पड़ता है। यहाँ उन्होंने विसंगतियों को निरावृत कर सच-सच कहने का साहस किया है। इसीलिए नृत्य की बड़ाई करने वाले, प्रशंसा में कसीदे पढ़ने वाले सौदागरों को समझने-पहचानने के लिए सावधान करती हैं। कवयित्री अपने समुदाय के सीधे-सादे और जल्दी विश्वास कर लेने वाले लोगों को सचेत करती हुई कहती हैं –

सौदागर हैं वे ... समझो ...
पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू... पहचानो !
पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं
उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का
बचपन चीत्कारता है
उन्हीं की गाड़ियों पर
तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग़ देखने
कलकत्ता और नेपाल के बाज़ारों में उतरती हैं

'नगाड़े की आवाज' प्रतीक है – शक्ति और सामर्थ्य का। आज उसी आवाज को असमर्थ बना दिया गया है। कवयित्री फिर से उसी जोश, उत्साह, हिम्मत और सामर्थ्य को जगाने का प्रयास करती हैं –

नगाड़े की आवाज़ें
कितनी असमर्थ बना दी गई हैं
जानो उन्हें ... !

वस्तुतः यह कविता भूली हुई सामर्थ्य और शक्ति को पुनर्जाग्रत करने का एक घोषनाद है। यहाँ विचारणीय है कि अपनी कभी न पूर्ण होने वाली क्षुधा की पूर्ति के लिए वर्चस्वशाली समाज जिन अमानवीय तौर-तरीकों से इन मूल निवासियों को उनके मौलिक अधिकारों से वंचित कर रहा है क्या उसका दुष्परिणाम आने वाले समय में स्वयं उन्हें ही नहीं भोगना होगा क्योंकि जिस आत्मीयता और समर्पण भाव से इन मूल निवासियों ने प्रकृति की बहुमूल्य सम्पदा को अब तक संरक्षित कर रखा हैक्या उस अपनेपन और त्याग की प्रवृत्ति का लेशमात्र भी उस तथाकथित सभ्य समाज के पास है।

कवयित्री नगाड़े की आवाज को फिर से बुलंद करना चाहती हैं। वे सदा प्रकृति के मध्य नृत्यरत रहने वालों के मन को देखकर हैरान हैं क्योंकि अब नृत्य के आवर्त्तन को बदल कर प्रदर्शन बना दिया गया है। यह प्रदर्शन भौतिकवादी समय की उपज है। उपभोक्तावादी समाज की छलना यह है कि वह पहले संस्कृति का हिस्सा बनता है फिर धीरे से संस्कृति के एक रेशे को अपनी अँगुलियों में बाँधता है और फिर धीरे-धीरे उस धागे को अपनी मुट्ठी में कर लेता है। फिर उस धागे को चीनी मांझे में तब्दील कर अपने अनुसार पतंग को उड़ाता है। समस्या यह है कि धागे और पतंग हमारी संस्कृति है लेकिन धागे पर लगा सीसा बाहर का है जिसके स्पर्श मात्र से लहूलुहान हुए बगैर नहीं रहा जा सकता।

निर्मला पुतुलअपने समुदाय के शोषण के प्रति चिन्तित हैं इसीलिए बिटिया मुर्मू के माध्यम से जब वे उन्हें सम्बोधित करते हुए कहती हैं कि तुम्हें कैसा लगता है जब तुम्हारे ही पसीने से पुष्ट हुए दाने एक दिन तुम्हारा मुँह चिढ़ाते तुम्हारी ही बस्ती की दुकानों पर लौटते हैं। तो यहाँ वे इंगित करना चाहती हैं कि वे दाने परिश्रम के पसीने और जीवन जीने के नमक से पुष्ट हुए हैं। उनमें कोई खाद बाहर का नहीं है, न ही बीज बाहर का है। अपनी धरती और अपनी मेहनत की रागात्मकता इस दाने के साथ है जो सीधेपन के कारण बाजारीकरण का शिकार हो गया है।

कवयित्री ने इस कविता को पुत्र या पति को सम्बोधित नहीं किया है यहाँ वह बिटिया मुर्मू को सम्बोधित करती हुई अपनी बात कहती हैं। दरअसल यह कविता उस धरती की आर्त्त पुकार है जिसे स्त्रीहृदय ही सुन और समझ सकता है। यह एक स्त्री का अन्य स्त्री को सम्बोधन इसलिए भी है क्योंकि किसी भी हिंसा, युद्ध या प्रकोप का शिकार स्त्री ही होती है। 'कुल्हाड़ियों से नंगी होती बस्तियाँ' वस्तुतः स्त्रियों को अनावृत कर उन्हें रौंदने का प्रयास भी है। Juxtapostion में लिखी इस पंक्ति में पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों आमने-सामने है। यहाँ प्रश्न है कि क्या स्त्री का पक्ष या प्रतिपक्ष भी होता हैं ? क्या इसीलिए निर्मला पुतुल कुल्हाड़ियों की साजिश को समझाने का प्रयत्न करती हैं।

इसी कविता का विस्तार हम उनकी दूसरी कविता 'आदिवासी लड़कियों के बारे में' देखते हैं जहाँ लेखिका उनके सौन्दर्य, जीवन, शैली की तारीफ़ में कहे गए शब्द को झूठा करार देती हैं। उनके अनुसार परिचय में बड़े-बड़े झूठ कह उन्हें बरगलाने की कोशिश की गई है जिसे आदिवासी लड़कियों का निश्चल हृदय समझ नहीं पाता। और यहीं यह कविता शोक गीत में तब्दील हो जाती है।

2.5.4. 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' : अपनी ज़मीन और संस्कृति से जुड़े रहने की ललक

यह कविता कई चिन्ताओं का समुच्चय है। 'दूर जाने का भय' इस पूरी कविता में व्याप्त है। दूरी के साथ अपने गाँव, रिश्ते-नातेदारों के छूट जाने का भय, अपनी जमीन से विस्थापित होने का, निर्वासित होने की चिन्ता पूरी कविता की देह में अजीब-सी बेचैनी को बयां करती है। लोकगीत की शैली में यह कविता संगुम्फित है। बेटी बाबा को सम्बोधित करते अनुनय कर रही है। प्रत्येक विवाह योग्य युवती अपने कोमल मन में एक ऐसे पति की कल्पना का सपना संजोती है जो उसे अपने से ज्यादा प्रेम करे। निर्मला पुतुल आदिवासी युवतियों के मन की बात

जानती हैं । अपनी कविता में 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा !' में वे आदिवासी समुदाय की युवतियों की मनोकामना अभिव्यक्त करती हैं । आदिवासी समुदाय के लोग अपनी संस्कृति और अपनी धरती से अथाह प्रेम करते हैं इसीलिए विवाह योग्य युवती की पहली कामना है कि मेरा ससुराल हमारी संस्कृति से दूर न हो । अपने स्वजनों का नैकट्य उसे बहुत प्रिय है तभी तो वह कहती है –

ब्याहना तो वहाँ ब्याहना
जहाँ सुबह जाकर
शाम को लौट सको पैदल
मैं जो कभी दु:ख में रोऊँ इस घाट
तो उस घाट नदी में स्नान करते तुम
सुनकर आ सको मेरा करुण विलाप ...

भारतीय समाज में कन्या का पिता होना बहुत ज़िम्मेदारी भरा होता है । विवाह योग्य होने तक उसकी सार-सँभाल और फिर बहुत सारे दान-दहेज के साथ उसका विवाह, उसकी विदाई । निर्मला पुतुल मानवतावाद की पक्षधर हैं । वे मानवीय प्रेम को ईश्वरीय भक्ति से ज्यादा महत्त्व देती हैं –

मत ब्याहना उस देश में
जहाँ आदमी से ज़्यादा ईश्वर बसते हों

तथा

उस देश ब्याहना
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज़्यादा रहते हों

आदिवासी मन 'आशुतोष' है । उसे बहुत अधिक की कामना नहीं है वह जो प्राप्त है उसी को सहेज कर रखने में प्रसन्न है । शहरी ताम-झाम, मोटर-गाड़ियों में उसकी कोई दिलचस्पी नहीं, उसे तो अपने जल-जंगल-जमीन से प्यार है और इन्हीं के आश्रय में वह अपना जीवन गुजारने का आकांक्षी है –

जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन

वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मन से भी ज़्यादा तेज़ दौड़ती हों मोटर-गाड़ियाँ
ऊँचे-ऊँचे मकान
और दुकानें हों बड़ी-बड़ी

जंगल, नदी, पहाड़ में आदिवासियों के प्राण बसते हैं। जहाँ रहकर वह भोर में मुर्गे की बांग न सुन पाए, शाम को पहाड़ी के पीछे ढलता सूरज न देख पाए, जहाँ बड़ा खुला आँगन न हो, ऐसी अट्टालिकाओं में उसकी जरा भी रुचि नहीं –

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता
जिस घर में बड़ा-सा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर होती नहीं हो जहाँ सुबह
और शाम पिछवाड़े से जहाँ
पहाड़ी पर डूबता सूरज ना दिखे

लेकिन ऐसा नहीं कि जनजातीय जीवन का हर पक्ष उसे सुहाता हो। प्रत्येक युवती यह चाहती है कि उसका पति वीर और साहसी हो लेकिन उस शक्ति का प्रदर्शन वह अपनी पत्नी पर करे ऐसा कोई युवती नहीं चाहती। आदिवासी युवती की कामना है कि उसका पति स्त्रियों का सम्मान करे, शराब आदि नशों से दूर रहे, परिश्रमी हो, दुराचारी न हो और सबसे बढ़कर यह कि वह कभी उसका साथ न छोड़े।

मत चुनना ऐसा वर
जो पोचाई और हड़िया में डूबा रहता हो अक्सर
काहिल-निकम्मा हो
माहिर हो मेले से लड़कियाँ उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना
मेरी ख़ातिर

तथा

जब चाहे चला जाए बंगाल, आसाम या कश्मीर
ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे

और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ

आदिवासी पर्यावरण के संरक्षक हैं। युवती चाहती है कि उसका होने वाला पति प्रकृति से प्रेम करने वाला हो। साथ ही, उसकी अभीप्सा है कि उसका पति अनपढ़ न हो, क्योंकि आदिवासियों के निरक्षर होने का लाभ अवसरवादियों ने पहले ही बहुत उठाया है –

जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया
फसलें नहीं उगायी जिन हाथों ने
जिन हाथों ने दिया नहीं
कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नहीं उठाया
और तो और !
जो हाथ लिखना नहीं जानता हो 'ह' से हाथ

उसके हाथ, मत देना कभी मेरा हाथ !

आदिवासी युवती की अभिलाषा है कि उसका वर हुनरमंद हो, पेड़ लगाने से लेकर सुरीली बाँसुरी, ढोल-माँदल बजाने की कला में पारंगत हो, जो उससे इतना प्रेम करे कि उसके बिना खाना न खाए, ऐसे वर को पाने की इच्छा व्यक्त करती है। यह कविता ब्याह के बरक्स विकास और प्रकृति के टूटते सम्बन्ध के साथ आधुनिक समाज की विषमताओं पर प्रकाश डालती है।

जनजातीय समाज सरल समाज है। उसे विकास के तथाकथित अनुषंगों से कोई लेना-देना नहीं है लेकिन छलावे का विकास और छलनामय लोगों की वास्तविकता यह समाज पहचान चुका है। इस प्रकार यह कविता एक साथ कई स्तरों पर बात करती है। यह कविता वैश्विक या शहराती बातें नहीं करती। इसीलिए इसमें महुआ का लट, खजूर का गुड़, कद्दू-कोहड़ा, खेखसा, बरबट्टी, गोगो, मेला-हाट, चितकबरी गैया, कबूतर के जोड़, पंडुक पक्षी, बाँसुरी, ढोल-मांदर, पलाश के फूल आदि से जुड़े रहने का भाव व्यक्त हुआ है। इस प्रकार भौतिक संसाधनों की आकांक्षाओं के मायाजाल को यह कविता क्षण भर में समाप्त कर देती है।

यह कविता तथाकथित नारीवादी विमर्शों को भी ध्वस्त करती है। इसमें कोई नाश, एजेंडा, माँग-पत्र, जिंदाबाद-मुर्दाबाद का शोर नहीं है। न ही कहीं 'कैंडिल लाइट प्रोसेसन' है और न ही इसमें जंतर-मंतर पर धरना देने की कवायद ही है। गहन संवेदना से सम्पृक्त निर्मला पुतुल की यह कविता अपनी छोटी-सी भावना के वजूद को तलाशती है। यह तलाश उसकी विकलता है और उसे बचाने की जिद ही कविता बन जाती है।

सदियों से चल रहे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन को कवयित्री पहचानती है इसलिए प्रकृति पर हो रहे हर कुठाराघात को बताते स्त्री पर हो रहे अत्याचार को बताने लगती है। 'भाषा की दरारों से झाँकते बदशक्ल आदमी' की चालाकी को लेखिका पहचानती है। 'अनबोली मंशा', 'झूठी तारीफों के पुल', 'लिजलिजे पुलों का रहस्य', 'झकझक साफ कमीज' का मैलापन कवयित्री पहचानती है और कह उठती है –

ठीक तरह से कर सकूँ हमला
और बता सकूँ सरेआम गिरेबान पकड़
कि मैं वो नहीं जो तुम समझते हो

निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी समाज के सीधेपन का फायदा उठाने वाले लोगों के प्रति क्रोध बरस पड़ता है। इसीलिए तो 'पिलचू बूढ़ी से' जो सृष्टि की पहली स्त्री है, वे पूछती हैं कि तुम्हारे वंशज इतने मगजहीन कैसे हैं जो अपने वजूद को भी नहीं पहचानते। यह गुस्सा 'धीरे धीरे' में और फूट पड़ता है –

बटोर पृथ्वी की पूरी ऊर्जा
उठेगा धीरे-धीरे जमीन से
जमीन पर गिरा आदमी
और अपने लड़खड़ाते कदमों से नापते दूरियाँ

पहुँच जाएगा वहाँ
जहाँ उस जैसे तमाम आदमियों पर बहस चल रही होगी धीरे-धीरे

2.5.5. पाठ-सार

निर्मला पुतुल की कविता आदिवासी समाज के यथार्थ को उद्घाटित करती हैं। इस यथार्थ को समझने के लिए उस समाज की भाषा की निर्मितियों को समझना होगा। जंगल और जमीन के उस रिश्ते को समझना होगा जिसके मध्य आदिवासी समाज सुकून से जीता है। उस समाज में पनप रही चिन्ता को भी समझने की आवश्यकता है जिसमें वे अब सहज नहीं महसूस करते। आदिवासी कविता के बिम्बों में गहन अवसाद दिखता है। यह कविता अवसाद के उन्हीं कारकों की ओर देखने की कवायद करती है। निर्मला पुतुल की कविताएँ विकास के नाम पर किए जा रहे शोषण, प्रगति के नाम पर हो रहे विस्थापन, प्राकृतिक सम्पदा और स्त्री के प्रति गिद्ध दृष्टि को उद्घाटित करती हैं। स्थानों और व्यक्तियों के नाम चिह्नित करते हुए निर्मला पुतुल नीति निर्माताओं, स्वयंसेवी संगठनों पर गहरा तंज कसती हैं लेकिन इन सभी अप्रिय घटनाओं के बीच भी उदासी से परे विश्वास को बनाए रखना नहीं भूलतीं –

आओ मिलकर बचाएँ
कि इस दौर में भी बचाने को
बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास !

2.5.6. बोध प्रश्न

1. निर्मला पुतुल की कविता का मूल-स्वर क्या है ? सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
2. 'बिटिया मूर्मू के लिए' कविता विकास और विस्थापन के नाम पर चल रहे व्यापार को कैसे उद्घाटित करती है ?
3. " 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा !' कविता प्रकृति और स्त्री के सम्बन्ध को सम्प्रेषित करने में सफल है।" कैसे ? विश्लेषण कीजिए।
4. निर्मला पुतुल की कविताएँ स्त्री पारिस्थितिकी (Ecofeminism) को कैसे व्याख्यायित करती हैं ?

2.5.7. सहायक ग्रन्थ-सूची

1. नगाड़े की तरह बजते शब्द, निर्मला पुतुल, भारतीय ज्ञानपीठ।
2. आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल, डॉ॰ रामदयाल मुण्डा, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।
3. इको-फेमिनिज़म, के. वनजा, वाणी प्रकाशन।
4. कलम को तीर होने दो, रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन।
5. झारखण्ड के आदिवासियों के बीच : एक एक्टीविस्ट के नोट्स : वीरभारत तलवार, भारतीय ज्ञानपीठ।

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 1 : मलयालम : चेम्मीन (मछुआरे) – तकषि़ शिवशंकर पिल्लै

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य कथन
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. तकषि़ शिवशंकर पिल्लै का परिचय
3.1.3. तकषि़ शिवशंकर पिल्लै : कृतित्व
3.1.4. चेम्मीन उपन्यास की कथावस्तु का विश्लेषण
    3.1.4.01. चेम्मीन की वैश्विक लोकप्रियता और उसके कारण
    3.1.4.02. केरल के समुद्री मछुआरे और उनकी मान्यताएँ
    3.1.4.03. चेम्बन कुंजु की मनोकामना
    3.1.4.04. करुत्तम्मा और परीकुट्टी के मध्य कुमारावस्थाजन्य प्रेम
    3.1.4.05. चेम्बन कुंजु का शातिर दिमाग़
    3.1.4.06. पैतृक दायित्व और आचरण
    3.1.4.07. करुत्तम्मा का विवाह
    3.1.4.08. विवाहोपरान्त आगत समस्याएँ
    3.1.4.09. दुखद अन्त
    3.1.4.10. कथानक में निहित नैतिक मूल्य
3.1.5. पाठ-सार
3.1.6. बोध प्रश्न
3.1.7. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
3.1.8. कठिन शब्दावली
3.1.9. उपयोगी/सहायक ग्रन्थ-सूची

3.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. तकषि़ शिवशंकर पिल्लै और उनकी कृतियों से परिचित होंगे।
ii. 'चेम्मीन' उपन्यास का महत्त्व और उसकी वैश्विक लोकप्रियता के कारणों को समझ पाएँगे।
iii. केरल के समुद्री मछुआरों की जीवन-शैली और उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक मान्यताओं से परिचित हो सकेंगे।
iv. उपन्यास के पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे।
v. उपन्यास की कथावस्तु को हृदयंगम कर सकेंगे।

3.1.1. प्रस्तावना

हम जब भी एक उपन्यास पढ़ते हैं, उससे सही रूप से तभी लाभान्वित हो सकते हैं जब उस पूरे परिवेश को हृदयंगम कर सकें जिसे लेखक ने उपन्यास लिखते समय अपने मनोमस्तिष्क में रखा। यह कहानी केरल के अलप्पुषा जिले के एक गाँव में रहने वाली मछुआरों की बस्ती की कहानी है जिनके जीवन में समुद्र का अतुल्य महत्त्व है। लोगों का रोज़गार समुद्र से जुड़ा है। उनकी सोच, विचार और मान्यताओं में सर्वत्र समुद्र छाया हुआ है। जिसके पास एक नाव और जाल है उसे सौभाग्यशाली माना जाता है। अन्य मछुआरे उससे ईर्ष्या करते हैं। सम्पूर्ण भारत की भाँति मछुआरा समाज में भी पुरुषों का वर्चस्व है। पुरुष-प्रधान मछुआरा समाज में नारी की पवित्रता और उसके चरित्र को उसके पति के जीवन से जोड़कर देखा जाता है। शिक्षा और संचार माध्यमों के अभाव में समाज में अनेक रूढ़िवादी रीति-रिवाजों की घुसपैठ विद्यमान है।

3.1.2. तकषि शिवशंकर पिल्लै का परिचय

तकषि शिवशंकर पिल्लै (1912 – 1999) एक सुप्रसिद्ध मलयालम उपन्यासकार और लघु-कहानियों के लेखक थे। उन्हें उनकी साहित्यिक रचनाओं के लिए पद्मभूषण से सम्मानित किया गया था। उन्होंने लगभग 18 उपन्यास और 600 लघु कहानियाँ लिखीं। उनकी रचनाओं का मुख्य विषय समाज का पिछड़ा वर्ग रहा है। यह उल्लेखनीय है कि तकषि ने ऐसे समय में केरल के पिछड़े वर्ग पर लिखा है जब समाज जाति-पाँति के दुष्प्रभाव से गहरे प्रभावित और अस्पृश्यता, छुआ-छूत, भेदभाव के दंश से पीड़ित था। ऐसे विपरीत समय में तकषि की कृतियों के कारण समाज में कई बदलाव आए हालाँकि तत्कालीन स्थितियों में सुधार के लिए अनेक सामाजिक संस्थाओं और राजनैतिक व्यक्तियों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। ध्यातव्य है कि इन सुधारात्मक प्रयासों के फलस्वरूप केरल की यह उल्लेखनीय उपलब्धि रही कि यह भारत का पहला पूर्णरूपेण शिक्षित राज्य घोषित हुआ। कुशल श्रमिकों की संख्या में भी केरल देश के अन्य कई राज्यों से आगे निकल चुका है।

तकषि शिवशंकर पिल्लै के नाम में 'तकषि' उनके जन्मस्थल से सम्बन्धित है। यह गाँव केरल के अलप्पुषा जिले में स्थित है। तकषि मे बाल्यकाल से ही कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उनका उपन्यास 'तोट्टियुटे मकन' (1947) मलयालम यथार्थवादी साहित्य में पथप्रदर्शक के रूप में परिगणित किया जाता है। यह उपन्यास अलप्पे में मेहतर तौर पर काम कर रहे तीन पीढ़ियों के जीवन पर आधारित है।

उनका एक अन्य उपन्यास 'रन्डिडंगषि' 1948 में प्रकाशित हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसमें तत्कालीन प्रचलित ज़मींदारी प्रथा की क्रूरता और उससे उपजे दुष्परिणामों को उद्घाटित किया गया था। कालान्तर में तकषि ने इस पर आधारित पटकथा लिखी जिस पर फिल्म का निर्माण किया गया। इसके लिए 1958 में तकषि को श्रेष्ठ राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

परन्तु तकषि की वैश्विक प्रसिद्धि का मुख्य कारण उनका युवा प्रेम पर आधारित उपन्यास 'चेम्मीन' है जिसे उन्होंने 1956 में लिखा था। इस उपन्यास में एक दुःखान्त प्रेमकथा वर्णित है जो अलप्पुषा जिले के एक गाँव

में निवास करने वाली मछुआरों की बस्ती पर आधारित है। 1965 में 'चेम्मीन' शीर्षक से ही इसका फ़िल्मी रूपान्तरण किया गया था। विश्व की 19 से अधिक भाषाओं में चेम्मीन उपन्यास का अनुवाद किया गया और 15 देशों में इसका फ़िल्मी रूपान्तरण भी किया गया। इस उपन्यास के लिए तकषि को 1958 में साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। उपन्यास के फ़िल्मी रूपान्तरण को 1965 में सर्वश्रेष्ठ फ़ीचर फ़िल्म की श्रेणी में राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था।

3.1.3. तकषि शिवशंकर पिल्लै : कृतित्व

तकषि शिवशंकर पिल्लै का रचनासंसार विशाल है। उन्होंने लगभग 18 उपन्यास और 600 लघु कहानियाँ लिखीं। उनके प्रमुख उपन्यास इस प्रकार हैं – 'त्यागत्तिनु प्रतिफलम्', 'पतित पंकजम्', 'सुशीलन', 'परमार्थन्गल', 'विल्पनक्कारी', 'तलयोड', 'तोट्टियुटे मकन', 'रन्डिडंगषि', 'तेण्डिवर्गम', 'अवन्टे स्मरणयिल', 'चेम्मीन', 'औसेप्पिन्टे मक्कल', 'अंजु पेण्णुंगल', 'जीवितं सुन्दरमाण्', 'एणिप्पटिकल', 'माँसतिन्टे विलि', 'अनुभवंगल पालिच्चकल', 'आकाशम्' आदि।

3.1.4. चेम्मीन उपन्यास की कथावस्तु का विश्लेषण

चेम्मीन की मूल कहानी का विश्लेषण करने के लिए सबसे पहले इस उपन्यास के पात्रों से परिचय आवश्यक है। चेम्मीन के मुख्य पात्र इस प्रकार हैं –

i.	चेम्बन कुंजु	:	गाँव का एक वरिष्ठ मछुआरा और उपन्यास की नायिका करुत्तम्मा का पिता।
ii.	चक्की	:	चेम्बन कुंजु की पहली पत्नी और करुत्तम्मा की माँ।
iii.	परीकुट्टी	:	मुसलमान युवक जो करुत्तम्मा का प्रेमी है और मछलियों का व्यापार करता है
iv.	करुत्तम्मा	:	चेम्बन कुंजु की पहली बेटी।
v.	पलनी	:	एक मछुआरा जो करुत्तम्मा से विवाह करता है।
vi.	पप्पी कुंजु	:	चक्की की मृत्यु के पश्चात् चेम्बन कुंजु की दूसरी पत्नी।
vii.	पंचमी	:	चेम्बन कुंजु की छोटी बेटी।

3.1.4.01. चेम्मीन की वैश्विक लोकप्रियता और उसके कारण

किसी उपन्यास की लोकप्रियता के तीन प्रमुख कारण होते हैं –

(1) उपन्यास में सृजित काल्पनिक संसार विश्वसनीय और दिलचस्प होने के साथ-साथ वास्तविक दुनिया का ही प्रतिबिम्ब लगे।
(2) उपन्यास को पढ़ने समय पाठक का साधारणीकरण हो जाए और वह पात्रों के जीवनानुभवों को पात्रों के अनुसार अनुभव करने लगे।

(3) उपन्यास में सभी वर्गों के पाठकों को आनन्दित करने के समस्त गुण मौजूद हों अर्थात् एक पाठक उस उपन्यास को पढ़कर निजी तौर पर आनन्द का अनुभव कर सके, वह उपन्यास पाठक वर्ग में चर्चा का केन्द्र बन जाए और उस उपन्यास की साहित्यिक आलोचना होने लगे।

चेम्मीन के ऐतिहासिक और विशिष्ट साहित्यिक रचना माने जाने का प्रमुख कारण यह है कि इसमें केरल के तत्कालीन समाज में निम्न माने जाने वाले मछुआरों के जीवन, रहन-सहन, मान्यताओं, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं और उनके दैनिक जीवन का बारीकी से चित्रण किया गया। इसी से यह उपन्यास अपने आप में अनूठा और अपने समय का अद्वितीय उपन्यास माना जाता है। उपन्यासकार तकषि ने इस कृति में समूचे परिवेश की एक सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करने की कोशिश की है। उपन्यास का हर पात्र अपने माहौल और उससे उत्पन्न सोच के अधीन है। चेम्मीन का एक वरिष्ठ पात्र चेम्बन कुंजु पेशे से मछुआरा है। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य है – अपना खुद का एक मछली पकड़ने का जाल और एक नाव हासिल करना। उसकी युवा बेटी करुत्तम्मा परीकुट्टी नामक मुसलमान युवक से प्रेम करती है। सामाजिक बाध्यताओं के कारण इन प्रेमियों का विवाह सम्पन्न होना सम्भव नहीं है। यह जानते हुए भी चेम्बन कुंजु ने परीकुट्टी की भावनाओं का लाभ उठाया और उसके निवेश से जाल और नाव खरीद ली। इस सहयोग के बदले उसने न तो परीक्कुट्टी को बेचने के लिए मछलियाँ ही दीं और न ही उसके पैसे लौटाये। परीकुट्टी आर्थिक रूप से तबाह हो जाता है। जब वह मदद के लिए गुहार लगाता है तो दोनों समुदायों के मध्य सामाजिक विभाजन के कारण कोई मछुआरा उसकी सहायता नहीं करता। न तो उसे बेचने के लिए मछलियाँ दी जाती हैं और न ही जीवन निर्वाह के लिए कुछ पैसे। समाज की कसौटी पर खरी उतरने के लिए करुत्तम्मा अपने ही मछुआरा समाज के अनाथ युवक पलनी से विवाह कर लेती है और माँ भी बन जाती है। परन्तु जब उसके और परीकुट्टी के प्रेम की बातें सार्वजनिक होती हैं तो पति-पत्नी के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। एक दिन जब संयोगवश परीकुट्टी और करुत्तम्मा मिलते हैं, उनमें प्रेम के भाव अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। जिस वक्त परीकुट्टी और करुत्तम्मा का मिलन हो रहा होता है ठीक उसी समय पलनी मछली पकड़ने के लिए समुद्र के मध्य होता है। संयोग से वह वहाँ एक शार्क आ जाती है। संकट के इस समय वह अपनी पत्नी को याद करता है। परन्तु मछुआरों की मान्यता के अनुसार उस समय उसकी पत्नी अपवित्र हो रही होती है। शार्क पलनी पर भयानक आक्रमण कर उसे अपना शिकार बना लेती है। वहाँ समुद्र में पलनी की मृत्यु होती है और यहाँ समुद्र तट पर करुत्तम्मा और परीकुट्टी के भी शव पाए जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कथानक में पूरी नाटकीयता के साथ मानवीय स्वभाव, वैयक्तिक और सामाजिक मानसिकता का सटीक और वास्तविक चित्रण हुआ है जिसके कारण यह उपन्यास पाठक समाज में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसकी इतरभाषी ख्याति के कारण विश्व की 19 भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। वैश्विक मान्यता प्राप्त यह मलयालम का पहला उपन्यास था जिसे वैश्विक साहित्यिक धरोहरों में प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।

3.1.4.02. केरल के समुद्री मछुआरे और उनकी मान्यताएँ

चेम्मीन में वर्णित केरल के अलप्पुषा जिले में स्थित मछुआरों के गाँव की प्रमुख मान्यताएँ इस प्रकार हैं –

(i) वहाँ सागर को माता के रूप में माना जाता है। साधारण भाषा में इसके लिए कदलम्मा (सागर माँ अथवा सागर देवी) का शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

(ii) वहाँ एक बहु-प्रचलित मान्यता है कि यदि किसी मछुआरे के सागर में होने के दौरान उसकी पत्नी परपुरुष से संसर्ग के कारण अपवित्र हो जाए तो कदलम्मा (सागर माँ) उस मछुआरे का जीवन नष्ट कर देती है।

(iii) लड़कियों के कम आयु में विवाह को लेकर भी वहाँ एक मान्यता प्रचलित है।

(iv) एक अन्य मान्यता के अनुसार केवल धीवर (जालिया) ही नाव और जाल को प्राप्त कर सकते हैं। अन्य लोग इसके मालिक नहीं बन सकते।

(v) ग्रामीण तथा पिछड़े वर्ग के समाज के लोगों में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार किसी भी नवीनतम कार्य को प्रारम्भ करने पूर्व मछुआरा समुदाय के मुखिया से अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है।

3.1.4.03. चेम्बन कुंजु की मनोकामना

चेम्बन कुंजु के जीवन का एक मुख्य लक्ष्य है कि वह अपनी स्वयं की नाव और जाल रखे। अपनी इस मनोकामना की पूर्ति के लिए उसने अपनी बड़ी लड़की करुत्तम्मा और परीकुट्टी के मध्य पनप रहे लड़कपन के प्रेम का फायदा उठाया। उसने परीकुट्टी के धन की सहायता से एक नाव और जाल खरीद लिया। इसके बदले उसने परीकुट्टी को बेचने के लिए मछलियाँ देने का वचन भी दिया था। परन्तु बाद में एक अवसरवादी व्यक्ति की तरह वह अपने वादे से मुकर गया। उसने परीकुट्टी को न तो मछलियाँ दी और न ही उसका पैसा लौटाया।

3.1.4.04. करुत्तम्मा और परीकुट्टी के मध्य कुमारावस्थाजन्य प्रेम

करुत्तम्मा और परीकुट्टी का साथ बचपन का है। बचपन की जान-पहचान, बातचीत, साथ-साथ उठना-बैठना, खेलना-कूदना आदि क्रियाकलाप लड़कपन तक चलते रहे। बचपन का वह साथ समय गुजरने के साथ प्रेम में परिवर्तित हो गया। बचपन में उनके मध्य होने वाला साधारण वार्तालाप अब युवावस्था में कुछ गम्भीर हो चला था। उनका हँसी-मज़ाक अब मीठी नोक-झोंक में तब्दील होने लगा। मेल-जोल के दौरान करुत्तम्मा ने महसूस किया कि परीकुट्टी उसे अब पहले जैसी नज़र से नहीं देखता। अब उसकी दृष्टि में कहीं कामुकता नज़र आने लगी है। अब परीकुट्टी उसके शारिरिक ढाँचे को संकेन्द्रित रूप से देखने लगा है। इन भावों को महसूस कर करुत्तम्मा भी परीकुट्टी के प्रति आकर्षित होने लगी। जब करुत्तम्मा की माँ चक्की को उनके इस पारस्परिक प्रेम की भनक लगी तो उसने करुत्तम्मा को समझाया कि परीकुट्टी मुसलमान है वह हमारे समाज का लड़का नहीं है। उससे तुम्हारा विवाह सम्भव नहीं हो सकता अतः तुम्हारा उससे मिलना-जुलना ठीक नहीं है। चक्की अपनी बेटी को मछुआरों की संस्कृति और उसमें नारी पवित्रता की अनिवार्यता को समझाती है और बेटी के अपने ही समुदाय में शीघ्र विवाह सम्पन्न करने के लिए पति चेम्बन कुंजु पर ज़ोर देती है।

3.1.4.05. चेम्बन कुंजु का शातिर दिमाग़

चेम्बन कुंजु को अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूरी करने और दैनिक जीवन में परिस्थिति से लाभ उठाना अच्छी तरह से आता था। इसलिए यद्यपि वह अपनी बेटी करुत्तम्मा और परीकुट्टी के बीच बढ़ रही नज़दीकियों से प्रसन्न नहीं था, तथापि वह जानता था कि परिकुट्टी उसे एक नाव और जाल खरीदने में सहायता कर सकता है। अतः उसने इस अवसर का लाभ उठाया। उसने परिकुट्टी को करुत्तम्मा से विवाह का प्रलोभन दिया। भावुक परिकुट्टी चेम्बन कुंजु के झाँसे में आ गया। उसने चेम्बन कुंजु को नाव और जाल खरीदने के लिए अपना धन उपलब्ध कराया। उनके बीच यह तय हुआ कि इसके बदले में चेम्बन कुंजु परिकुट्टी को बेचने के लिए मछलियाँ उपलब्ध कराएगा। हालाँकि वह अच्छी तरह जानता था कि सामाजिक मान्यता के अनुसार केवल धीवर (जालिया) समुदाय के मछुआरे ही नाव और जाल को रखने के अधिकारी हैं तथापि अपनी लालसा पूर्ति के लिए उसने इस मान्यता को अनदेखा कर दिया। इतना ही नहीं, उसने ग्रामीण तथा पिछड़े वर्ग के समाज के लोगों में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार किसी भी नवीनतम कार्य को प्रारम्भ करने पूर्व मछुआरा समुदाय के मुखिया से अनुमति प्राप्त करने की औपचारिकता भी नहीं निभायी। और तो और, उसने परीकुट्टी को दिए अपने वचन का पालन भी नहीं किया।

अपनी बेटी करुत्तम्मा के विवाह के मामले में उसने काफ़ी होशियारी दिखायी। एक ओर तो प्रचलित सामाजिक नियमों के अनुसार परीकुट्टी को अपना दामाद बनाना सम्भव नहीं था। दूसरी ओर समाज में विवाह करने के लिए रूपये-पैसे की माँग पूरी करनी पड़ती। वह अपनी ख़राब आर्थिक स्थिति से परिचित था अतः दहेज देने से बचने के लिए उसने करुत्तम्मा का विवाह पलनी जैसे एक अनाथ लड़के से सम्पन्न कर दिया।

3.1.4.06. पैतृक दायित्व और आचरण

एक पिता का यह नैतिक दायित्व होता है कि वह अपने बच्चों के सुखद जीवन और उज्ज्वल भविष्य निर्माण का प्रयत्न करे। करुत्तम्मा का विवाह परीकुट्टी से न करवा पलनी से कराते समय चेम्बन कुंजु ने एक बार भी अपनी पुत्री की भावनाओं के विषय में नहीं सोचा। बल्कि दहेज के पैसे बचाने के लिए अपनी पुत्री का विवाह किसी बराबरी वाले घर में करने के बजाय पलनी जैसे अनाथ युवक से करवा दिया। उसने परिकुट्टी के प्रेम को भी भुनाया। परिकुट्टी को झाँसा दिया और बाद में अपना वचन भी नहीं निभाया। अपनी पत्नी चक्की की मृत्यु के कुछ ही समय पश्चात् उसने पप्पी कुंजु नामक महिला से दूसरा विवाह कर लिया हालाँकि वह जानता था कि उसकी एक अन्य बेटी पंचमी भी है। उसने पंचमी की भी परवाह नहीं की कि इस बच्ची को यदि सौतेली माँ की ओर से कष्ट हो सकता है। पिता के पुनर्विवाह के पश्चात् पंचमी अपने पिता का घर छोड़ बहन करुत्तम्मा और बहनोई पलनी के साथ रहने लगती है। समग्रतः चेम्बन कुंजु का चरित्र एक ऐसे संवेदनाशून्य, गैरजिम्मेदार, लोभी, जिद्दी, झाँसेबाज़, कृपण, झूठे कामी, लज्जाहीन, कमजोर और सामाजिक मान्यताओं की अवज्ञा करने वाले व्यक्ति के रूप में उभर कर सामने आता है जिसके आचार-विचार और नीयत साफ़ नहीं है।

3.1.4.07. करुत्तम्मा का विवाह

करुत्तम्मा की माँ चक्की ने उसे इस बात को अच्छी तरह समझाया कि मछुआरा समाज की प्रथा के अनुसार किसी मछुआरे की बेटी का विवाह उसी समाज के लड़के से हो सकता है, विधर्मी से नहीं। अपनी माँ की आज्ञा मान करुत्तम्मा ने परीकुट्टी के साथ अपने प्रेम को भुलाकर पलनी जैसे एक अनाथ और निर्धन मछुआरे से विवाह किया। विवाहोपरान्त उसने अपने वैवाहिक जीवन के सभी दायित्वों का भी भली-भाँति निर्वहन किया। समय आने पर वह एक बच्ची की माँ भी बन गई।

3.1.4.08. विवाहोपरान्त आगत समस्याएँ

जैसा कि पूर्वोक्त है करुत्तम्मा ने अपने माता-पिता की आज्ञानुसार पलनी नामक निर्धन और अनाथ युवक से विवाह कर लिया था। परन्तु जब उसके और परीकुट्टी के प्रेम की बातें सार्वजनिक होते हैं, तब मछुआरा समाज उसका बहिष्कार करता है और इस कारण पति-पत्नी के सम्बन्ध बिगड़ जाते हैं। करुत्तम्मा कई प्रकार से अपने पति को मनाने का प्रयास करती है। वह यह जताना चाहती है कि परीकुट्टी और उसके बीच जो भी था, वह केवल युवावस्था का आकर्षण था, वर्तमान में उसका जीवन और प्रेम पलनी के प्रति ही समर्पित है। परन्तु पलनी पर तुरन्त इन बातों का कोई अधिक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। समाज पति-पत्नी के बीच अफवाहों की एक गहरी घाई बना देता है फलस्वरूप एक ही छत के नीचे रहकर भी दाम्पत्य सम्बन्धों का माधुर्य नष्ट हो जाता है।

3.1.4.09. दु खद अन्त

विवाह पूर्व अपनी पत्नी के जीवन में अन्य पुरुष के प्रति उसकी आसक्ति और सम्बन्धों के विषय में जाकर खिन्नमना पलनी नाव लेकर सागर में प्रवेश करता है। अस्वस्थ मानसिक स्थिति में वह नाव में खड़े होकर डाँड चलाने लगता है। उसके मन में करुत्तम्मा और परीकुट्टी के प्रेमसम्बन्धों का तूफान चल रहा है। आवेश में उसके हाथ और भी तेजी से चल रहे हैं। शारीरिक रूप से सागर में होते हुए भी उसका ध्यान सागर की ओर नहीं है। बिना सोचे-विचारे वह समुद्र में बिना किसी उद्देश्य के आगे ही आगे बढ़ता चला गया। अचानक उसका सामना एक शार्क से होता है। उस समय भी पलनी अपनी पत्नी करुत्तम्मा को ही याद कर रहा होता है। शार्क उसे अपना शिकार बना लेती है, पलनी की ईहलीला समाप्त हो जाती है।

उपन्यासकार तकषि शिवशंकर पिल्लै के उपन्यास चेम्मीन के कथानक में समानान्तर रूप से ठीक उसी समय करुत्तम्मा और परीकुट्टी के स्नेहात्मक एकीकरण का वर्णन किया गया है। 'पलनी की मृत्यु' और 'करुत्तम्मा-परीकुट्टी के स्नेहात्मक एकीकरण' – इन दोनों घटनाओं का एक साथ निरूपण करना उपन्यासकार द्वारा एक प्रकार से मछुआरों की उस मान्यता की पुष्टि करना है कि "जब कोई मछुआरा समुद्र में हो और उसकी पत्नी परपुरुष से संसर्ग के कारण अपवित्र हो जाए तो कदलम्मा (सागर माँ) उस मछुआरे का जीवन नष्ट कर देती है।" परन्तु यह उपन्यासकार का रचनात्मक कौशल है कि उन्होंने कथानक को एक नया मोड़ देते हुए यह लिखा कि "दो

दिन के पश्चात् आलिंगनबद्ध एक स्त्री और पुरुष के शरीर भी तट पर पाए गए। इस प्रकार से करुत्तम्मा और परीकुट्टी का भी दुखद अन्त हो जाता है।

3.1.4.10. कथानक में निहित नैतिक मूल्य

कथावस्तु के उपसंहार में 'पलनी की मृत्यु' और उसके कारणों को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है। बहुत सम्भव है कि सहृदय पाठकों को यह प्रतीत हो कि उपन्यासकार ने यहाँ समाज के रूढ़िवादी मान्यताओं की पुष्टि की है। परन्तु पाठक को ध्यान में रखना चाहिए कि यह तकषि़ शिवशंकर पिल्लै का श्रेय है कि उन्होंने मलयालम साहित्य में सर्वप्रथम समाज के निम्न वर्ग के जीवन और उनकी मान्यताओं के विषय में लिखने का साहस किया था। सामाजिक मान्यताएँ वास्तविक रूप से सच न भी हों फिर भी अकस्मात् रूप से उनका सच होना भी उनको बल प्रदान करता है। सामाजिक मान्यता में पत्नी के अपवित्र होने से सागर में मौजूद पति की जान को खतरा बताया गया है। परन्तु उपन्यास में पति पलनी के साथ-साथ पत्नी करुत्तम्मा और उसके प्रेमी परीकुट्टी के अन्त का भी वर्णन है। इस प्रकार इस त्रासदी को लेखक ने और भी तीव्रता प्रदान की है। यह पहली नज़र में किसी मान्यता को सत्यापित करके भी उसे नकारना है। उपन्यास कई अन्यायपूर्ण मामलों में समाज की सहनशीलता पर प्रश्नचिह्न भी लगाता है। इनमें सामाजिक नैतिकता का अधिकतर भार महिलाओं पर केन्द्रित होना, समाज का पुरुष-प्रधान स्वभाव, चेम्बन कुंजु का परीकुट्टी को दिये वचन को न निभाना, अन्तर-समुदाय प्रेम और विवाह के प्रति अस्वीकृति, पारिवारिक जीवन में असम्बन्धित व्यक्तियों का हस्तक्षेप और अफ़वाहों को तूल देना शामिल हैं। इन मुद्दों में से कई मुद्दे आज भी सामान्य भारतीय जनता पर उतने ही लागू होते हैं जितने कि इस उपन्यास के लिखे जाने के समय पर थे।

3.1.5. पाठ-सार

प्रसिद्ध मलयालम उपन्यासकार तकषि़ शिवशंकर पिल्लै की विश्व प्रसिद्ध कृति चेम्मीन उपन्यास अपने समय के केरल के मछुआरों के जीवन और उनकी मान्यताओं का वास्तविक रूप से चित्रण करता है। चेम्मीन की वैश्विक लोकप्रियता उसका लोकजीवन से जुड़ा कथानक और सहज सम्प्रेषणीयता है। चेम्मीन के पात्र और उनकी कहानी पाठक को अपने आसपास की सी लगती है। उपन्यास की कथावस्तु सागर में हिचकोले भरकर आगे बढ़ती नाव के समान ही अनेक रोचक तथ्यों और प्रसंगों के उतार-चढ़ाव के साथ क्रमशः विस्तार पाती है। उपन्यास का अन्त त्रासदी के साथ सम्पन्न होता है जो पाठकों को अनेक प्रश्नों पर चिन्तन करने के लिए विवश करता है। उपन्यास का कथानक सामाजिक नैतिक मूल्यों को भी बहस के केन्द्र में खड़ा कर देता है। एक महान् लेखक की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि उसकी कृति में कई बातों के स्पष्ट न कहने पर भी कई सार्थक निष्कर्ष निकाले जा सकें। तकषि़ का यह उपन्यास मलयालम साहित्य में ही नहीं बल्कि विश्व साहित्य में मील का पत्थर है। इसका गहन अध्ययन और विश्लेषण संसार की अन्य प्रसिद्ध साहित्यिक रचनाओं को समझने का मार्ग प्रशस्त करता है।

3.1.6. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. चेम्मीन में वर्णित मुख्य पात्रों का परिचय दीजिए।
2. चेम्बन कुंजु की सबसे प्रबल मनोकामना क्या थी ? और उसकी पूर्ति के लिए उसने क्या किया ?
3. करुत्तम्मा को विवाहोपरान्त किन समस्याओं का सामना करना पड़ा ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. केरल के समुद्री मछुआरों और उनकी सामाजिक मान्यताओं को स्पष्ट कीजिए।
2. चेम्मीन की वैश्विक स्तर पर लोकप्रियता के कारनों को उद्घाटित कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चेम्मीन उपन्यास में वर्णित गाँव केरल के किस जिले में स्थित है ?
   (क) कण्णूर
   (ख) कोल्लम
   (ग) अलप्पुष़ा
   (घ) तिरुवनन्तपुरम

2. करुत्तम्मा की बहन का क्या नाम है ?
   (क) चक्की
   (ख) पंचमी
   (ग) पप्पी कुंजु
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

3. चेम्मीन में सागर की देवी का नाम क्या है ?
   (क) पंचमी
   (ख) करुत्तम्मा
   (ग) चक्की
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. इनमें से पलनी की पत्नी का नाम पहचानिए –
   (क) करुत्तम्मा

(ख)पंचमी
(ग) पप्पी कुंजु
(घ) चक्की

5. इनमें से किसने चेम्बन कुंजु को नाव और जाल खरीदने में सहायता की ?
   (क) परीकुट्टी
   (ख) पलनी
   (ग) मछुआरों का मुखिया
   (घ) पप्पी कुंजु

3.1.7. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. चेम्मीन में मछुआरों के सामयिक चित्रण में तकषि शिवशंकर पिल्लै की शैली और गोदान में किसानों चित्रण में मुंशी प्रेमचन्द की शैली का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. विश्व की किन्हीं दो प्रेमप्रसंगपूर्ण त्रासदी पर आधारित उपन्यासों के साथ चेम्मीन का मूल्यांकन कीजिए।

3.1.8. कठिन शब्दावली

अलप्पुषा	:	केरल का एक जिला
कदलम्मा	:	मछुआरों के मान्यताओं के अनुसार सागर-देवी
शैशवकाल	:	बचपन
पैतृक दायित्व	:	पिता की ज़िम्मेदारियाँ

3.1.9. उपयोगी/सहायक ग्रन्थ-सूची

1. मछुआरे, तकषि शिवश्कर पिल्लै; हिन्दी अनुवाद : भारती विद्यार्थी; साहित्य अकादेमी; 2009.
2. चेम्मीन उपन्यास; एम एच डी - 16, भारतीय उपन्यास; इग्नू (पाठ्य सामग्री).
3. चेम्मीन का मिथक; अयप्पा पणिक्कर; भारतीय उपन्यास विवेचना (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह); एम एच डी - 16, भारतीय उपन्यास; इग्नू (पाठ्य सामग्री); 2013.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/70698/14/14_chapter%208.pdf
2. http://yugmanas.blogspot.in/2013/11/blog-post_13.html
3. https://dignifiedindia.blogspot.in/2016/12/blog-post.html

❖❖❖

खण्ड – 3 : उपन्यास

इकाई – 2 : ओड़िया : महामोह – प्रतिभा राय

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य कथन
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. प्रतिभा राय का व्यक्तित्व एवं रचना संसार
    3.2.2.1. प्रतिभा राय का व्यक्तित्व
    3.2.2.2. प्रतिभा राय का रचना-संसार
3.2.3. 'महामोह' की संक्षिप्त कथावस्तु
3.2.4. 'महामोह' का मूल प्रतिपाद्य
3.2.5. 'महामोह' का विवेचन
3.2.6. प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण
    3.2.6.1. अहल्या
    3.2.6.2. गौतम
    3.2.6.3. इन्द्र
3.2.5. पाठ-सार
3.2.6. बोध प्रश्न
3.2.7. व्यवहार कार्य (प्रायोगिक)
3.2.8. कठिन शब्दावली
3.2.9. सन्दर्भ ग्रन्थ

3.2.0. उद्देश्य कथन

तुलनात्मक भारतीय साहित्य के अन्तर्गत भारतीय भाषाओं की विशिष्ट कृतियों का समावेश अपेक्षित है। इसे ध्यान में रखते हुए ओड़िया साहित्य के उत्कृष्ट उपन्यास 'महामोह' को पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है।

i. इस इकाई में 'महामोह' की लेखिका प्रतिभा राय का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाएगा ताकि उनके सृजन-व्यक्तित्व को जाना जा सके।
ii. 'महामोह' उपन्यास, उसकी केन्द्रीय कथा और पात्रों के चरित्रों को इस इकाई से जाना जा सकेगा।
iii. इस कृति के माध्यम से 'पाप, पुण्य, तप और मोक्ष जैसी संकल्पनाओं को समझा जा सकेगा।
iv. इस इकाई के अध्ययन से उपन्यास की भाषा-शैली, लालित्य का रस-ग्रहण करने में सुविधा होगी।
v. 'महामोह' में अहल्या के माध्यम से स्त्री-संघर्ष को विशिष्ट रूप से परिचय मिलता है।
vi. 'महामोह' में मिथक और वास्तविकता के संगम को व्यक्त करती कला को स्पष्ट देखा जा सकता है।

vii. परम्परागत धारणाओं से हटकर नारी-संवेदना का प्रतिपाद्य कथाशिल्प 'महामोह' में बुना गया है। पात्रों के माध्यम से कालातीत मनुष्य-संवेदना का रूपान्तरण इस महा उपन्यास का उद्देश्य है।

3.2.1. प्रस्तावना

'महामोह' की रचयिता प्रतिभा राय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित हैं। उनकी कृतियों में उनके व्यक्तित्व को देखा जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि उनके परिचय के माध्यम से उनके व्यक्तित्व से रूबरू हुआ जाए।

'महामोह' उपन्यास के कथा-केन्द्र को जानते हुए जीवन के विविध पहलुओं को समझा जा सकता है। पौराणिक पात्रों के माध्यम से मनुष्यों की इच्छा, आकांक्षा और उसकी पूर्ति के लिए शक्ति के प्रयोग के दर्शन इसमें होते हैं। इस उपन्यास की कथा-वस्तु, पात्र, उनके स्वभाव, जीवन-शैली और उद्देश्य तक पहुँचने में यह उपन्यास एक ठोस सन्देश देता है। इस सन्देश तक पहुँचने की दृष्टि इस इकाई द्वारा रेखांकित की जाती है।

नारी के जीवन में आती चुनौतियों से यह उपन्यास साक्षात्कार कराता है। पाप-पुण्य, तप-मोक्ष की संकल्पनाओं को विषय विस्तार के अन्तर्गत देखा जा सकेगा।

डॉ॰ प्रतिभा राय की रचना 'महामोह : अहल्या की जीवनी' आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। इस कृति को पौराणिक कथा से वर्तमान तक उतरना हुआ दिखाने में कृतिकार सफल हुई हैं। यह इस इकाई से स्पष्ट होगा कि पौराणिक कथा का यह पुनर्लेखन न होकर नई स्थितियों की चुनौतियों का लेखा-जोखा है।

भारतीय भाषाओं के इस विशिष्ट उपन्यास का ओड़िया से हिन्दी में अनुवाद डॉ॰ राजेन्द्रप्रसाद मिश्र ने किया है। यह अनुवाद की दृष्टि से भी विशिष्ट कृति है, जिसे अनुवाद के उदाहरण के रूप में भी देखा जा सकता है।

3.2.2. प्रतिभा राय का व्यक्तित्व एवं रचना संसार

3.2.2.1. प्रतिभा राय का व्यक्तित्व

डॉ॰ प्रतिभा राय ओड़िया की लब्ध-प्रतिष्ठ रचनाकार हैं। अब वे ओड़िसा तक सीमित न रहकर भारतीय भाषाओं की महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं। प्रतिभा राय का जन्म ओड़िशा में जगतसिंह पुर (पुराना कटक) जिले के अन्तर्गत तटवर्ती क्षेत्र अलाबोल में 21 जनवरी, 1943 को हुआ। उन्होंने रेवेशा कॉलेज, कटक से विज्ञान में स्नातक की उपाधि प्राप्त की। बाद में शिक्षा मनोविज्ञान में एम.एड. और पीएच.डी. हासिल की।

डॉ॰ प्रतिभा राय के पिता गाँधीजी के अनुयायी परसुराम दास अपनी बेटी को डॉक्टर और कवयित्री के रूप देखना चाहते थे। परन्तु, स्कूली जीवन से प्रतिभा राय ने लेखिका बनने का सपना संजोया था, न कि डॉक्टर

बनने का। इसलिए मेडिकल कॉलेज छोड़कर उन्होंने अपनी विज्ञान की पढ़ायी जारी रखी। स्नातक होते ही उनका विवाह हो गया। बाद में, पीएच. डी. की उपाधि हासिल करते हुए उन्होंने सबसे पिछली जनजाति बोंदो की विशेषताओं के विषय पर उत्तर शोध-कार्य किया।

उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भिक कालखण्ड में स्कूल शिक्षिका के रूप में सेवाएँ दीं। उसके बाद वे तीस वर्षों तक विभिन्न सरकारी कॉलेजों में अध्यापन-कार्य करती रहीं। 1998 में, ओड़िशा राज्य की सरकारी सेवा से उन्होंने स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति ले ली। बाद में उन्होंने ओड़िशा राज्य लोक सेवा आयोग की सदस्या के रूप में कार्यभार ग्रहण किया। उन्होंने शिक्षा और प्रशासन दोनों ही क्षेत्रों में अपनी योग्यता और निष्ठा का प्रमाण तो दिया ही, साथ ही, अपनी छाप भी इन दोनों क्षेत्रों पर छोड़ी। वे पेशे से शिक्षिका और मन से लेखिका के रूप में सुविख्यात रही हैं।

डॉ॰ प्रतिभा राय के साहित्यिक-योगदान के लिए उन्हें विभिन्न साहित्यिक सम्मान से विभूषित किया गया है। उन्हें अपने कहानी-संग्रह 'उल्लंघन' के लिए वर्ष 2000 के प्रतिष्ठित साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया। 'याज्ञसेनी' उपन्यास के लिए उन्हें भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा वर्ष 1991 में 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' प्रदान किया गया। डॉ॰ प्रतिभा राय 2007 में 'पद्मश्री' से अलंकृत हुईं और उन्हें 'भारतीय ज्ञानपीठ का वर्ष 2011 का सम्मान प्रदान किया गया। साथ ही, विभिन्न संस्थाओं द्वारा उन्हें सम्मान-पुरस्कार प्राप्त हुए और उन्होंने देश-विदेश की व्यापक साहित्यिक यात्राएँ कीं। यथार्थपरक लेखन करते हुए वे आदर्श मनुष्य के निर्माण में सक्रिय रहीं हैं।

3.2.2.2. प्रतिभा राय का रचना-संसार

कथाकार के रूप में प्रतिभा राय का रचना-संसार बहुत व्यापक और विशिष्ट है। उनकी रचनाओं में समता, प्रेम, शान्ति और एकता के आधार पर एक उत्कृष्ट समाज की निरन्तर खोज रहती है। उनका पहला उपन्यास 1974 में 'वर्षा, बसन्त, बैशाख' शीर्षक से आया, जिसे पाठकों ने बहुत सराहा। उनकी भाषा, शैली, कल्पना और यथार्थ-आधारित कथा-सूत्रों ने पाठकों के हृदय पर अधिकार जमा लिया। फिर उन्होंने अपनी सृजन-यात्रा को कभी विराम नहीं दिया। परिणामस्वरूप उनके साहित्य-संसार में लगभग हर वर्ष एक नई कृति ने प्रवेश किया।

प्रतिभा राय के अब तक 22 उपन्यास, 26 कथा-संग्रह, 2 कविता संग्रह, 10 यात्रा-वृतान्त, 3 निबन्ध-संग्रह, 10 बाल-साहित्य, 8 नवसाक्षर साहित्य, 1 पुस्तक अंग्रेजी में (कुंतला कुमारी साबात) और 1 आत्मकथा (पद्मापत्र रे जीवन) प्रकाशित हैं। कृतियों की संख्या ने उम्र के वर्षों को पार कर लिया है। कुल 81 कृतियों की उन्होंने रचना की है। उनकी कृतियों का हिन्दी सहित कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

प्रतिभा राय के लेखन में व्यापक विविधता के दर्शन होते हैं। बोंदो पठार निवासियों की जीवन-शैली का उनका गहन अध्ययन कई कृतियों में उभरकर आया है। 'आदिभूमि' उपन्यास में बोंदो आदिवासी जीवन के सहज दर्शन होते हैं। कहानी-संग्रह 'भगवांर देश' में भी आदिवासी जीवन को मुखरित होते देखा जा सकता है। जीवन व

मृत्यु के बीच मनुष्य की नियति को उन्होंने 'मग्नमाटी' में उकेरा है, जो ओड़िशा में आए महाचक्रवात से उत्पन्न विनाशलीला का बयान है। उन्होंने सामान्यतः आम लोगों, आदिवासियों, पिछड़े, उपेक्षित पात्रों का सामाजिक और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण सार्थक रूप से किया है। दमनकारी व्यवस्था, नैतिक मूल्यों का ह्रास, बढ़ती भौतिकता और उपभोक्तावाद, अकेला होता मनुष्य और असामाजिक तत्त्वों का हावी होते जाना उनके चिन्ता के विषय रहे हैं, जो उनकी कहानियों-उपन्यासों में परिलक्षित होते हैं।

इतिहास और पुराकथाओं ने प्रतिभा राय का ध्यान बहुत तीव्रता से आकर्षित किया है। परिणामस्वरूप 'कोणार्क' उपन्यास में विश्वप्रसिद्ध सूर्यमन्दिर की दन्तकथाओं को नये आयामों के साथ उजागर किया गया। इसी तरह महाभारत की प्रमुख नायिका 'द्रोपदी' पर उनका उपन्यास केवल पुनर्लेखन नहीं, बल्कि नारी-शक्ति की पुनर्रचना है। प्रतिभा राय सामाजिक, सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पैरवी अपनी हर रचना में करती रही हैं।

प्रतिभा राय का लेखन यथार्थ की ठोस धरातल पर आधारित होता है, मात्र कल्पना की उड़ान नहीं होती। ओड़िशा की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत की झलक उनकी विभिन्न कृतियों में मिलती है। वे पारम्परिक शैली में भी अपनी अलग पहचान छोड़ जाती हैं। समाज-सुधार में उनकी गहरी रुचि होने के कारण उनकी कृतियों में संघर्ष, रूढ़ियों का विरोध, अन्ध-विश्वासों पर प्रहार सहज ही विद्यमान है। अपनी सशक्त रचनाओं के माध्यम से वे मानवतावादी विचारों की रक्षा के लिए पैरवी करती दिखाई देती हैं।

उनका महत्त्वपूर्ण उपन्यास महामोह है। यह वैदिक संस्कृति पर लिखित विशिष्ट कृति है। पौराणिक कथाओं में कुछ पात्रों पर अन्याय होने लगते हैं या गलत धारणाओं के चलते प्रस्तुतीकरण में कोई विसंगति उन्हें लगी तो उन्होंने बड़ी दृढ़ता से अपनी बात रखी। 'महामोह' की मुख्य पात्र अहल्या के बारे में उन्होंने अपना मत बहुत सजहता से, पर प्रचलित आख्यान से हटकर नये रूप में प्रस्तुत किया है। वे मिथकों पर छायी धूल, धुआं और भ्रामक आवरणों को हटाकर एक स्पष्ट, साफ-सुथरी और सत्यात्मक मूर्ति की स्थापना करती हैं। परिणामस्वरूप पात्र लेखक के काल्पनिक नियन्त्रण में न रहकर अपना जीवन आप संचालित करते हैं। यह किसी भी रचनाकार का बहुत बड़ा गुण है कि वह अपने पात्रों को खुली हवा में साँस लेकर अपना अस्तित्व स्वयं निर्धारित करने के लिए स्वतन्त्र कर दें। 'महामोह' में, अपनी कथाकृति को ठोस और पारदर्शी रूप सौंपकर वे आधुनिक स्त्रीत्व के बारे में साहसपूर्ण और स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण अहल्या के माध्यम से करती हैं।

प्रतिभा राय की कहानियाँ भी उनके चिन्तन की प्रतिनिधि हुआ करती हैं। उनके पात्र जीवन्त और हमेशा ही समकालीन रहते हैं। उनकी अपनी एक कहानी 'मोक्ष' पर फिल्म बनी, इस फिल्म को संस्कृति विभाग, ओड़िशा सरकार का सर्वश्रेष्ठ फिल्मकथा पुरस्कार प्रदान किया गया। भारत सरकार ने 1996 में 'मोक्ष' को सर्वश्रेष्ठ क्षेत्रीय फिल्म पुरस्कार से सम्मानित किया।

3.2.3. 'महामोह' की संक्षिप्त कथावस्तु

डॉ॰ प्रतिभा राय ने 'महामोह : अहल्या की जीवनी' उपन्यास को आत्मकथा शैली में प्रस्तुत किया है, जिसकी संक्षिप्त कथावस्तु निम्नानुसार है –

अहल्या कथा के केन्द्र में है। अहल्या सौन्दर्य का प्रतीक है। 'अहल्या' यानी जो कुरूप, अशोभा, निंद्य नहीं है अर्थात् अत्यन्त सुन्दरता की धनी है। वह सौन्दर्य में अद्वितीय दिव्य है, साथ ही, विदुषी है। आत्म-सम्मान से पूरित है। उसके सौन्दर्य और प्रज्ञा को ध्यान में रखकर उसे बचपन से इन्द्रयोग्या कहा जाता रहा।

दूसरे मुख्य पात्रों में देवराज इन्द्र और वैदिक ज्ञान के चूड़ामणि गौतम, ब्रह्मा, वाल्मीकि, राम-सीता, नारद, रत्नाकर विश्वामित्र, प्रथा आदि हैं। जबाला दासी और उसके पुत्र सत्यकाम की उपस्थिति भी महत्त्वपूर्ण है, जो सामाजिक दृष्टि से कई प्रश्न उपस्थित करती है। वर्ण-व्यवस्था और शोषण के पहलू को भी इस उपन्यास की कथावस्तु में समेटा गया है।

अहल्या का हमेशा ही विचार रहा कि वह इन्द्र, जैसे पुरुष को पाने का अधिकार रखती है, क्योंकि वह सुन्दर है, विदुषी है और सूझ-बूझ के कारण सर्वश्रेष्ठ को पाने की हकदार है। अहल्या इन्द्र के वलय से चमत्कृत है और वायवी रूप में उसके मोह में है। परन्तु, उसका विवाह गौतम से हो जाता है, जिसकी देखरेख में वह विकसित होती है। दोनों के बीच उम्र का बहुत अन्तर है। गौतम 'ब्रह्मर्षि' बनने की चाह में अहल्या से विमुख ही रहता है। साधु-सन्तों जैसा एकान्त जीवन अहल्या के भाग्य में लिखा था। अहल्या अपने सौन्दर्य से, यौवन और कामोत्तेजना से भी गौतम को गृहस्थ जीवन में नहीं खींच पाती। गौतम अपने अहंकार में अहल्या की उपेक्षा करता है। अहल्या अपने दाम्पत्य जीवन, काम, शारीरिक सुख, भोग को लेकर बहुत परेशान हो जाती है। कालान्तर में उसकी माँ बनने की प्रबल इच्छा गौतम को अपनी ओर खींच लाती है। परन्तु, गौतम को केवल पुत्र चाहिए, पुत्री नहीं। तीन पुत्रों के बाद जब अहल्या फिर गर्भ-धारण करती है और अनुमान किया जाता है कि इस बार पुत्री होगी तो भ्रूण को औषधि से समाप्त करने का प्रयत्न होता है। शिशु गर्भ में ही मर जाता है। ऐसे में अहल्या और गौतम का विवाद चरम पर होता है। इन्द्र की मदद से अहल्या के प्राण बच जाते हैं। तबसे गौतम इन्द्र के प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है। अहंकारी होने के साथ वह शंकालु भी है। ऐसे में अहल्या अपने अस्तित्व के लिए अधिक सचेत और मुखर हो जाती है। एक दिन बहुत भोर में जब गौतम स्नान के लिए नदी की ओर जाता है, तब इन्द्र अहल्या के कक्ष में पहुँचता है। बचपन से ही सौन्दर्यवती होने के कारण अहल्या को इन्द्रयोग्या कहा जाता था। इन्द्र के मोह में वह पहले से ही थी। इन्द्र भी उसे प्राप्त करना चाहता था। एक ऐसा अवसर आता है, जब इन्द्र अहल्या को प्राप्त कर लेता है। अहल्या अपने आपको सौंप देती है। दरअसल अहल्या के पूरे संघर्ष का यही मोड़ है।

बाद में, शाप, अभिशाप, पाप, ताप, तप और मोक्ष का लम्बा आख्यान शुरू होता है। इस आख्यान में सब सम्मिलित होते हैं। विश्वामित्र, गौतम, अहल्या और राम के बीच होते सही-गलत के विवाद द्वू तक जीवन की तमाम मान्यताओं, परम्पराओं और लोकाचार को झिंझोड़ते रहते हैं। और अहल्या स्त्री-अस्मिता को लेकर

अपने निर्णयों पर अडिग दिखाई देती है। अन्त में, पाप-पुण्यर, तप-ताप जैसे दर्शन पर अहल्या और गौतम के बीच दीर्घ वार्तालाप होता है। अहल्या कुछ नहीं छिपाती उसकी स्त्री पहले से कहीं अधिक दृढ़ हो गई है। फिर देह, सौन्दर्य, आत्मा और मोक्ष के लम्बे आख्यानों के बीच गौतम अहल्या को अपने 'पाप' का फल अकेले भोगने के लिए वर्षों जड़वत् पड़े रहने का अभिशाप देता है। सहस्र वर्षों तक तिल-तिल यातना सहने का अभिशाप की अहल्या भागीदार बन जाती है। अन्त में, राम के स्पर्श से अहल्या शापमुक्त हो पाती है।

प्रतिभा राय ने इस पौराणिक कथा का आख्यान बहुत भव्य रूप में किया है। अहल्या द्वारा अपनी दैहिक इच्छाओं के चलते जो साहसिक अभिव्यक्ति दी है, उससे स्त्री होने की उसकी मान-मर्यादा पर कोई आँच नहीं आती। प्रतिभा राय उपन्यास के प्रारम्भ में अपने पुरोवाक् में कहती हैं – "आज भी जातिगत, वर्णगत, लिंगगत विद्वेष और उनसे उपजे उत्पीड़न, रक्तपात और संघर्ष हो रहे हैं। अब भी अहल्याएँ बलि चढ़ रही हैं, पुरुष के अहं एवं अभीष्ट यज्ञ में। अब भी इन्द्रगण अहल्या के बदले अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। तो फिर अहल्या किस युग की है – वैदिक, पौराणिक या वर्तमान ?" (महामोह, पृ. 10) प्रतिभा राय ने पौराणिक कथा को नया कथानक रूप देकर स्त्री की अन्तर्कथा कहने की सार्थक कोशिश की है।

3.2.4. 'महामोह' का मूल प्रतिपाद्य

'महामोह' स्त्री की परम्परागत अवधारणा की नयी मूल्य-संरचना में एक अद्वितीय रूपान्तरण है। इस उपन्यास को केवल नारी समस्या की दृष्टि से देखा जाना ठीक नहीं है। उसमें वर्णित तत्कालीन समस्याओं की प्रासंगिकता को भी रेखांकित किया जाना चाहिए। यथा – उस युग में भी आज की तरह किसी भी आयोजन में बड़े लोगों (तथाकथित) को मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित करना गौरव की बात समझी जाती थी, फिर चाहे वह व्यक्ति भ्रष्ट, चरित्रहीन और दुराचारी ही क्यों न हो। गौतम जैसे त्रिकालदर्शी महर्षि भी अपने पवित्र यज्ञ आयोजन में इन्द्र सरीखे जगप्रसिद्ध लंपट, कामुक, भोगविलासी, व्यभिचारी, दुराचारी, मदिरासेवी, और भ्रष्ट देवप्रमुख को आमन्त्रित कर स्वयं को धन्य समझते हैं। इतना ही नहीं, इन्द्र के आश्रय प्रवास के दौरान उनके स्वागत-सत्कार का दायित्व वे अपनी सहधर्मिणी अहल्या को सौंपते हैं। और उन्हें गौतम निर्देश देते हैं कि "इन्द्र हमारे विशिष्ट अतिथि हैं, उनके सत्कार में कोई कमी न रहे।" यह प्रवृत्ति आज भी कई महत्त्वाकांक्षी युवकों / दम्पत्तियों में देखी जा सकती है। गौतम को भली-भाँति विदित है कि इन्द्र अहल्या के प्रति कुदृष्टि रखता है। और दूसरी ओर अहल्या भी अपने कैशोर्य-काल से ही इन्द्र के रूप और वैभव के प्रति आसक्त है, तथापि वह उसी को यह दायित्व सौंपता है। मानो इन्द्र से अपने आश्रम के लिए अधिकाधिक अनुदान प्राप्त करने के लिए कोई कोर-कसर नहीं छोड़ना चाहता। आशातिरेक और उसके लिए किए गए समझौते की किसी भी हद तक गुजर जाने का व्यवहार आज के युवाओं के मनोमस्तिष्क में भी घर कर चुका है। इस तरह की तत्कालीन सामाजिक समस्याओं की प्रासंगिकता का महामोह में पूर्ण परिपाक हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस उपन्यास के केन्द्र में अनमेल विवाह की समस्या भी है। गौतम उम्र की दृष्टि से अहल्या के योग्य न थे। अहल्या तो गौतम की शिष्या थी। जब वह ग्यारह वर्ष की थी, तब विद्योपार्जन हेतु उसने गौतम के आश्रम में

प्रवेश लिया था। पाँच वर्ष तक अध्ययन करने पर जब उसकी शिक्षा सम्पन्ना हुई तब अपने पिता के आग्रह पर सोलह वर्ष की किशोरी अपने से तीन गुना अधिक वय के अधेड़ के साथ विवाह करने को मजबूरन सहमत हुई। यद्यपि मन-ही-मन वह विगत पाँच वर्ष में अनेक अवसरों पर गौतम के आश्रम में आमन्त्रित देवराज इन्द्र के आकर्षक रूप और भव्य वैभव के प्रति अनुरक्त थी। अनिच्छापूर्वक और अनमेल विवाह होने के कारण उसका मन कभी भी गौतम से गहरे न जुड़ सका था। दूसरी ओर इन्द्रभी प्रारम्भ से ही अत्यन्त रूपसी ऋषि कन्या अहल्या पर लोलुप दृष्टि गड़ाए था। अहल्या इन्द्र की दृष्टि और इच्छा से अपरिचित न थी। सारांशतः बेमेल विवाह होने से अहल्या-गौतम के वैवाहिक जीवन में कभी मधुरता नहीं रही। 'महामोह' के माध्यम से विदुषी लेखिका प्रतिभा राय इस सामाजिक समस्या को उभारने में पूरी तरह सफल हुई हैं। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद ने भी 'सेवासदन' और 'निर्मला' में इसी समस्या को रेखांक्ति किया है। क्या प्रेमचंद के विचार-सागर में कहीं 'अहल्या' की लहर आई होगी !

'महामोह' की एक और महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय विशेषता स्त्री सशक्तीकरण का पुरजोर समर्थन है। अहल्या अपने अधिकारों के प्रति सचेष्ट है। इन्द्र-अहल्या घटनाक्रम के पश्चात् गौतम का सामना होने पर प्रतिभा राय की अहल्या, तुलसी की अहल्या की भाँति अपराध-बोध से ग्रसित नहीं है, और न ही वह नरेन्द्र कोहली की अहल्या की तरह विवश, दयनीय और लाचार है। वह स्त्री-मुक्ति की अग्रदूता है। शर्मसार होने कीबजाय उलटे वह गौतम से ही प्रश्न करती है कि "यदि शरीर और आत्मा में आत्मा का सौन्दर्य ही सत्य है तो जीवनभर इस पाठ को पढ़ाने के बावजूद क्यों स्वयं गौतम ने रूप के प्रति आकर्षित हो अपने से तीन गुना छोटी अवस्थावाली किशोरी से विवाह करने का व्यूह रचा। क्या यह कथनी और करनी में भेद नहीं है !"

अहल्या का सचाई के बारे में बयान उसके स्त्री के आत्माभिमान को अधिक बलवान् बना देता है। इसके बाद उसे मिलने वाला दण्ड और रामचन्द्र द्वारा उसका उद्धार की प्रतिभा राय व्यापक पुनर्व्याख्या करती हैं।

3.2.5. 'महामोह' का विवेचन

'महामोह का उद्देश्य' पुराण-कथा को दुहराना कतई नहीं है, बल्कि युगों-युगों से स्त्री की अस्मिता, इयत्ता पर पुरुष वर्चस्व का बयान है। आधार पुराने पात्रों का है, पर सम्बोधन वर्तमान और भविष्य की नारी की स्थिति पर है। संघर्ष नारी की नियति है। यदि वह स्वाभिमानी है, बुद्धिमती है, सौन्दर्यवती है, उचित-अनुचित का भेद कर सकती है और मुखर भी है, तो उसका संघर्ष कई गुना बढ़ जाता है। समाज की सारी मान्यताएँ, नियम, रूढ़ियाँ आदि को परम्परा का जामा पहनाकर पुरुष, स्त्री पर लाद देता है। ऐसे में तमाम संघर्षों को पार करते हुए, विरोध-प्रतिरोध का दृढ़-संकल्प लिए अहल्याएँ उठ खड़ी होती हैं। सबसे श्रेष्ठ कथा-साहित्य वह हो सकता है, जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक किसी न किसी पात्र की स्थिति में स्वयं को पाता है और अपने भीतर परिवर्तन की सुगबुगाहट अनुभव करता है। 'महामोह' को पढ़ते समय इक्कीसवीं सदी के पाठक यह अनुभव करते हैं और भविष्य के पाठक भी इसकी अनुभूति अवश्य पाएँगे।

डॉ॰ प्रतिभा राय ने पाप, ताप, तप और मोक्ष का बहुत सार्थक विश्लेषण किया है। बहुत गहराई और व्यापकता से इसके सन्दर्भों और परिणामों की व्याख्या की है। उनका विश्लेषण अहल्या के मन्तव्य के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण हो उठा है। जीवन के उतार-चढ़ाव, सुख-दुख, हार-जीत उत्कर्ष-अपकर्ष, मिलन-विरह, पाप-पुण्य पर उनकी टिप्पणियाँ बहुत सटीक हैं। वे कहती हैं – 'सुख या दुख, पाप या पुण्य, नर्क या मोक्ष ? जीवन केवल पाप नहीं है, न ही केवल तप है। मोक्ष का अर्थ मनुष्य से देवता बनना नहीं, न ही मर्त्य-लोक से स्वर्ग-लोक की यात्रा है। ऐसा मोक्ष स्वार्थपूर्ण होता है। पाप, ताप, तप और मोक्ष ही जीवन एवं मर्त्यभूमि है इन सबकी साधना-भूमि। अतः अहल्या ने स्वर्गारोहण नहीं किया। वह मर्त्यलोक की नारी है, मर्त्यलोक ही है उनकी साधना और सिद्धि-भूमि।' (महामोह, पृष्ठ 9)

'पाप' की संकल्पना का लेखिका ने विस्तार से निरूपण किया है। उनका मन्तव्य है, जिस प्रकार मृत्युहीन जीवन असम्भव है, उसी तरह पापहीन जीवन भी असम्भव है। अहल्या के माध्यम से इसकी विस्तृत चर्चा हुई है। अहल्या ही प्रथम पुरुष में अपने विचार, संघर्ष, चुनौतियों और समग्र जीवन को इस कृति में व्यक्त कर रही है। वह कहती है – "यदि मैं जीना चाहती हूँ तो हर क्षण मुझे किसी न किसी बहाने मरना होगा। .... हर क्षण पाप की ज्वाला से पिघलने की आवश्यकता पड़ती है। जीवन पुण्य के बिना सम्भव है, किन्तु पाप के बिना कहाँ ?" पाप के तमाम स्वरूपों की चर्चा यहाँ है। यह नहीं कि उसकी कोई पैरवी की गई हो, पर इस संसार में अधिकांश लोग जीते हुए अपने सपनों, इच्छाओं, सुखों, अधिकारों और सत्ताओं के लिए रोज यत्न करते हैं। ..... मनुष्य सुख पाने की आशा में पाप करता है, पर भोगता दुःख ही है। पाप के डैनों पर दुःख और अन्तर्दाह जो बैठे होते हैं, यह बात भला पाप करने से पहले किसे मालूम होती है। ..." (महामोह, पृ. 15)

डॉ॰ प्रतिभा राय ने बहुत तीव्रता से 'महामोह' में यह सार्थक कोशिश की है कि हमारे पुरुष-प्रधान देश में स्त्रियों को देवी बनाने की प्रक्रिया बहुत सरल कर दी गई है। उसे यानी स्त्री को मनुष्य की तरह जीने के अवसर नहीं के बराबर हैं। उसका शोषण, सुनियोजित रूप से निरन्तर किया जाता रहा है। इसके लिए प्रथाओं और सामाजिक मान्यताओं का आवरण चढ़ाकर युग-युग से जीवित रखा जाता है। अहल्या अपने पति से कहती है – "नारी की हत्या करना शास्त्रों में महापाप माना गया है, जिलाए रखकर शोषण करना पाप नहीं है – शोषित, लांछित, सतायी हुई नारी की सहनशीलता, विनम्रता से ही उसका बड़प्पन प्रभावित होता है। इसलिए समाज नारी को यातना देकर मानव से देवी बनाता है। प्रतिभा राय ने नारी की स्वतन्त्रता और उसकी स्थिति का व्यापक ऊहापोह किया है। साथ ही, समस्त मानव, देव, राक्षस के गुणों-अवगुणों को रेखांकित करते हुए स्त्री की असहायता का विवेचन किया है।

'महामोह' केवल अहल्या पर केन्द्रित नहीं है। केन्द्र में अहल्या तो है पर उपन्यास में सामाजिक स्थिति को भी उजागर किया गया है। एक प्रसंग जबाला और सत्यकाम का है। यह प्रश्न दासी का है जिसे "मालिक जैसा चाहेंगे, उसे उसी तरह काम में लगाएँगे।" ऐसी स्थिति में जबाला अलग-अलग ऋषियों के यहाँ सेवाएँ देती है। कालान्तर में उसे सत्यकाम नामक पुत्र होता है, जिसे अवैध या वर्ण-संकर घोषित कर शिक्षा से वंचित रखा जाता है। परन्तु, अहल्या की पहल पर उसे किसी तरह प्रवेश मिल जाता है। अहल्या की चिन्ता यह है कि दासी-स्त्री की

इस स्थिति के लिए जिम्मेदार कौन है ! इस कृति में तथाकथित भद्र समाज द्वारा विवश स्त्रियों के शोषण और दमन को भी उजागर किया गया है। अहल्या स्वभाव से ही भीतरी विद्रोह को अनुभव करती है। चाहे वह उसकी अपनी व्यक्तिगत बेड़ियाँ हों या आसपास जबाला जैसी दासी पर कसते बन्धन हों। वह निरन्तर सोचती है – "रिश्ते जब बेड़ियाँ बन जाते हैं, तभी वे रिश्ते टूटते हैं, बन्धन टूटते हैं। बेड़ियाँ तोड़ना मनुष्य का सहज स्वभाव है।"

अहल्या बहुत गहरे आत्मनिरीक्षण कर यह पाती है कि हमारे कर्म यदि अनुचित हैं तो वे दुःखों के कारण बन ही जाते हैं। इसीलिए उसकी प्रतिक्रिया उभरती है कि "यदि काम्या-कर्म सही न हो ..... वह अनन्त दुःखों को बुला लाता है, मैं स्वयं इसका प्रमाण हूँ। सम्भवतः इसलिए न तो मैं गौतम को पा सकी और न ही इन्द्र को। गौतम और इन्द्र ने भी मुझे पाकर पुनः खो दिया।" (महामोह, पृ. 347)

अहल्या एक अत्यन्त संवेदनशील व्यक्तित्व है। वह कठोर नहीं। सहजता उसकी सोच में है। 'टूटना और थामना' के बीच वह बहती रहती है। वह देह की सत्ता से ऊपर आत्मीय प्रेम में डोलती है। उसमें उसे अपने प्रति ग्लानि नहीं है। वह निरपेक्ष होकर अपने किये के प्रति निर्द्वन्द्व हो जाती है। कोई पापबोध नहीं। द्वन्द्वमुक्त; न वह गौतम की न ही इन्द्र की .... आत्मा-शरीर, पवित्र-अपवित्र की संकल्पनाओं से बहुत आगे निकल जाती है – अहल्या। फिर वही हुआ – शाप की भागीदार। सब कुछ भस्म। अहल्या एकाकी। 'तप' अध्याय में उसकी सारी मनोभावनाओं का व्यापक और सुन्दर चित्रण किया गया है। 'मोक्ष' तक पहुँच कर अहल्या और दृढ़ हो जाती है। उसका अपना चिन्तन, उसके अपने तर्क उसके व्यक्तित्व को और मजबूत करते हैं। वह नियमों के बने-बनाए ढाँचे को ठुकराती है। उसने अनुभव किया, "मेरे भीतर कोई कह रहा है कि मनुष्य को परम उपलब्धि प्राप्त होती है श्रद्धा और सदिच्छा से। घृणा, प्रतिहिंसा और हताशा से उपलब्धि नहीं मिलती। यदि मिलती भी है तो वह मोक्ष नहीं है।" (महमोह, पृ. 386)

3.2.6. प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण

3.2.6.1. अहल्या

अहल्या ब्रह्मा की पुत्री है। पिता के प्रभाव से वह वेदमती है। वह सौन्दर्यवती है। उसका जीवन ऊहापोह से भरा हुआ है। वह जीवन की तमाम चुनौतियों को स्वीकार करती हुई अपनी दृढ़ता से आगे बढ़ती है। 'महामोह' की वह मुख्य पात्र है। सारी कथा उसी के आसपास घूमती है। लेखिका ने उसी की आत्मकथा के रूप में उपन्यास की बुनावट की है। अहल्या ने जबसे अपने बारे में जानना शुरू किया तबसे वह अपने सौन्दर्य को इन्द्रयोग्या सुनती आई है। उसे अपनी सुन्दरता और विद्वता का अहसास है। वह इन्द्र के वैभव और व्यक्तित्व से मोहित है। परन्तु, बहुत छोटी उम्र में उसका विवाह अपनी उम्र से तीन गुना बड़े अपने ही शिक्षक गौतम से हो जाता है। मन में इन्द्र है और विवाह गौतम से होता है। यहीं से उसकी संघर्ष-यात्रा शुरू होती है। उसका दाम्पत्य जीवन बहुत दुःखमय है।

चूँकि सम्पूर्ण कथा अहल्या के इर्द-गिर्द आत्मकथा के रूप में घूमती है, तो यह आवश्यक ही है कि सारे दृश्य अहल्या द्वारा दिखाए जाते हैं। गौतम तो विद्वान् हैं, पर गृहस्थी के मोर्चे पर बहुत उदास और निरपेक्ष है। वह केवल तप में लीन हैं ताकि 'ब्रह्मर्षि' का आसन प्राप्त कर सके। अहल्या अपने आपको बहुत उपेक्षित पाती है। उसका मन इन्द्र के वलय में समा चुका है। वह विदुषी है। इसलिए भले-बुरे, पाप-पुण्य, अपराध-दण्ड, तप-ताप, स्वर्ग-नर्क की तमाम संकल्पनाओं और लोक-परलोक की स्थितियों को खूब समझती है। लेखिका ने अहल्या के माध्यम से जीवन-दर्शन को खूब मथा है। अहल्या पाप, पुण्य, तप और मोक्ष का विस्तृत विवेचन करती है। जहाँ वह अपनी चूक पाती है, स्वीकार करती है। स्वयं को अपराधी घोषित करती है और पत्थर रूप हो जाने के शाप से ग्रस्त होने के दण्ड की भागीदार बनती है। राम के स्पर्श से शाप-मुक्त होती है। अहल्या स्वाभिमानी है, साहसी है, विदुषी है और अपनी अभीप्सा को कभी छिपाती नहीं। दण्ड से घबराती नहीं और अपनी तरह जीवन जीने के लिए वह अपना सर्वस्व होम कर देती है। शोषित-पीड़ित नारियों के पक्ष में उठ खड़ी होती है। अहल्या नारी-अस्मिता के प्रतीक के रूप में उपन्यासभर में विचरण करती है।

3.2.6.2. गौतम

गौतम तपस्या को समर्पित हैं, उनकी अपनी शिष्या अहल्या से उनका विवाह हो जाता है, जो लगभग पन्द्रह वर्ष की है और गौतम उससे तीन गुनी बड़ी उम्र के प्रौढ़ हैं। गौतम 'ब्रह्मर्षि' बनने की प्रक्रिया और समर्पण में अहल्या की उपेक्षा करता है, गृहस्थी से मुँह मोड़ लेता है। 'तप' से पूरित उसका व्यक्तित्व अहल्या के सौन्दर्य की अवहेलना करता है। उसकी इस उपेक्षा से अहल्या आहत होती है। अहल्या के रूप, विद्वत्ता, आकर्षण और उसकी भावनात्मक तड़प की ओर गौतम का ध्यान नहीं जाता। अहल्या की देहसत्ता को गौतम ने अभी तक स्वीकृति नहीं दी थी। विद्वत्ता तो गौतम के पास अपरम्पार थी, पर वह उतना सुदर्शन नहीं था। साथ ही, कामभोग के लिए शरीर-सुख को पाप मानता था। कालान्तर में तीन पुत्रों की प्राप्ति के बाद भी पुत्र ही उत्पन्न हो यह कामना उसके मन में थी। पर जैसे ही यह आभास हुआ कि पुत्री होगी, तो औधषि से भ्रूण-हत्या का भागीदार बन जाता है और अहल्या के प्राण खतरे में पड़ जाते हैं। इन्द्र की कृपा से अहल्या के प्राण बच जाते हैं। पर अब गौतम और इन्द्र के बीच एक अदृश्य भेद की रेखा खिंच जाती है। उधर अहल्या को लगता है कि गौतम केवल उसके कन्याभ्रूण का हत्यारा ही नहीं बल्कि उसके सुकोमल सपनों का व्याध भी है।

अहल्या और गौतम के दाम्पत्य जीवन में एक चौड़ी दरार पैदा हो जाती है। गौतम अपने हितों के लिए इन्द्र से मदद चाहता है। यह जानते हुए भी कि इन्द्र दृष्टि अहल्या पर लुब्ध है, फिर भी अनुदान पाने के लिए वह इन्द्र की आवभगत और सेवा करने के लिए अहल्या को सौंप देता है। गौतम के विरुद्ध एक मौन और कभी मुखर असंतोष अहल्या के मन में सुलगता रहता है। समय-समय पर गौतम और अहल्या के बीच पाप, तप, मोक्ष पर अन्तहीन बहस, चर्चा होती रही और गौतम से अहल्या छिटकती गई।

गौतम की मान्यता है कि भोग अनन्त दुखों का कारण है। भोग से आत्मतेज मलिन पड़ जाता है। गौतम, अहल्या के सम्बन्ध में इन्द्र की नीयत को लेकर सदा ही सशंक रहता। एक दिन भोर में स्नान करने नदी की ओर

गया। लौटकर अनुभव किया कि इन्द्र वेश बदलकर कमरे में था। पूछने पर अहल्या ने निर्द्वन्द्व हो हामी भरी। गौतम सिर्फ पति था, प्रेमी नहीं। क्रोध में उसने अहल्या के पत्नीत्व का अधिकार समाप्त कर दिया, अक्षम्य अपराध घोषित कर दिया, क्योंकि अहल्या को इस बात का अहसास था कि देहभोग के समय पति नहीं, इन्द्र ही था। अभिशाप में अहल्या शिला में ढल गई। बाद में, राम के स्पर्श से अहल्या के जीवन का उद्धार हुआ। गौतम ने भी राम के दर्शन किए। गौतम ने अन्ततः अहल्या को अपने अनुशासन से मुक्त कर दिया। सारे द्वन्द्व गौतम के समाप्त हो गये और अहल्या का हाथ थामकर अनन्त-यात्रा पर गौतम निकल पड़ा और पीछे छूटा इन्द्र और इन्द्रलोक। इसी घटना के साथ उपन्यास का समापन भी होता है।

3.2.6.3. इन्द्र

इन्द्र ऋषि कश्यप और अदिति के पुत्र माने जाते हैं। हालाँकि उनकी जन्मकथा में कई मतान्तर हैं। इन्द्र ने अनन्य मानवीय गुण-रूप से विभूषित हो अपनी श्रेष्ठता स्थापित की। इन्द्र का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावी था, शरीर सुदृढ़ और सुडौल। सुदर्शन थे इन्द्र। साथ ही, वीर, साहसी तो थे ही बौद्धिक बल भी किसी से कम नहीं था। परन्तु ऐश्वर्य, वैभव और शक्ति ने मदमत्त कर रखा था। अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए किसी भी स्तर पर जाने से कोई उन्हें रोक नहीं सकता था। प्राकृतिक आपदा, दैहिक-संकट खड़ा कर किसी को विवश कर देना सहज होता था। भीतर से बहुत अहंकारी स्वच्छन्द चरित्र इन्द्र का था। साथ ही, भोगवादी जीवन के प्रतीक सुरा और सुन्दरी के भोगी के रूप में परिचित रहे हैं। 'इन्द्र-सभा' शब्द के उच्चारण मात्र से धन-रत्न समृद्ध जीवन-यापन, पीयूष-पान, अप्सराओं के साथ अबाध यौन-सम्बन्ध, गन्धर्वों, नृत्य-गान, स्वर्ग-सुख, चिर-यौवन अमरत्व का बोध उभरने लगता है। यह सब इन्द्र के नियन्त्रण में था।

इन्द्र अकूत क्षमता, भोगनिष्ठ, विवादप्रिय, सांसारिक और भोगविलासी के रूप में विख्यात थे लेकिन वीरता, दानशीलता, दयाभाव, प्रशासनिक निपुणता के कारण सर्वसम्मति से इन्द्र का पद हासिल करने में सफल रहे। कहते हैं, इन्द्रदेव अति सोमप्रिय और अति रमणीप्रिय थे सौन्दर्य के उपासक इन्द्र ने जब अहल्या की सौन्दर्य-चर्चा सुनी-देखी तो उनका मन निरन्तर अहल्या के लिए डोलता रहा, जबकि अहल्या तो अभी किशोरी ही थी। अहल्या के सौन्दर्य को लेकर आसपास की प्रतिक्रिया जब इन्द्रयोग्या के रूप में अहल्या के कानों में गूँजती तो वह भी इन्द्र के मोह में डूब जाती। इन्द्र के वैभव और प्रभामण्डल से अभिभूत ही रहती। पर अहल्या का विवाह निर्लिप्त योग-सिद्ध ऋषि-भाव गौतम ऋषि से हो गया। अहल्या का सपना टूट गया।

अहल्या की संभावित पुत्री की भूणहत्या के परिणामस्वरूप अहल्या का मन तो ध्वस्त हो गया, साथ ही, शारीरिक रूप से वह मृत्यु के निकट पहुँच गई। इन्द्र ने अहल्या को जीवन-दान देकर अपनी निकटता बढ़ा ली। इन्द्र और गौतम के बीच शीत-युद्ध जारी रहता। पर गौतम को इन्द्र की कृपा की ज़रूरत होती रहती। इन्द्र ने अहल्या से सम्बन्ध बढ़ाने के लिए कोई कसर नहीं रख छोड़ी। समावर्तन समारोह में गौतम ने इन्द्र को मुख्य अतिथि के रूप में आमन्त्रित किया और उनकी सेवाओं के लिए अहल्या को नियुक्त किया ताकि सुरा और अन्य सुविधाओं का विशेष प्रबन्ध सुनिश्चित किया जा सके। इसके एवज में गौतम को विशेष अनुदान मिलना था। यहाँ

अहल्या और इन्द्र की निकटता और बढ़ी। इन्द्रा की इच्छा और अहल्या की अभीप्सा आमने-सामने थीं। इन्द्र का तर्क, उसके प्राप्य को हमेशा ही निर्विघ्न घोषित करता रहा। अहल्या का अतृप्त जीवन इन्द्र के मोहजाल की ओर निरन्तर खिंचता रहा। अन्ततः एक भोर में जब गौतम स्नान के लिए गया था, तब गौतम के भेष में इन्द्र ने अहल्या का सौन्दर्य पान कर लिया। अहल्या जानती थी कि यह गौतम नहीं है। इन्द्र को अपना सर्वस्व सौंपकर वह पूर्णता का अनुभव करने लगी। इन्द्र अपनी धूर्तता से अपनी इच्छाओं पूर्ण करने में निपुण था। इन्द्र में अहंकारी, धूर्त, स्वच्छन्द, भोग-विलासी व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं।

3.2.5. पाठ-सार

'महामोह : अहल्या की जीवनी 'ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित ओड़िया की महत्त्वपूर्ण कथाकार डॉ॰ प्रतिभा राय का विशिष्ट उपन्यास है। इस उपन्यास में पौराणिक कथावस्तु को नये आयामों में प्रस्तुत किया गया है। अहल्या द्वारा अपनी आत्मकथा का बयान है। अहल्या के जीवन में आए तमाम विरोधाभासों का सिलसिलेवार प्रस्तुतीकरण उत्कृष्ट रूप में इसमें हुआ है। अहल्या के पति गौतम और इन्द्र के इर्दगिर्द अहल्या की जीवन-रेखा उभरती है।

अहल्या के अनमेल विवाह, असफल दाम्पत्य-जीवन में गौतम की भूमिका और स्वच्छन्द जीवन-शैली के इन्द्र तथा इन तीनों की एक दूसरे के जीवन में उपस्थिति, कथा के सार के रूप में उभरती है। जीवन की आशा-आकांक्षा, अपराध-दण्ड, उत्थान-पतन, श्रद्धा-भक्ति जैसी स्थितियों से साक्षात्कार करते हुए पात्र अपने जीवन को आगे बढ़ाते हैं। इस चक्र में पाप, पुण्य, तप, मोक्ष जैसी बातें दार्शनिक संवादों के रूप में उजागर होती हैं। विशेषतः लुभावने, आकर्षक मन की अभीप्सा को पाने में उचित-अनुचित के धागे जब उलझ जाते हैं, तब जीवन किस तरह दुर्घटना का शिकार हो जाता है; इसका दृष्टान्त इस उपन्यास में देखा जा सकता है। अहल्या के रूप में एक सशक्त पात्र सारी कथा और पात्रों को पिरोकर कथानक की इमारत खड़ा करता है। अहल्या की पीड़ा, सपने, संघर्ष, जीवन-दृष्टि, दृढ़ता को गौतम का तप, निरपेक्ष जीवन और 'ब्रह्मर्षि' बनने की आकांक्षा दाम्पत्य-जीवन को नीरस बना देती है। उधर इन्द्र का आकर्षक पर स्वच्छन्द बवण्डर जब अहल्या से टकराता है तब शाप, दोष, अपराध का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। यह तूफान-दण्ड अहल्या का शिला में परिवर्तित होने पर थमता है और राम के स्पर्श से शिला का फिर प्राणवान् होने की कथा को 'महामोह : अहल्याव की जीवनी' के रूप में जाना जाता है।

3.2.6. बोध प्रश्न

01. अहल्या के जीवन की मुख्य त्रासदी क्या है ?
02. अहल्या का दाम्पत्य-जीवन क्यों दुःखपूर्ण है ?
03. गौतम ने पुत्री की भ्रूण-हत्या क्यों करवायी ?
04. गौतम 'ब्रह्मर्षि' बनने के लिए क्या खोता चला गया ?
05. इन्द्र स्वभाव से कैसे थे ?

06. अहल्या इन्द्र की ओर क्यों आकर्षित रहती थी ?
07. अधिक अनुदान पाने के लिए अहल्या को कौन-सा दायित्व सौंपा गया ?
08. गौतम ने अहल्या को क्या अभिशाप दिया ?
09. अहल्या किस तरह शापमुक्त हुई ?
10. इस उपन्यास में किन चार दार्शनिक तत्त्वों की प्रमुखता से चर्चा की गई है ?

संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए –

1. अहल्या
2. गौतम
3. इन्द्र

3.2.7. व्यवहार कार्य (प्रायोगिक)

1. अपने क्षेत्र के किसी कथाकार से मिलकर उनकी किसी कृति पर चर्चा/विवेचन कीजिए।
2. अपने क्षेत्र के किसी कथाकार की कृति की समीक्षा/कथा-सार लिखिए।
3. अपने क्षेत्र के किसी कथाकार से मिलकर उनके किसी उपन्यास पर आधारित साक्षात्कार (Interview) कीजिए।
4. महामोह की तुलना किसी कृति से करते हुए लेख तैयार कीजिए।

3.2.8. कठिन शब्दावली

परिपाक	:	पूर्ण विकास
दृष्टिगोचर	:	दिखाई पड़ने वाला
सहधर्मिणी	:	पत्नी
आसक्ति	:	लगाव, अनुराग
प्रतिपाद्य	:	जिसका स्पष्टीकरण किया जाए / जिसे निरूपित किया जाए

3.2.9. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. राय, प्रतिभा (प्रथम संस्करण : 2012) 'महामोह : अहल्या की जीवनी' नयी दिल्ली, राजकमल प्रकाशन ISBN : 978-81-267-2262-4

❖❖❖

खण्ड – 4 : नाटक

इकाई – 1 : मराठी : खामोश ! अदालत जारी है – विजय तेंडुलकर

इकाई की रूपरेखा

4.1.00. उद्देश्य कथन
4.1.01. प्रस्तावना
4.1.02. विजय तेंडुलकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.1.02.1. परिवेश
  4.1.02.2. रचनाधर्मिता
  4.1.02.3. लेखन शैली
4.1.03. 'खामोश ! अदालत जारी है' : पृष्ठभूमि
4.1.04. 'खामोश ! अदालत जारी है' : कथ्य
  4.1.04.1. स्त्री-पुरुष सम्बन्ध
  4.1.04.2. बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका
  4.1.04.3. न्यायालय की भूमिका
  4.1.04.4. मध्यमवर्ग का पाखण्ड
4.1.05. पाठ-सार
4.1.06. बोध प्रश्न
4.1.07. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य
4.1.08. कठिन शब्दावली
4.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.1.10. सन्दर्भ ग्रन्थ

4.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप–

i. यह समझ सकेंगे कि मूलतः मराठी भाषा में लिखित होने के बावजूद हिन्दी समेत अन्य भारतीय भाषाओं यथा, बांग्ला, कन्नड़, गुजराती आदि में विजय तेंडुलकर के नाटकों की लोकप्रियता के क्या कारण हैं ?
ii. यह जान सकेंगे कि उनके नाटकों की प्रकृति अपने समकालीन नाटककारों से किस रूप में भिन्न है ?
iii. इस तथ्य को समझ पाएँगे कि उनके नाटकों के माध्यम से निर्मित दुनिया में सामान्य और स्वस्थ पात्रों की बजाय असामान्य, कुण्ठित तथा प्रकृत की अपेक्षा विकृत चरित्र को ही जगह क्यों दी गई है ?
iv. मध्यमवर्ग का पाखण्ड एवं स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए यह समझ सकेंगे कि ऊपर से सभ्य, सुसंस्कृत दिखने वाला पुरुष वर्ग स्त्रियों के मामले में नृशंस क्यों हो जाता है ?

4.1.01. प्रस्तावना

स्वतन्त्रता पूर्व नए रंगमंच का विकास रंगकर्म के पश्चिमी मॉडल के आधार पर हुआहै। अंग्रेज व्यापारियों ने जहाँ-जहाँ अपनी व्यापारिक केन्द्र स्थापित किए, उन शहरों में पश्चिमी शैली के रंगकर्म की शुरुआत पहले हुई। इस लिहाज से, कोलकाता के बाद मुंबई का स्थान आता है। कोलकाता के रंगकर्म के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वहाँ नए रंगकर्म का विकास जिन कन्धों पर सवार होकर हुआ, उनमें बंगाल के अधिकांश राजा, तालुकदार, जमींदार और अन्य अभिजात वर्ग शामिल हैं। यह वर्ग इस मामले में बाजी मार ले जाने की स्थिति में रहा, क्योंकि इन्हें अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा पाने और पाश्चात्य संस्कृति-साहित्य से प्रभावित होने का अवसर मिला।

हालाँकि, मराठी रंगकर्म के विकास का स्वरूप थोड़ा भिन्न है। मराठी रंगकर्म ने आरम्भ में पश्चिमी शैली के रंगकर्म की नकल करने की बजाय, पारम्परिक भारतीय नाट्यों से प्रेरणा ग्रहण की। इस तथ्य की पुष्टि विष्णुदास भावे द्वारा 'सीता स्वयंवर' नामक पहले मराठी नाटक के मंचन से होती है। भावे द्वारा लिखित यह नाटक सांगली राजदरबार में प्रस्तुत किया गया था, जो महाराष्ट्र के दशावतार या कर्नाटक के यक्षगान से प्रेरित था।

विष्णुदास भावे के बाद मराठी में कई महत्त्वपूर्ण नाटककार हुए, जिनके नाटकों में संगीत की प्रधानता तो रही, लेकिन नाटकों का ढाँचा शेक्सपियर के नाटकों जैसा रखने की कोशिश की गई। अन्ना साहब किर्लोस्करकृत 'शाकुंतल' एवं 'सौभद्र', काकासाहेब खाडिलकरकृत 'कीचक वध', 'भाऊबंदकी' एवं 'मानापमान' तथा राम गणेश गडकरीकृत 'एकच प्याला' का उल्लेख इस लिहाज से विशेष तौर पर किया जाता है।

लेकिन राम गणेश गडकरी, भार्गव विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर के गद्य नाटकों से नाटक का पश्चिमी मॉडल पूरी तरह से अपना लिया गया। इसके परिणामस्वरूप, ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि गीत-संगीत प्रधान नाटकों की प्रस्तुति के चलन में कमी आयी। कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ के पारम्परिक दर्शकों में संगीत नाटकों की माँग और ललक बनी रही। रंगकर्म के इस पश्चिमी मॉडल में सबसे बड़ी कमी यह थी कि यह इंग्लैंड का पतनशील और निर्जीव विक्टोरियाई रंगकर्म था। इसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन था। कलात्मक दृष्टि से दर्शकों का परिष्कार हो सके, इस पर बल नहीं दिया गया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पाँचवें दशक में भारतीय रंगकर्मियों का ध्यान इस कमी की ओर गया। फलतः रंगकर्म को मात्र मनोरंजन मानने की बजाय, इसमें जीवन के सत्य और यथार्थ की गहरी खोज पर बल दिया जाने लगा।

नाटक लेखन के लिहाज से छठा-सातवाँ दशक बहुत ही उर्वर माना जाता है। इन दशकों में कई भाषाओं में उत्कृष्ट मौलिक नाटक लिखे गए। बांग्ला में बादल सरकार ने 'एवं इंद्रजीत', 'बाकी इतिहास', 'पगला घोड़ा' की रचना की, तो वहीं कन्नड़ में आद्य रंगाचार्य के नाटक 'केलु जन्मेजय' ने पाठकों-दर्शकों को अप्रतिम रूप से प्रभावित किया।

हिन्दी में धर्मवीर भारती एवं मोहन राकेश का नाम आता है, जिनके क्रमशः 'अन्धा युग' तथा 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'आधे अधूरे' जैसे उत्कृष्ट नाटकों ने रंगमंच को समृद्ध करनेका महती कार्य किया। समग्र रूप

में, भारतीय रंगमंच ने संस्कृत नाटकों के बाद पहली बार इन नाटकों के माध्यम से बुनियादी, दार्शनिक और नैतिक प्रश्नों या धर्म संकटों को पहचानने की कोशिश की। पुराण या इतिहास को सामने रखकर जीवन के अन्तर्विरोध को समझने का प्रयास किया गया। सिर्फ यही नहीं, इन नाटकों में समाज के अलग-अलग मानवीय पहलुओं अथवा व्यक्ति और समाज या स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की अन्तर्वर्ती परतें अनावृत की गईं।

जाहिर है, इन दशकों की गरिमामयी रचनात्मक उपस्थिति प्रदान करने में विजय तेंडुलकर के नाटक 'गिधाड़े', 'खामोश ! अदालत जारी है', 'घासीराम कोतवाल', 'सखाराम बाईंडर' आदि का उल्लेख स्वाभाविक जान पड़ता है। विजय तेंडुलकर ने अपने इन नाटकों के माध्यम से मध्यमवर्ग के पाखण्ड, स्त्री उत्पीड़न, समाज की रूढ़िगत मान्यताओं के साथ मनुष्य के अचेतन मन में विद्यमान हिंसा, क्रूरता की परतों को पाठकों-दर्शकों के समक्ष शिद्दत से प्रस्तुत किया।

4.1.02. विजय तेंडुलकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

4.1.02.1. परिवेश

विजय तेंडुलकर (06 जनवरी 1928 – 19 मई 2008) स्वतन्त्र भारत के महत्त्वपूर्ण नाटककारों में से एक हैं। उनकी ख्याति न केवल भारत में बल्कि विश्व में भी है। उन्होंने गिरीश कार्नाड, मोहन राकेश एवं बादल सरकार के साथ समकालीन भारतीय रंगमंच को अद्वितीय ऊँचाई प्रदान की है।

विजय तेंडुलकर का बचपन परिवार के ऐसे सदस्यों के बीच बीता, जिन्हें नाटक का शौक था। पिता ब्रिटिश पब्लिशिंग हाउस में क्लर्क थे। रंगमंच में उनकी रुचि उन्हें नाटक-लेखन तक ले गई। वह नाटकों में अभिनय भी करते थे। तेंडुलकर के बड़े भाई पढ़ाकू थे। वह भी नाटक लिखते थे। लेकिन पिता और बड़े भाई में सबसे बड़ी समानता यह थी कि दोनों ने नाटक लिखे किन्तु दोनों ने ही अपने नाटक प्रकाशित नहीं करवाए।

घर में पढ़ने-लिखने का वातावरण तो था ही; किताबों की भी कोई कमी न थी। उनके घर अन्य लेखकों का भी आना-जाना लगा रहता था। घर में साहित्यिक वातावरण के अलावा साहित्य में उनकी रुचि विकसित होने की अन्य वजह यह भी थी कि उन्हें पी.जी. सहस्रबुद्धे, एन.एम. सन्त एवं वी.वी. बोकिल जैसे शिक्षक मिले। आगे चलकर सन 1948 में पत्रकारिता के पेशे से जुड़कर तेंडुलकर ने नवभारत, मराठा और लोकसत्ता जैसे अखबारों में लेखन का कार्य किया। इस तरह पत्रकारिता और घर में साहित्यिक माहौल की वजह से उनमें समाज को देखने-समझने का संस्कार विकसित हुआ। उनके द्वारा लिखित सशक्त नाटकों के मूल में इन संस्कारों को नकारा नहीं जा सकता है।

4.1.02.2. रचनाधर्मिता

विजय तेंडुलकर एक ऐसी शख्सियत का नाम है, जिसने नाटक तो लिखे ही; अन्य प्रदर्शनमूलक माध्यमों पर भी अपनी लेखनी चलायी। वह सिनेमा एवं टी.वी. में पटकथा लेखन की वजह से इस दुनिया में पटकथा लेखक के रूप में भी पहचाने जाते हैं।

उनका रचना संसार बहुत व्यापक है। उन्होंने इकतीस पूर्ण नाटक, इक्कीस एकांकी लेखन के साथ चार कहानी-संग्रह एवं दो उपन्यास भी लिखे। विजय तेंडुलकर ने अपने लेखन की आरम्भिक अवधि में मध्यमवर्गीय समाज और उनकी समस्याओं को जगह दी जिनमें कम आय, बेरोजगारी, वैवाहिक मुद्दे, स्त्री उत्पीड़न आदि शामिल हैं। बाद में उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से व्यवस्था की क्रूरता तथा उसके अन्याय, शोषण तथा अत्याचार को व्यापक सामाजिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखने की कोशिश की।

विजय तेंडुलकर को उनके लेखन कार्य के लिए कई सम्मान मिले। 'खामोश ! अदालत जारी है' के लिए उन्हें वर्ष 1970 का कमला देवी चट्टोपाध्याय पुरस्कार तो मिला ही, साथ ही वर्ष 1971 में संगीत नाटक अकादमी, 1973 में महाराष्ट्र सरकार का पुरस्कार, 1977 में 'मंथन' को सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार, 'अर्धसत्य' की पटकथा के लिए फिल्मफेयर पुरस्कार भी प्रदान किया गया। वर्ष 1984 में उन्हें पद्मभूषण से अलंकृत किया गया। बाद के वर्षों में भी उन्हें कई पुरस्कारों से सम्मानित किया जाता रहा।

4.1.02.3. लेखन शैली

छठे-सातवें दशक में रंगमंच के ऐसे मॉडल को तलाशने की कोशिश की गई जिसके माध्यम से जीवन के हर क्षेत्र में भारतीय अस्मिता या पहचान को दिखाया जा सके। जीवन के अनुभव को उसकी पूरी जटिलता और तीव्रता के साथ प्रकट किया जा सके। ऐसे में न केवल रंग-दृष्टि के स्तर पर नवीनता पर जोर दिया गया बल्कि एक ऐसी शैली की तलाश बढ़ गई जो हमारे जनसाधारण की चेतना के समीप हो और जिसका उद्देश्य केवल मनोरंजन न हो और जो अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल भी हो।

विजय तेंडुलकर भी अपनी रचनाओं के माध्यम से सांस्कृतिक-राजनैतिक परम्पराओं को सामने लाते हैं, लेकिन वह उसके माध्यम से एक अलग पाठ तैयार करते हैं। उनके नाटकों में जिन अस्वाभाविक चरित्रों, असामान्य परिस्थितियों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग है; वह मूलतः पहले से चली आ रही परम्परा को आईना दिखलाते हैं। यही कारण है कि नाटक की ऊपरी सतह पर विशेष हलचल नहीं दिखलाई पड़ने पर भी उसकी आन्तरिक संरचना हमें गहरे विचार करने पर विवश करती है।

विजय तेंडुलकर नाटक लेखन में जितने सचेत-सावधान दिखलाई पड़ते हैं; उनके मंचन को भी पूरी तवज्जो देते हैं। नतीजतन, उनके नाट्यालेख में पात्रों, स्थितियों, ध्वनि-संगीत को लेकर जगह-जगह रंग-निर्देश

मिलते हैं। रही बात मंचन को तवज्जो देने की, तो कोई भी निर्देशक बिना उनकी पूर्व सहमति के उनके नाटकों का मंचन नहीं करता था। वह मौका-बेमौका मंचित होने वाले अपने नाटकों की रिहर्सल में भी मौजूद रहते थे।

विजय तेंडुलकर की लेखन-शैली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि वह अपने सभी पात्रों को मानवीया ढाँचा प्रदान कर उन्हें स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। यही वजह है कि वह अपनी तरफ से पात्रों के ऊपर कोई निर्णय नहीं थोपते हैं। फलतः पात्रों के चरित्र का रंग श्वेत-श्याम नहीं रहता। एक मिला-जुला रंग भरता है। आप उसे पात्रों का 'ग्रे रंग' से भी सम्बोधित कर सकते हैं। दूसरा यह कि, तेंडुलकर अपने नाटकों के माध्यम से सवाल खड़े तो करते हैं, लेकिन उसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं करते। वह मानते हैं कि पाठक या दर्शक विवेकवान् प्राणी है। उठाए गए सवालों का हल स्वयं ही ढूँढने में सक्षम हैं।

4.1.03. 'खामोश ! अदालत जारी है' : पृष्ठभूमि

जिन आदर्शों, स्वप्नों को आँखों में संजोए आजाद भारत ने नई शुरुआत करनी चाही, उन्हें एक के बाद एक घटना-शृंखला ने भीतर से हिलाकर रख दिया। आजादी के बाद के भारत ने अभी चन्द सूर्योदय ही देखे थे कि एक दिन अचानक राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की हत्या कर दी गई। गाँधीजी भारतीय जनता के आदर्श थे, नैतिक मूल्यों के प्रतीक थे। जाहिर है, उनका जाना नौनिहाल आजाद भारत के सिर से पिता का साया उठ जाने के बराबर था।

आजादी के अगले दस वर्षों में ही हमारी आदर्शवादी, मूल्यपरक कल्पनाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं परिणामस्वरूप जो अन्धा युग अवतरित हुआ, उसमें स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ, मर्यादाएँ सब विकृत हो गईं। इस बिखराव का असर समाज की आन्तरिक संरचना पर भी हुआ। समाज को एक पूर्ण इकाई प्रदान करने वाले अवयव इसके जद में आए, चाहे इसकी छोटी इकाई व्यक्ति हो, परिवार हो या फिर परिवारों के मध्य सम्बन्ध हो। यही वजह है कि इसका प्रभाव आदमी-औरत के सम्बन्धों पर भी पड़ा।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की पड़ताल की पृष्ठभूमि में जिन दो नाटकों का उल्लेख सबसे पहले किया जाता है, उनमें से एक 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक है। मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' में आदमी और औरत के आपसी रिश्तों की चीर-फाड़ जिस शिद्दत, तीखेपन और गहराई से की, वह 'खामोश ! अदालत जारी है' में भी आद्यंत देखने को मिलता है।

मोहन राकेश में स्त्री-पुरुष और सत्ता के केन्द्र में रखने की जो प्रवृत्ति 'आषाढ़ का एक दिन' में विद्यमान है, उसी का विस्तार उनके बाद के नाटकों, यथा – 'लहरों का राजहंस', 'आधे अधूरे' एवं 'पैर तले की जमीन' में भी दिखाई पड़ता है। ठीक ऐसे ही, विजय तेंडुलकर ने भी 'खामोश ! अदालत जारी है' में स्त्री-पुरुष एवं सत्ता को केन्द्र में रखकर कथा संरचना की जो शुरुआत की, वह विशिष्टता उनके आगे के नाटकों में भी मौजूद रही। चाहे वह 'गिद्ध' हो या 'सखाराम बाईंडर' या फिर 'कमला' या 'कन्यादान' और यहाँ तक कि 'घासीराम कोतवाल'; इन सभी नाटकों में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में टूटन, शोषण, दमन के तत्त्व बखूबी मौजूद हैं।

'खामोश ! अदालत जारी है' की रचना रंगायन नामक नाट्य समूह के लिए की गई थी। रंगायन द्वारा इसका प्रथम मंचन वर्ष 1968 में किया गया। विजय तेंडुलकर के इस नाटक पर 'वी आर नो ऐंजल्स', 'डेंजरस गेम', 'डॉ॰ लागू', तथा 'टाइम प्लेज' जैसे नाटकों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव है। यह एक ऐसा नाटक है, जिसका अनुवाद कई भारतीय एवं गैर-भारतीय भाषाओं में हुआ। हिन्दी में इसका अनुवाद सरोजिनी वर्मा द्वारा किया गया है। इस नाटक पर मराठी के अलावा हिन्दी में भी फिल्में बनी हैं। सत्यदेव दूबे के निर्देशन में वर्ष 1971 ई. में तथा वर्ष 2017 में रितेश मेनन के निर्देशन में फ़िल्म बनी जिसमें सौरभ शुक्ला, नंदिता दास जैसे कलाकारों ने अभिनय किया। BBC द्वारा भी इस नाटक का प्रसारण अंग्रेजी में भी किया गया।

4.1.04. खामोश ! अदालत जारी है : कथ्य

विजय तेंडुलकर के नाटकों में शारीरिक हिंसा, स्त्री शोषण, दलितों पर अत्याचार, पुरुष-वर्चस्व, गाली-गलौज सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं। पात्रों की ऐसी संरचना के माध्यम से नाटक के पाठकों-दर्शकों को कष्टदायक स्थिति से गुजारा जाता है। उनके नाटकों में समकालीन परिवेश का कठोर चित्रण मिलता है। नाटकों में ऐसे दृश्यों की आवृत्ति पाठक / दर्शक को व्यक्ति, समाज, रीति-रिवाज, रहन-सहन पर कहीं गहरे सोचने को विवश करती है।

समाज बाह्य स्तर पर जिन आदर्शों के अनुपालन की बात करता है, उसकी जड़ें कैसी भयावह बुनावट में उलझी हैं ! तेंडुलकर का जोर इस बात पर नहीं है कि उनके नाटक के पात्रों का व्यवहार क्या है ! बल्कि, इस बात पर है कि ऐसा क्यों है ! इस बिन्दु पर पहुँचकर ही समझा जा सकता है कि समस्या तात्कालिक कारणों की देन नहीं है, वरन् पहले से चली आती परम्परा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने में निहित है।

'खामोश ! अदालत जारी है' में यह तथ्य स्पष्ट तौर पर उभर कर आता है कि जिसे हम 'खेल' कहते हैं, उसमें सामाजिक संरचना को कितने गहरे तक प्रभावित करने की क्षमता है ! जिसे हम 'खेल' कहते हैं, वह स्त्रियों के दमन का कैसा भयंकर हथियार है। तब यह सोचना लाज़िमी जान पड़ता है कि क्या हम इस 'खेल' से समाज का औचित्यपूर्ण विकास कर सकते हैं।

स्त्रियों के प्रति नाटक में जो 'खेल' शुरू होता है, वह उनके अन्य नाटकों में भी दिखलाई पड़ता है। 'खामोश ! अदालत जारी है' में पुरुष वर्ग द्वारा मातृत्व की पवित्रता को समाज के टिके रहने का आधार माना जाता है, 'सखाराम बाईंडर' में उसकी परिभाषा बदल जाती है। सखाराम चाहे जितनी स्त्रियों को घर पर लाकर रखे, मध्यमवर्ग के समाज को उससे कुछ भी लेना-देना नहीं है। वह चाहे स्त्री को कितना भी प्रताड़ित करे, मध्यमवर्ग के समाज को उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पितृसत्तात्मक समाज अपने अनुकूल 'खेल' की निर्मिति करता रहा है। उसके लिए आदर्श, मूल्य, नैतिकता, दलित, स्त्री आदि महज खेल खेलने हेतु मोहरे भर हैं। जहाँ जिस मोहरे की ज़रूरत आन पड़ती है, उसके पक्ष में सारे तर्क जुटा लिए जाते हैं। हम इस नाटक के प्रमुख कथ्य को स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका, न्यायालय की भूमिका, मध्यम वर्ग का पाखण्ड आदि शीर्षकों के माध्यम से समझने की कोशिश करेंगे।

4.1.04.1. स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

नाटक की प्रमुख पात्र कुमारी बेणारे आजाद ख्याल की स्त्री है। वह अपनी दुनिया स्वयं निर्मित करना चाहती है। इसके लिए उसे निर्णय लेने की आजादी चाहिए। विजय तेंडुलकर ने कुमारी बेणारे के माध्यम से स्त्री के बरक्स पुरुष की दुनिया की परतों को अनावृत किया है।

नाटक के आरम्भ में ही तेंडुलकर ने बहुत सावधानी से कुमारी बेणारे को पुरुष की दुनिया, उसकी आन्तरिकता, उसकी परम्परागत अर्जित मान्यताओं, मूल्यों व नैतिकता के किले में प्रवेश कराया है। लेकिन, उसकी आन्तरिक सच्चाई क्या है? तेंडुलकर ने इस दुनिया की सच्चाई को सामने लाने के लिए दरवाजे का रूपक गढ़ा है। इसकी व्याख्या भी एक पुरुष (सामंत) ही करता है। सामंत जब कुमारी बेणारे को दरवाजे से अंदर आते समय उसके मुँह में उंगली दबाए देखता है, तो कहता है – "क्या हुआ! कड़ी खोलने में उंगली दब गई? यह सब बहुत पुराना है न, इसीलिए ऐसा होता है। आसानी से कड़ी खिसकती ही नहीं और जो कहीं कुंडा बाहर रह गया और कड़ी खींच ली तो जानती हैं क्या होगा? दरवाजा अंदर से बन्द और बाहर से कड़ी। बस समझिए अंदर वाले को तो जेलखाना ही हो गया।"

दरवाजे से सम्बन्धित यह पूरा ब्यौरा नाटक का आधार है। कड़ी मूलतः सड़ी-गली पुरानी परम्पराओं की प्रतीक है। और इन पुरानी परम्पराओं में स्त्री के लिए कोई जगह नहीं है। अगर उसे इन मूल्यों-मान्यताओं के बीच रहना है, तो उसे कैदी-सा जीवन व्यतीत करना होगा। पुरुष वर्ग इस दुनिया का बेताज बादशाह है। जो हमेशा ही अपने पक्ष में तर्क जुटा लेता है। ऐसा नहीं है कि वह इस दुनिया की अप्रासंगिक रूढ़ियों से परिचित नहीं है। यदि ऐसा होता, तो सामन्त उसी दरवाजे से अंदर आया है, लेकिन वह सुरक्षित है। उसकी उंगली कड़ी खोलने में नहीं दबती है।

कुटिल पंक में धँस चुकी कुमारी बेणारे जैसे ही इस पुरानी पड़ चुकी परम्पराओं के अवशेष के साथ कुछ समय बिताती है; वहाँ उसके प्रहरी धीरे-धीरे बाहर आने लगते हैं। दरअसल, सुखात्मे, पोंक्षे, बालू व श्री एवं श्रीमती काशीकर पुरानी पड़ चुकी परम्परा के ध्वजावाहक हैं। कुमारी बेणारे के उस चहारदीवारी में पहुँचते ही, उनकी कुण्ठित वासनाएँ, दमित इच्छाएँ, रुग्ण मनोवृत्तियाँ एक के बाद एक नैतिकता, आदर्श, सामाजिक मूल्य के आवरण में बाहर निकलने लगते हैं। श्री काशीकर के वक्तव्य के माध्यम से हम इसे समझने की कोशिश करेंगे।

सुखात्मे द्वारा कुमारी बेणारे से बार-बार सवाल करने पर भी वह कोई उत्तर नहीं देती है तो श्री काशीकर कहता है – "मेरा तो यह कहना है कि अब फिर से बाल-विवाह प्रथा को समाज में स्थान मिलना चाहिए। पंख निकलने से पहले ही लड़की को ससुराल रवाना कर दो। फिर देखो, सारी बदचलनी बिलकुल बन्द हो जाएगी। मैं तो कहूँगा कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, आगरकर और धोडों केशव ने हमारे समाज का बहुत अहित किया है।" विसंगति उस वक्त अपने चरम पर होती है, जब कुमारी बेणारे के कुछ भी बोलने पर उसे खामोश कर दिया जाता है। और इस बहाने कुमारी बेणारे पर धीरे-धीरे अपनी पकड़ मजबूत करते चलते हैं। इसके लिए निर्णय के रूप में

कुमारी बेणारे पर अन्तिम बाण चलाया जाता है – "सामाजिक परम्पराएँ चाहे जैसी हों, महत्त्वपूर्ण होती हैं। मातृत्व निष्कलंक और पवित्र होना चाहिए। उस पवित्रता में दाग लगाकर तुमने परम्पराओं की नींव में बारूद लगाई है।" और इन बातों को ध्यान में रखते हुए कोर्ट कुमारी बेणारे के गर्भ में पल रहे जीवन को नष्ट करने का फैसला सुनाती है।

जाहिर है, यह स्त्री केन्द्रित नाटक है, जो पितृसत्तात्मक समाज में महिला के खामोश होने की दास्तां कहता है। इसमें समाज में अकेली होती जाती स्त्रियों की कथा बुनी गई है। विजय तेंडुलकर के नाटकों में ज्वलन्त सामाजिक प्रश्नों एवं कठोर स्थितियों का दृश्यांकन उनके नाटकों को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान करता है। यही कारण है कि उनके नाटकों का अन्य भारतीय भाषाओं में न केवल अनुवाद हुआ, बल्कि मंचन भी हुए।

4.1.04.2. बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका

इस नाटक में जिन रुग्ण परम्पराओं को बचाए रखने के लिए तर्क जुटाए जाते हैं; ऐसे में बुद्धिजीवियों की भूमिका निर्णायक हो सकती थी। उन्हें समाज-व्यवस्था की धड़कनों की पहचान होती है। इस लिहाज से, उनका इन कुपोषित मनोवृत्तियों, रुग्ण कुप्रथाओं, व्यक्ति के व्यवहारों में आए जंगलीपन पर राय देना समाज के स्वस्थ विकास के लिए अनिवार्य था। लेकिन, कुमारी बेनारे के शब्दों में – "अपनी किताबी बुद्धि पर इतराने वाले इंटेलेक्चुअल मौका आने पर दुम दबाकर निकल भागता है।" सवाल उठता है कि वह भागता क्यों है ? क्योंकि वह स्वयं ऐसे समाज के बने रहने का पक्षधर मालूम पड़ता है, जहाँ स्त्रियों को कुचला जाता हो, जहाँ उन्हें उनकी इच्छाओं, उनके जीवन, उनके निर्णय के अधिकार से वंचित रखा जाता हो।

इस पहलू पर थोड़ा और प्रकाश डालने से उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि हो जाएगी। प्रो॰ दामले जागृति सभा द्वारा होने वाले अभिरूप न्याय में उपस्थित नहीं होते हैं। नाटक के आरम्भ में तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी अनुपस्थिति से कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। 'खेल' ही तो है, सब मिलकर सँभाल लेंगे। लेकिन, क्या ऐसा हो पाता है ? एक तरफ यह 'खेल' समाज की महत्त्वपूर्ण कड़ी एक स्त्री के जीवन को लील लेने पर आमादा है, तो दूसरी तरफ इसके विरुद्ध किसी भी आवाज का न उठना, इस 'खेल' के भयंकर चरित्र को उजागर करता है। इससे 'खेल' के पीछे का मनोविज्ञान समझ में आता है। यह समझ में आता है कि यदि इस स्थिति में प्रो॰ दामले उपस्थित होते, तो भी कुमारी बेणारे अपने को उतना ही अकेला पाती, जैसा कि उसे दिखाया गया है।

4.1.04.3. न्यायालय की भूमिका

आधुनिक समाज-व्यवस्था में न्यायपालिका लोकतन्त्र का मजबूत स्तम्भ माना जाता है। इसे देश की निर्मात्री संस्था होने का दर्जा प्राप्त है। वह समाज में न्याय की आस लगाए निर्बलों को सम्बल प्रदान करता है। लेकिन, नाटक में कुमारी बेणारे को सामने रखकर न्याय-प्रदाता की असलियत भी सामने लाई गई है। तेंडुलकर ने इसके माध्यम से न्याय-व्यवस्था की जड़ता पर कठोर प्रहार किया है।

यदि मध्यमवर्ग का पुरुष रूढ़ मान्यताओं को ढो रहा है, तो यह न्यायालय का परम कर्त्तव्य था कि उसे सही मार्ग दिखलाए। लेकिन न्यायमूर्ति स्वयं ही जड़, कुपोषित एवं कट्टर समाज की बुनावट में तल्लीन हैं।

नाटक में भ्रूण-हत्या जैसे गम्भीर विषय पर बहुत चटपटे अंदाज में बात की जाती है। लेकिन, वहीं पान थूकने पर बहुत गम्भीरतापूर्वक सलाह-मशविरा किया जाता है। सिर्फ इतना ही नहीं, इस गैर मामूली विषय पर कोर्ट का बेशकीमती समय भी बरबाद किया जाता है। जाहिर है, इन दृश्य-स्थलों को सामने लाकर कोर्ट की संवेदनहीनता एवं समाज के गैरजिम्मेदाराना रवैये को सामने लाया गया है। ध्यान देने वाली बात यह भी है कि कोर्ट द्वारा व्यक्ति को संवेदनहीन व गैर-जिम्मेदार बनने का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। सुखात्मे जैसे वकील के लिए गवाह तैयार कर लेना चुटकियों का काम है। ऐसा इसलिए, क्योंकि सुखात्मे गवाहों को सिखा-पढ़ा देने के उस्ताद हैं।

4.1.04.4. मध्यमवर्ग का पाखण्ड

विजय तेंडुलकर ने कुमारी बेणारे के माध्यम से न केवल बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका, न्यायालय की संवेदनहीनता, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को ही उघाड़ा है, बल्कि मध्यमवर्ग के पाखण्डों को भी तार-तार किया है। समाज के मध्यमवर्ग के मानसपटल पर अंकित नैतिक मूल्यों, आदर्शों, सच्चरित्रों के नाम पर प्रचलित पाखण्डपूर्ण आचरणों पर प्रकाश डाला गया है।

जड़ समाज का चरित्र बाल विवाह का समर्थन, मातृत्व की रक्षा और उसके लिए भ्रूण-हत्या पर बल, प्रगतिशील बातचीत करने पर खामोश कर दिया जाना आदि दृश्यों-प्रसंगों के रूप में सामने आता है। मध्यमवर्ग के इस पाखण्ड को अनावृत करने के लिए कोर्ट की नकली कार्रवाई की जाती है, जहाँ खेल-खेल में मध्यमवर्ग का घिनौना चेहरा सामने आता है। यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि स्त्री एवं बच्चों के बिना समाज की कैसी तस्वीर उभरेगी ! जिस समाज में स्त्रियों की आजादी, उसकी इच्छाओं-आकांक्षाओं का ध्यान नहीं रखा जाता हो, जिस समाज में भ्रूण-हत्या जैसे क्रूरतम कृत्यों का समर्थन किया जाता हो, वह समाज कैसा होगा ! विजय तेंडुलकर ने इन प्रश्नों के माध्यम से मध्यमवर्ग की समाज एवं जीवन के प्रति विवेकहीनता को उजागर किया है। उनमें समाज के स्वस्थ विकास के लिए ज़रूरी समझ का अभाव रेखांकित करने योग्य है। यदि ऐसा ना होता तो कुमारी बेणारे के यौनता खोने की घटना को अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जाता और न ही उसके ऊपर इंडियन पेनल कोड 302 के अनुसार भ्रूण-हत्या का अभियोग चलाया जाता। जिस पर इतना बड़ा अभियोग लगेगा, वह सुन्न एवं निश्चल तो होगा ही। कुमारी बेणारे की स्थिति ऐसी ही हो जाती है। बात अभियोग लगाने तक ही सीमित नहीं रहती, वे लोग कुमारी बेणारे के निजी जीवन में भी दिलचस्पी लेने लगते हैं। इसके माध्यम से मध्यमवर्ग की खास तरह की मानसिकता को अनावृत किया गया है।

4.1.05. पाठ-सार

आधुनिक मराठी नाटक की जो परम्परा विष्णुदास भावे से आरम्भ हुई, वह अन्ना साहब किर्लोस्कर, काकासाहेब खाडिलकर, राम गणेश गडकरी एवं भार्गव विट्ठल उर्फ मामा वरेरकर से होते हुए विजय तेंडुलकर तक पहुँची। विजय तेंडुलकर के समकालीन नाटकीय परिदृश्य का प्रभाव उनके नाटकों पर भी पड़ा। थियेटर के पश्चिमी मॉडल से इतर भारतीय मॉडल की स्पष्ट छाप उनके नाटकों पर देखने को मिलती है। उनके नाटक जीवन के अनुभव को उसकी पूरी जटिलता और तीव्रता के साथ प्रस्तुत करते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों के माध्यम से भारतीय परम्परा के असंगत व प्रतिगामी तत्त्वों को दर्शकों के समक्ष लाकर उन्हें संवेदित करने का महत्त्वपूर्ण काम किया।

विजय तेंडुलकर ने 'खामोश ! अदालत जारी है' में कुमारी बेणारे के माध्यम से जड़ सामाजिक व्यवस्था, रुग्ण मनोवृत्तियों एवं मध्यमवर्ग की कथनी और करनी को गहरे में अनावृत किया। समाज जिन आदर्शों, नैतिक मूल्यों एवं परम्पराओं के संरक्षण की बात करता है वह वास्तव में समकालीन जीवन स्थितियों के अनुकूल नहीं हैं। इसलिए, पहले से चली आ रही परम्परा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने से समाज का स्वस्थ विकास नहीं हो सकता। हालाँकि, कुमारी बेणारे मध्यमवर्ग के इन जीवन मूल्यों को चुनौती भी देती है। उसका स्पष्ट मानना है कि समाज के दोहरे चरित्र से किसी भी पक्ष का भला नहीं हो सकता।

विजय तेंडुलकर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की बारीकी से पड़ताल करते हैं। लेकिन, उनका स्पष्ट मानना है कि सिर्फ इतने भर से समाज का समग्र विकास नहीं हो सकता, बल्कि बुद्धिजीवियों को भी अपनी सक्रियता दिखानी होगी। न्यायालयों को अपनी गरिमा बनाए रखने के लिए विवेकपूर्ण निर्णय लेने होंगे। और सबसे ज़रूरी यह कि, मध्यमवर्ग को अपने पाखण्डपूर्ण कृत्यों को समझना होगा। उसे इस समझ के दायरे में स्त्रियों एवं बच्चों को भी जगह देनी होगी एवं संवेदनशील वातावरण का निर्माण करना होगा।

4.1.06. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'खामोश ! अदालत जारी है' में 'खेल' का सम्बन्ध है –
   (क) कोर्ट की नकली कार्रवाई से
   (ख) कुमारी बेणारे पर झूठे मुकदमे से
   (ग) अभिरूप न्यायसभा के टाइम पास से
   (घ) कुमारी बेणारे जैसी स्त्री पर हर तरह के प्रतिबन्ध से

2. 'खामोश ! अदालत जारी है' मध्यमवर्ग के पाखण्ड को सामने लाता है –
   (क) कथनी और करनी में अन्तर द्वारा

(ख) सुखात्मे के वक्तव्यों द्वारा
(ग) कुमारी बेणारे पर लगाए गए आरोपों का उसके अस्वीकार द्वारा
(घ) जज महोदय के वक्तव्यों द्वारा

3. श्रीमती काशीकर प्रतिनिधि चरित्र है –
(क) प्रगतिशील विचारों की
(ख) प्रतिगामी विचारों की
(ग) पितृसत्तात्मक समाज की
(घ) उपर्युक्त 'ख' एवं 'ग' दोनों की

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मराठी नाट्य परम्परा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. मराठी नाटकों की परम्परा में 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक किस प्रकार भिन्न है ? स्पष्ट कीजिए।
3. 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक में वर्णित मध्यमवर्गीय समाज के विरोधाभासों को प्रकट कीजिए।
4. 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक में अदालत किसका प्रतीक है ? उद्धरण सहित स्पष्ट कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. " 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक की मुख्य नारी पात्र कुमारी बेणारे सम्पूर्ण भारतीय स्त्री समाज का प्रतिनिधित्व करती है।" उक्त कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।
2. समाज के स्वस्थ विकास के लिए परम्परा के प्रगतिशील तत्त्वों के योगदान के सन्दर्भ में 'खामोश ! अदालत जारी है' नाटक का विश्लेषण कीजिए।
3. विजय तेंडुलकर के अधिकांश नाटकों में हिंसा एक प्रमुख तत्त्व के रूप में सामने आताहै। क्या यह तात्कालिक सामाजिक-राजनैतिक स्थितियों की देन है ? व्याख्यायित कीजिए।
4. रंगमंच में नारी पात्रों की परम्परा बताते हुए उसका कालक्रमिक विवेचन कीजिए।

4.1.07. व्यावहारिक (प्रायोगिक) कार्य

1. अपनी क्षेत्रीय भाषा में रचित उन नाटकों का विश्लेषण कीजिए जिनमें कुमारी बेणारे जैसी नारी पात्र पाठकों-दर्शकों के समक्ष उपस्थित किए गए हैं ?

4.1.08. कठिन शब्दावली

अनावृत : जो ढका न हो, खुला

अन्तर्विरोध	:	किसी कार्य या बात में एक ही समय में पारस्परिक विरोध
शिद्दत	:	तीव्र भावना, प्रबलता
नृशंस	:	निर्दयी, अत्याचारी, अनिष्ट करने वाला

4.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. जैन, नेमिचन्द्र (1996), रंग परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-7055-462-2
2. अंकुर, देवेन्द्र राज (2004), अंतरंग बहिरंग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 81-26-0848-4
3. शुक्ल, प्रयाग (सं.) (2001), रंग तेंडुलकर, अंक प्रकाशन, मुंबई
4. अंकुर, देवेन्द्र राज (2008), पढ़ते सुनते देखते, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-267-1597-8
5. अंकुर, देवेन्द्र राज (2010), सातवाँ रंग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, ISBN : 978-81-267-1929-7
6. शुक्ल, प्रयाग (सं.) रंग प्रसंग, अप्रैल-जून, 2005
7. शुक्ल, प्रयाग (सं.) रंग प्रसंग, अक्तूबर-दिसंबर, 2008
8. Nath, Rajinder (Editor), Theatre India, No.1, May-1999

4.1.10. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. तेंडुलकर, विजय, खामोश ! अदालत जारी है, सरोजिनी वर्मा (अनुवादक), राजकमल प्रकाशन, 2008, ISBN : 978-81-267-2122-1

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. https://www.youtube.com/watch?v=h4gY5o9dGpI&t=898s
2. https://www.youtube.com/watch?v=VTwJDV-BEK8
3. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
4. http://www.hindisamay.com/
5. http://hindinest.com/
6. http://www.dli.ernet.in/
7. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : नाटक

इकाई – 2 : कन्नड़ : तुग़लक – गिरीश कार्नाड

इकाई की रूपरेखा

4.2.00. उद्देश्य कथन
4.2.01. प्रस्तावना
4.2.02. कन्नड़ नाटक और रंगमंच: एक परिचय
4.2.03. गिरीश कार्नाड : जीवन-वृत्त
4.2.04. गिरीश कार्नाड की नाट्य-कला
4.2.05. गिरीश कार्नाड का नाट्यकर्म
    4.2.05.1. ययाति
    4.2.05.2. तुग़लक
    4.2.05.3. हयवदन
    4.2.05.4. बलि
4.2.06. तुग़लक़ : सन्दर्भ और परिवेश
4.2.07. 'तुग़लक़' नाटक की दृश्य-संयोजना
    4.2.07.01. दृश्य : 01
    4.2.07.02. दृश्य : 02
    4.2.07.03. दृश्य : 03
    4.2.07.04. दृश्य : 04
    4.2.07.05. दृश्य : 05
    4.2.07.06. दृश्य : 06
    4.2.07.07. दृश्य : 07
    4.2.07.08. दृश्य : 08
    4.2.07.09. दृश्य : 09
    4.2.07.10. दृश्य : 10
    4.2.07.11. दृश्य : 11
    4.2.07.12. दृश्य : 12
    4.2.07.13. दृश्य : 13
4.2.08. 'तुग़लक़' नाटक की विषयवस्तु और मुख्य समस्या
    4.2.08.1. अतीत की वर्तमानता
    4.2.08.2. आदर्शवादी राजनैतिक नेतृत्व
    4.2.08.3. धार्मिक सहिष्णुता और राजनैतिक युक्तियाँ
    4.2.08.4. धर्म और राजनीति : आमने-सामने
    4.2.08.5. वेदना और पश्चात्ताप
4.2.09. 'तुग़लक़' नाटक के मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

4.2.09.1. तुग़लक
4.2.09.2. सौतेली माँ
4.2.09.3. नजीब
4.2.09.4. बरनी
4.2.09.5. शेख़ इमामुद्दीन
4.2.09.6. अज़ीज़
4.2.09.7. ढिंढोरची
4.2.10. 'तुग़लक़' नाटक की भाषा और संवाद-योजना
4.2.11. 'तुग़लक़' नाटक का कथा-विन्यास
4.2.12. 'तुग़लक़' नाटक का नाट्य-शिल्प और रंग-योजना
4.2.13. 'तुग़लक़' नाटक में छद्म और सांकेतिकता की अन्तर्धारा
4.2.14. पाठ का सारांश
4.2.15. कठिन शब्दावली
4.2.16. बोध प्रश्न
4.2.17. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ
4.2.17.1. हिन्दी की पुस्तकें
4.2.17.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

4.2.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ के अध्ययन के उपरान्त आप –

i. नाटककार गिरीश कार्नाड के जीवन और मुख्य नाटकों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
ii. 'तुग़लक' नाटक की विषयवस्तु, नाट्य-शिल्प और रंग-योजना की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
iii. 'तुग़लक' नाटक के सभी तेरह दृश्यों के आलोचनात्मक सारांश से परिचित हो सकेंगे।
iv. 'तुग़लक' नाटक के विभिन्न चरित्रों की विशेषताएँ जान पाएँगे।

4.2.01. प्रस्तावना

'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' पाठ्यचर्या के अन्तर्गत अब तक आप विभिन्न भारतीय भाषाओं की अलग-अलग विधाओं के साहित्य का अध्ययन कर चुके हैं। खण्ड – 4 में आप भारतीय नाटक साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं। इस खण्ड की पिछली इकाई में आपने विजय तेंदुलकर के मराठी नाटक 'खामोश ! अदालत जारी है' के बारे में पढ़ा है। भारतीय नाटक और रंगमंच को अधिक गहराई से समझने की दृष्टि से प्रस्तुत इकाई में आपके अध्ययन के लिए निर्धारित नाटक 'तुग़लक' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह नाटक गिरीश कार्नाड द्वारा मूल रूप से कन्नड़ भाषा में लिखे गए नाटक का हिन्दी अनुवाद है। यह हिन्दी अनुवाद भारत के प्रसिद्ध लेखक, नाटककार, निर्देशक और रंगकर्मी ब. व. कारन्त ने किया है। ऐतिहासिक नाटक होने के कारण इसकी भाषा अपने

समय को साकार करने की दृष्टि से तत्कालीन भाषा उर्दू से अनुप्राणित है। आपकी सुविधा के लिए पाठ के अन्त में उर्दू के कठिन शब्दों का हिन्दी अर्थ दे दिया गया है। प्रस्तुत इकाई में इस बहुत ही महत्त्व पूर्ण नाटक के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

4.2.02. कन्नड़ नाटक और रंगमंच : एक परिचय

कन्नड़ में नाटक लेखन की शुरूआत संस्कृत नाटकों के अनुकरण पर लिखे गए नाटकों से हुई। इस शैली में सर्वप्रथम उपलब्ध नाटक 17वीं शताब्दी में सिंगार आर्य नामक एक कवि द्वारा लिखित संस्कृत नाटिका 'रत्नावली' का रूपान्तर है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कुछ और संस्कृत नाटकों के अनुवाद और रूपान्तर हुए। इन सभी नाटकों का कन्नड़ रंगमंच से कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। कन्नड़ में ग्रामीण नाटकों की परम्परा ही रंगमंच से जुड़ी हुई थी। उन्नीसवीं शताब्दी में इस परम्परा से जुड़े कलाकारों ने अपने व्यावसायिक दल बना लिए, जिन्हें 'नाटक मण्डलियाँ' कहा जाता था। लोकप्रिय रंगमंच के नाटकों और पारम्परिक लिखित नाटकों के बीच बहुत अन्तर था। 'नाटक मण्डलियों' द्वारा मेलों और ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय नाटकों के लगातार प्रदर्शन हो रहे थे, जबकि लिखित नाटक दरबारी पण्डितों की साहित्यिक गतिविधियों तक ही सीमित रहे। नंदालिके नारनप्पा जैसे कुछ आधुनिक लेखकों ने लोकप्रिय रंगमंच और लिखित नाटकों के बीच की खाई को पाटने की दृष्टि से कई यक्षगानों की रचना की, लेकिन उनके ये प्रयास भी इस दिशा में कोई बड़ी सफलता नहीं प्राप्त कर सके।

बीसवीं शताब्दी में कन्नड़ नाटकों को परम्परागत शैली में पुनर्जीवित करने का प्रथम प्रयास एम. गोविन्द पाई ने अपनी अतुकान्त काव्यात्मक शैली में नाटक लिख कर किया। इस शैली का प्रभाव आधुनिक कन्नड़ नाट्य लेखकों पर व्यापक रूप से पड़ा। इस दौर में अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों ने भी कन्नड़ नाट्यलेखन को बहुत प्रभावित किया। गुरु वासुदेवाचार्य इस तरह के रूपान्तरकारों में अग्रणी थे। 1930 ई. में धारवाड़ के श्रीरंग ने कन्नड़ में एकांकी लेखन की शुरूआत की।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कर्नाटक में कई व्यावसायिक नाट्य संस्थाएँ विकसित हो चुकी थीं। इनमें 'हालासागी नाटक कंपनी', 'तान्तुपुरास्था थियट्रिकल कंपनी', 'श्रीचमराजेन्द्र कर्नाटक सभा', 'द मैट्रोपॉलिटन थियट्रिकल कंपनी', तथा 'गुब्बी चेनाबासवेश्वर क्रिपापोशिता नाटक संघ' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन नाट्य संस्थाओं और कंपनियों के नाट्य प्रदर्शनों में पारम्परिक शैली में मनोरंजनात्मक विषयवस्तु की प्रमुखता रहती थी। आधुनिक समाज और उसकी समस्याओं को प्रस्तुत करने वाले नाटकों के लेखन और अभिमंचन का आरम्भ बीसवीं सदी में हुआ। कन्नड़ में इस प्रकार की विषयवस्तु वाले नये नाट्यलेखन का आरम्भ 1918 ई. में प्रकाशित टी. पी. केलाराम के नाटक से माना जाता है। के. एस. कारन्त ने कन्नड़ में पद्य और गीति नाटक लिखे। ए. एन. कृष्णराव, श्रीकण्ठप्य, गोविन्द पाई, के. वी. पुटप्पा आदि ने सामाजिक समस्याओं के चित्रण को अपने नाटकों में अधिक महत्त्व दिया। के. शिवराम कारन्त ने संगीत एवं नृत्य नाटक लिखे तथा आद्य रंगाचार्य ने प्रयोगधर्मी नाटकों के माध्यम से कन्नड़ नाटक और रंगमंच को समृद्ध किया।

नयी पीढ़ी के नाटककारों में गिरीश कार्नाड, लंकेश तथा चन्द्रशेखर कमबार के नाटकों से कन्नड़ नाटक और रंगमंच को नई पहचान मिली। नाट्यलेखन के साथ-साथ नाट्य निर्देशन में ब. व. कारन्त, के. वी. सुबण्णा, प्रसन्ना, आर. नागेश, टी. एम. नरसिंहम्, सुरेन्द्रनाथ, भागीरथी कदम, रघुनन्दन, सुरेश आचार्य, सी. बसवालिंगय्या, सुरेश अनागली इत्यादि ने आधुनिक कन्नड़ नाटक और रंगमंच तथा भारतीय नाट्यजगत् को नए आयाम दिये हैं।

4.2.03. गिरीश कार्नाड : जीवन-वृत्त

गिरीश कार्नाड कन्नड़ भाषा के सृजनधर्मी नाटककार, सशक्त अभिनेता और सफल फ़िल्म निर्देशक हैं। उन्होंने अपने सुदीर्घ रचनात्मक जीवन में लेखक, पत्रकार, अध्यापक, अभिनेता, निर्माता, निर्देशक और प्रशासक आदि कई रूपों में सफलतापूर्वक कार्य करते हुए साहित्य और कला को नई ऊँचाइयाँ दी हैं। गिरीश कार्नाड का जन्म 19 मई 1938 को महाराष्ट्र के माथेरान में हुआ था। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा मराठी में हुई है।

कार्नाड ने 1958 में अपनी स्नातक की उपाधि कर्नाटक आर्ट्स कॉलेज, धारवाड़ से गणित और सांख्यिकी विषयों में प्राप्त की। स्नातक होने के बाद वे इंग्लैंड चले गए और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से रोड्स स्कॉलर [Rhodes Scholar (1960-63)] के रूप में अध्ययन करते हुए दर्शनशास्त्र, राजनीति विज्ञान और अर्थशास्त्र विषयों में मास्टर ऑफ़ आर्ट्स की डिग्री प्राप्त की। इंग्लैंड से वापस भारत आकर 1963 से 1970 तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, मद्रास (चेन्नई) में कार्य किया और उसके बाद वे स्वतन्त्र रूप से पूरी तरह लेखन कार्य में लग गए। 1987-88 में वे शिकागो विश्वविद्यालय में विज़िटिंग प्रोफ़ेसर और 'फुलब्राइट प्लेराइट-इन-रेज़िडेन्स'(Fulbright Playwright-in-Residence) रहे। उन्होंने फ़िल्म एवं टेलिविज़न इंस्टीट्यूट ऑफ़ इंडिया के निदेशक तथा संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष सहित कई महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य किया है। कार्नाड को उनके नाट्य-लेखन के लिए संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादेमी, कर्नाटक नाटक अकादमी, भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार और कालिदास सम्मान जैसे साहित्य और कला के कई प्रतिष्ठित पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हो चुके हैं। उन्हें पद्मश्री और पद्मभूषण जैसे उच्चतर नागरिक अलंकरणों से भी अलंकृत किया गया है। नाट्यलेखन, नाट्य-निर्देशन और अभिनय के साथ-साथ कार्नाड फ़िल्मों और टेलिविज़न जैसे संचार माध्यमों के लिए भी लेखन, निर्देशन और अभिनय में निरत हैं।

4.2.04. गिरीश कार्नाड की नाट्य-कला

अपने गाँव सिरसी, कर्नाटक में कार्नाड को भ्रमणशील नाटक मण्डलियों के नाटकों को देखने का अवसर मिला क्योंकि उनके माता-पिता इन नाटक मण्डलियों के नाटकों को बहुत पसंद करते थे। युवावस्था में कार्नाड अपने गाँव के नाटकों के बहुत उत्साही दर्शक थे। उन्हें 'यक्षगान' के मुखौटे और उनका आनुष्ठानिक वातावरण बहुत आकर्षक लगता था। बंबई आने पर उन्हें पश्चिमी शैली के नाटक देखने का अवसर मिला और वे उनके प्रकृतिवाद से प्रभावित हुए। इस प्रकार ग्रामीण 'नाटक मण्डलियों', 'यक्षगान' और पश्चिमी नाटकों तथा कुछ हद तक पारसी नाटकों के अनुभव से कार्नाड ने अपनी नाट्य-कला का विकास किया है।

गिरीश कार्नाड समकालीन भारत के बहुत लोकप्रिय लेखक और मीडिया-व्यक्तित्व हैं। वे अपने नाटकों की विषयवस्तु ऐतिहासिक और पौराणिक स्रोतों से लेते हैं और उसमें समकालीन समाज की समस्याओं को पिरोते हैं। वे आधुनिक मनुष्य, समाज और राष्ट्र के कष्टों तथा संकटों का सामना करने के लिए ऐतिहासिक और पौराणिक चरित्रों के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक संघर्ष की पुनर्रचना करते हैं। वे उत्कृष्ट कथानक, चरित्र-चित्रण, मंच-सज्जा, शैली और भाषा का विशिष्ट प्रयोग करते हुए एक समग्र नाट्य कृति का निर्माण करते हैं। वे अपनी नाट्य कृतियों में भारत की बहुआयामी सामाजिक, आर्थिक, दार्शनिक और धार्मिक थाती का कुशलतापूर्वक प्रदर्शन करते हैं।

अपने नाटकों में कार्नाड विभिन्न नाटकीय परिपाटियों तथा लोक कलाओं के रूपांकनों, जैसे मुखौटा, मंगलाचरण, सूत्रधार, यवनिका आदि का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि परस्पर असम्बद्ध दिखाई देने वाले ये सभी पारम्परिक और लोक कलाओं के साधारण तत्त्व भारत की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर का रूप ले लेते हैं। उनके नाटकों का मुख्य विषय ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओं, चरित्रों और स्थितियों में समसामयिक भारत की समस्याओं को प्रस्तुत करना होता है। इस प्रविधि के प्रयोग में कार्नाड का ध्यान मुख्य रूप से भारत के जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को प्रस्तुत करने पर रहता है।

4.2.05. गिरीश कार्नाड का नाट्यकर्म

गिरीश कार्नाड ने 1961 में नाट्य-लेखन प्रारम्भ किया था जो आज तक जारी है। इस सुदीर्घ कला-साधना में उन्होंने कई नाट्य-कृतियों का सृजन किया है। आइए, उनकी कुछ मुख्य नाट्य-रचनाओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करें।

4.2.05.1. ययाति

'ययाति' कार्नाड का प्रथम नाटक है। इसे उन्होंने ऑक्सफोर्ड में रहते हुए ही 1961 में लिखा था। इसमें उन्होंने महाभारत से सम्बन्धित एक प्राचीन लोककथा के मिथक की आधुनिक सन्दर्भों में पुनर्व्याख्या की है। इस नाटक में एक आदिम और मिथकीय अनुभव तथा जीवन और मूल्यों की जीवन्त अनुक्रियाओं के मध्य तनाव का प्रतीकात्मक निरूपण किया गया है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य से अतीत को एक नया अर्थ प्रदान करते हुए कार्नाड ने 'ययाति' में दिखाया है कि एक राजा (ययाति) शाश्वत यौवन की चाह में अपने पुत्र (पुरु) के यौवन और जीवन-शक्ति को हड़पने में भी नहीं झिझकता है।

4.2.05.2. तुग़लक

अपने दूसरे नाटक 'तुग़लक' में कार्नाड ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर दर्शन, समाज और राजनीति के विभिन्न पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है। यह नाटक मूल रूप से कन्नड़ में 1964 में लिखा गया था। इस नाटक में कार्नाड ने मध्यकालीन भारत के एक महान् विद्वान् और आदर्शवादी सुलतान मुहम्मद बिन तुग़लक

(1325 ई.-1352 ई.) को केन्द्र में रखकर समकालीन भारत की तस्वीर पेश की है। इस नाटक में लेखक ने मुहम्मद बिन तुग़लक़ के जीवन और शासन के माध्यम से उसके समय की धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों तथा उन परिस्थितियों के साथ उसके द्वन्द्व को प्रस्तुत किया है तथा इस प्रकार वर्तमान समय की विडम्बनाओं को रेखांकित किया है।

4.2.05.3. हयवदन

1971 में उन्होंने 'हयवदन' नाटक लिखा। यह नाटक प्राचीन संस्कृत कथा-संग्रह 'कथा सरित्सागर' की सिरों की अदला-बदली वाली एक कहानी पर आधारित है। इसमें नाटककार स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की जटिलता का उद्घाटन करता है। इस नाटक में आधुनिक नाटक के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय नाट्य शैलियों के प्रयोग की सार्थकता को भी प्रकट किया गया है। इस नाटक में कर्नाटक के प्राचीन नृत्यनाट्य रूप 'यक्षगान' में प्रयुक्त भागवत (सूत्रधार), गणेश-वन्दना, अर्द्धपटी, नट, मुखौटे, गुड्डे-गुड़िया, लोक संगीत की धुनों आदि का कलात्मक प्रयोग भारतीय रंगकर्म की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। यह नाटक मनुष्य जीवन के आधारभूत अन्तर्विरोधों और समस्याओं के सन्दर्भ में सम्पूर्णता की अन्तहीन तलाश तथा उससे उपजी असह्य पीड़ा के बीच बुद्धि और शरीर की श्रेष्ठता के संघर्ष को प्रदर्शित करता है।

4.2.05.4. बलि

इस नाटक की विषयवस्तु पशु-बलि है। नाटक की कथा जीवित प्राणी और आटे से बने पशु की बलि के अन्तर को मिटाए हुए हिंसा का विषयनिष्ठ और सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करती है। एक पौराणिक कथा के माध्यम से मानव सभ्यता के शाश्वत द्वन्द्व और नैतिक आडम्बर को उजागर किया गया है।

उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त कार्नाड ने नागमण्डल, अग्नि और बरखा, रक्तकल्याण, बिखरे बिम्ब और पुष्प, शादी का एल्बम आदि कई महत्त्वपूर्ण नाटक लिखे हैं।

4.2.06. तुग़लक़ : सन्दर्भ और परिवेश

'तुग़लक' मूल रूप से कन्नड़ भाषा में 1964 में लिखा गया था। 1965 में कन्नड़ में इसका प्रस्तुतीकरण हुआ। इसी दौरान हिन्दी तथा उसके बाद बांग्ला और मराठी में इसके प्रदर्शन हुए। 'तुग़लक' का हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध रंगकर्मी और नाटक निर्देशक बी. वी. कारन्त ने किया है। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद स्वयं गिरीश कार्नाड द्वारा किया गया, जिसका प्रथम मंचन अगस्त 1970 में भूलाभाई ऑडिटोरियम, बंबई में किया गया था। इसके कुछ समय बाद हिन्दी में इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रदर्शन दिल्ली के पुराना क़िला की पृष्ठभूमि में किया गया था जिसका निर्देशन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निर्देशक इब्राहिम अल्काज़ी ने किया था। 'तुग़लक' के विभिन्न भाषाओं में प्रदर्शनों का निर्देशन करने वाले अन्य निर्देशकों में अलीक़ पदमसी, ब. व. कारन्त, प्रसन्ना, अरविन्द गौड़, दिनेश ठाकुर, विजय मेहता, भानु भारती, अमल अल्लाना और श्यामानन्द जालान प्रमुख हैं।

'तुग़लक' मानवीय शक्ति की सीमाओं की त्रासद कथा है। इसे नेहरूयुगीन भारत के आदर्शवादी स्वप्नों और महत्त्वाकांक्षाओं की विफलता का आख्यान भी माना जाता है। गिरीश कार्नाड ने तुग़लक नाटक को एक समसामयिक प्रासंगिकता प्रदान की है। यू. आर. अनन्तमूर्ति ने नाटक के अंग्रेज़ी संस्करण के परिचय में लिखा है कि "यह साठ के दशक का नाटक है और जिस प्रकार यह देश में नेहरू युग के आदर्शवाद के बाद के मोहभंग को प्रतिबिम्बित करता है उस प्रकार कोई दूसरा नाटक नहीं करता है।" वस्तुतः 'तुग़लक' नाटक के स्थायी आकर्षण और प्रभाव के कारण इसे आसानी से कई अलग-अलग राजनैतिक सन्दर्भों में देखा जा सकता है। यह अतीत को प्रश्नांकित करता है तो साथ-साथ हमारे वर्तमान से जुड़े हुए कई राजनैतिक और सामाजिक मुद्दों को भी गम्भीरता से उठाता है। यह भारत के इतिहास के एक युग 'सल्तनत काल' को फिर से देखने का अवसर देता है। कार्नाड ने इतिहास के विवादित शासक तुग़लक को पुनर्जीवित करके उस ऐतिहासिक नायक के रहस्यमय चरित्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। 'तुग़लक' जीवन के घात-प्रतिघातों से संघर्ष करते व्यक्ति के पराभव के साथ-साथ सामाजिक आदर्शों और मूल्यों के टूटने की कहानी है।

इस नाटक में कार्नाड ने बादशाह तुग़लक के व्यक्तित्व और समय के सूक्ष्म रूपों को संयोजित करते हुए समकालीन भारतीय सामाजिक जीवन और परिस्थितियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें ऐतिहासिक और सार्वभौमिक, सामयिक और शाश्वत सत्य के अलग-अलग पहलुओं को विभिन्न चरित्रों के माध्यम से कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यू. आर. अनन्तमूर्ति के अनुसार "यह नाटक एक राजनैतिक रूपक से बढ़कर है। यद्यपि नाटक की विषयवस्तु इतिहास से ली गई है, लेकिन विषयवस्तु का निरूपण ऐतिहासिक नहीं है।" वस्तुतः इस नाटक में एक ऐसे व्यक्तित्व के संघर्ष और आश्चर्यजनक असफलताओं को समसामयिक यथार्थ के सन्दर्भ में उभारा गया है जिसने एक आदर्श शासक बनने का स्वप्न देखा और अपने स्वप्नलोक में गुम हो गया।

यह नाटक एक ऐसे आदर्शवादी शासक की महत्त्वाकांक्षी नीतियों की दुःखपूर्ण परिणतियों को दर्शाता है जो जीवन के कटु सत्य के साथ अपने महान् सपनों की संगति बिठाने में असफल रहा। उसकी सनक और ज़िद उसके आदर्शों पर हावी रही। उसके उद्देश्यपूर्ण महान् विचार लोगों के लिए विनाश और कष्टों का कारण ही बन सके, क्योंकि समाज के स्वार्थी और धर्मभीरु लोगों ने उसके विचारों को तोड़-मरोड़ कर अपने स्वार्थों को पूरा करने का माध्यम बना लिया। यह नाटक एक अत्यन्त संवेदनशील, लेकिन आन्तरिक रूप से टूटे और बिखरे हुए व्यक्ति के मन का अनुभूतिपरक अन्वेषण करता है।

4.2.07. 'तुग़लक़' नाटक की दृश्य-संयोजना

'तुग़लक' का कथानक तेरह दृश्यों में प्रस्तुत किया गया है। इन दृश्यों में तुग़लक के व्यक्तित्व, उसके राजनैतिक जीवन और उसके समय को प्रदर्शित किया गया है। विभिन्न दृश्यों में इतिहास और वर्तमान की सीमाओं से परे मनुष्य-जीवन के अन्तर्विरोध साकार होते हैं। व्यक्ति की इच्छाओं, कार्यों और उनके परिणामों की महीन परतें खुलती हैं तथा मानवीय प्रकृति और सम्बन्धों की अनेक छवियाँ प्रकट होती हैं। आइए, नाटक के दृश्यों के विश्लेषण के आधार पर इसके सम्पूर्ण कथानक को समझने का प्रयास करें।

4.2.07.01. दृश्य : 01

नाटक का आरम्भ सल्तनतकालीन दिल्ली की मुख्य अदालत के बाहरी हिस्से के दृश्य से होता है, जहाँ बहुत से लोग इकट्ठा होकर देश की राजनैतिक परिस्थितियों पर चर्चा कर रहे हैं। इनमें अधिकतर मुसलमान हैं। कुछ हिन्दू भी इस चर्चा में शामिल हैं। उनकी बातचीत का मुख्य विषय अपने सुलतान की नीतियाँ और जनता पर पड़ने वाले उनके प्रभाव हैं। हिन्दुओं के प्रति तुग़लक़ की उदारवादी नीतियों की अलग-अलग दृष्टियों से आलोचना होती है। तुग़लक़ द्वारा देश की राजधानी दिल्ली से दौलताबाद स्थानान्तरित किए जाने की घोषणा की जाती है। वह अपने इस निर्णय की सार्थकता यह कहकर सिद्ध करता है कि वहाँ हिन्दुओं की जनसंख्या अधिक है और राजधानी वहाँ ले जाने से हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच रिश्ते मज़बूत होंगे। लेकिन उसके इस निर्णय को बहुत से मुसलमानों द्वारा पसंद नहीं किया जाता है। सुलतान के इस आदर्शवादी निर्णय कोसनक की तौर पर देखा जाता है और उसकी आलोचना की जाती है।

नाटक का प्रथम दृश्य बहुत महत्त्वपूर्ण दृश्य है। इस दृश्य में कार्नाड ने सामान्य लोगों का नाटकीय प्रयोग कर उन्हें महत्त्व प्रदान किया है। सुलतान के सम्बन्ध में प्रकट किये गए उनके विचारों से पता चलता है कि आम लोग अपने शासक के बारे में क्या सोचते हैं ? समाज के अलग-अलग वर्गों के चिन्तन का अन्तर भी यहाँ सामने आता है। युवा जहाँ सुलतान की नवप्रवर्तनकारी नीतियों के प्रति आकर्षित हो रहे हैं, वहीं पुरानी पीढ़ी के लोग सुलतान के निर्णयों से अचम्भित हैं और इनसे उनके रूढ़िवादी विचारों को धक्का लगता है। प्रथम दृश्य में कार्नाड ने भीड़ में शामिल लोगों को व्यक्ति विशेष की तरह नहीं पेश किया है, बल्कि उन्हें अपने समूह का प्रतिनिधि बनाकर प्रस्तुत किया है। बुज़ुर्ग आदमी, जवान, मज़हबी, हिन्दू आदि शीर्षक व्यक्तियों के नहीं, उनके समूह और उस समूह के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके विपरीत नाटक के केन्द्रीय पात्र 'तुग़लक़' को नाम से ही पेश किया गया है।

नाटक के आरम्भ में ही हम जान जाते हैं कि तुग़लक एक धर्मनिरपेक्ष शासक है। हमें यह भी पता चलता है कि अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाने के पीछे मुख्य कारण अपनी जनता को बराबरी का अधिकार तथा न्याय प्रदान करने की उसकी इच्छा है। अज़ीज़ और आज़म से भी हमारा परिचय इस दृश्य में ही होता है। अज़ीज़ की कुटिलता का परिचय मिल जाता है कि वह एक ब्राह्मण के छद्मभेष में तुग़लक़ की उदारवादी और न्यायप्रिय भावनाओं का फ़ायदा उठाता है और सुलतान के विरुद्ध मुक़द्दमा जीत लेता है। वह आज़म को भी सुलतान की उदारवादी नीतियों से फ़ायदा उठाने का प्रलोभन देता है। दोनों का ध्यान दिल्ली से दौलताबाद जाने वाले लोगों को ठगकर धन कमाने की ओर लग जाता है।

4.2.07.02. दृश्य : 02

दिल्ली की मुख्य अदालत के बाहरी हिस्से से अब दृश्य तुग़लक़ के शाही महल में स्थानान्तरित हो जाता है। तुग़लक़ को शतरंज खेलते हुआ दिखाया गया है। शतरंज का खेल एक बहुत ही सटीक प्रतीक के रूप में

प्रयुक्त हुआ है। बहुत कलात्मक ढंग से सुलतान द्वारा अपने आस-पास के यथार्थ से अलगाव को शतरंज खेलने के कार्य के रूप में प्रदर्शित किया गया है। इस दृश्य में हमारा परिचय नाटक के अन्य तीन प्रमुख पात्रों – सौतेली माँ, नजीब और बरनी – से होता है। सौतेली माँ तुग़लक़ के प्रति अधिकारपूर्ण रवैया रखती है। वह उसकी आलोचना भी खुलकर करती है। हमें उनके बीच प्रगाढ़ सम्बन्धों का आभास होता है। नजीब और बरनी राज्य व्यवस्था के दो मुख्य पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। नजीब सुलतान का प्रमुख राजनैतिक सलाहकार है। तुग़लक़ उसकी सलाह को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है। नाटक में नजीब, बरनी और तुग़लक के पारस्परिक सम्बन्धों का बहुत महत्त्व है।

इस दृश्य में स्वयं तुग़लक क्रोध और व्यंग्य-मिश्रित लहज़े में उस समाचार और उसको मानने वालों की चर्चा करता है, जिसके अनुसार उसने अपने पिता और भाई को मार कर दिल्ली का सिंहासन हासिल किया है। यहाँ उसकी सनक और असुरक्षा के भय का उल्लेख भी किया गया है। सौतेली माँ उसकी सनकों से चिन्तित है और अपने विश्वासपात्र बरनी से सुलतान का साथ देने के लिए कहती है।

4.2.07.03. दृश्य : 03

यह घोषणा करवा दी गई है कि बड़ी मस्जिद के सामने शेख़ इमामुद्दीन एक सभा को सम्बोधित करेंगे। इसमें वे सुलतान की उन ग़लतियों के बारे में बात करेंगे जिनसे शेख़ के अनुसार मुल्क़ और इस्लाम को बहुत नुक़सान हुआ है। तीसरे दृश्य में मस्जिद के प्रांगण में सुलतान और शेख़ इमामुद्दीन की मुलाक़ात होती है। शेख़ को सुनने के लिए कोई नहीं आया है। सुलतान और शेख़ के बीच तर्क-वितर्क होता है। शेख़ कहता है कि सुलतान का कार्य इस्लामी दुनिया का विस्तार करना है। तुग़लक़ मानता है कि "पिछले सुलतानों ने अवाम को कुचले जाने वाले कीड़े और अहमक़ ही तस्लीम किया था। मैं इस रविश को बदलना चाहता हूँ, हज़रत !"

'तुग़लक़' का यह दृश्य तुग़लक के चरित्र के कई जटिल और अन्तर्विरोधी सूत्रों को प्रकाश में लाता है। शेख़ इमामुद्दीन तुग़लक़ और उसकी नीतियों का कटु आलोचक है। वह खुले आम तुग़लक को अपने पिता और भाई का क़ातिल बताता है तथा उसके विरोधियों की नफ़रत को हवा देता है। सुलतान के विरुद्ध आम जनता में असंतोष की भावना भड़काने में उसकी मुख्य भूमिका मानी जाती है। शेख़ की क़द-काठी सुलतान से मिलती-जुलती है। सुलतान अपनी योजना के अनुसार अन्ततः शेख़ को इस बात के लिए सहमत कर लेता है कि वह आइन-उल-मुल्क से मिलकर दिल्ली पर आक्रमण न करने के लिए उसे मनाने का प्रयास करेगा।

उनकी यह मुलाक़ात नाटक का एक बहुत अहम भाग है। इसमें साहित्य, संस्कृति और दर्शन के प्रति तुग़लक़ के प्रेम का ज्ञान होता है तथा उसके एक दूरदर्शी और जनता के लिए सुख-शान्ति चाहने वाले ज़िम्मेदार शासक होने का पता चलता है। वह राजनीति को धर्म से अलग रखने का हिमायती है। स्वयं को 'परवरदिगार का नाचीज़ ग़ुलाम' मानते हुए भी वह अपने राज्य और जनता की रक्षा के लिए कोई भी कूटनीतिक चाल चलने में संकोच नहीं करता है।

4.2.07.04. दृश्य : 04

सौतेली माँ नायब सुलतान शहाबुद्दीन के साथ सुलतान तुग़लक़ केसम्बन्ध में अपनी चिन्ताओं की चर्चा करती है। इस बीच रतनसिंह आकर शेख़ इमामुद्दीन की मृत्यु का समाचार देता है। तुग़लक़ भी मंच पर आता है और शेख़ की मृत्यु पर अपने गहरे दुःख का इज़हार करता है। वह आश्चर्यजनक रूप से यह घोषणा भी करता है कि शेख़ को सुलतान समझकर उसका क़त्ल करने वाले आईन-उल-मुल्क को उसने छोड़ दिया है तथा उससे छीना गया अवध का राज्य भी उसे वापस कर दिया है। रतनसिंह सुलतान द्वारा षड्यन्त्रपूर्वक शेख़ को क़त्ल करवाने और आईन-उल-मुल्क की सेना को हराने की तुग़लक़ की योजना का विवरण शहाबुद्दीन को सुनाता है। इसी दृश्य में सुलतान के विरुद्ध अमीर-उमराओं के लामबंद होने की योजना का संकेत मिलता है। रतनसिंह इस तरह की एक बैठक में जाने के लिए तैयार है और बताता है कि शहाबुद्दीन को भी इस बैठक में आने का निमन्त्रण है। शहाबुद्दीन भी उस बैठक में जाने के लिए तैयार हो जाता है।

4.2.07.05. दृश्य : 05

दिल्ली के एक घर में शहाबुद्दीन और रतनसिंह की मौजूदगी में कुछ अमीर और इमाम एक गुप्त बैठक कर रहे हैं। अमीर सुलतान की नीतियों के बुरे प्रभावों के बारे में बताकर शहाबुद्दीन को अपनेसाथ मिलाने की कोशिश करते हैं। वे सुलतान के कार्यों की वास्तविकता बताते हैं तथा उसे इस्लामविरोधी ठहराते हैं। वे यह भी बताते हैं कि कैसे सुलतान ने एक तरफ तो शेख़ के जलसे में शरीक होने के लिए ऐलान करवाया और दूसरी तरफ अपने सैनिकों के बल पर लोगों को घरों से बाहर निकलने ही नहीं दिया। यहाँ राजधानी को दिल्ली से दौलताबाद स्थानान्तरित करने के प्रस्ताव को अमीरों को कमज़ोर करने की सुलतान की एक चाल के रूप में देखा जाता है तथा इसे मुसलमानों और अमीरों के हितों के विरुद्ध साबित किया जाता है। शहाबुद्दीन इनकी कई बातों का विरोध करता है लेकिन अन्ततः रतनसिंह सहित सभी लोग मिलकर शहाबुद्दीन को सुलतान के क़त्ल केषड्यन्त्र में शरीक कर लेते हैं। दरबारे ख़ास वाले दिन नमाज़ के वक़्त सुलतान को क़त्ल करने का षड्यन्त्र रच लिया जाता है।

यह दृश्य प्रकट करता है कि सुलतान राज्य की जनता के अमीर, उमरा आदि कुछ हिस्सों में लोकप्रिय नहीं है। यहाँ यह भी सामने आता है कि राज्य का माहौल अविश्वास, सन्देह और घृणा से भरा हुआ है। यह स्थिति स्वयं तुग़लक के आदर्शों के विपरीत है। वह कह चुका है कि राज्य की नींव न्याय, धर्मनिरपेक्षता और पारस्परिक विश्वास पर होनी चाहिए। उसके विरुद्ध रचे जा रहे षड्यन्त्र में उसके अपने कार्यों की क्रूरता की झलक दिखाई देती है। माना जाता है कि तुग़लक ने नमाज़ के वक़्त ही अपने वालिद का क़त्ल किया था। तुग़लक का क़त्ल करने की योजना में नमाज़ के वक़्त को चुना जाता है। नमाज़ का संकेत बहुत महत्त्वपूर्ण है। नमाज़ का वक़्त ख़ुदा की इबादत का पवित्र समय माना जाता है। इस पवित्र समय में किसी को मारने की योजना लोगों के नैतिक पतन का संकेत और उस समय के धार्मिक आचरण पर मार्मिक टिप्पणी है।

4.2.07.06. दृश्य : 06

सुलतान दरबारे-ख़ास में अमीर और शहाबुद्दीन से मिलता है। यहाँ उसके वज़ीरे-आज़म नजीब और वाक़या-नवीस बरनी भी मौजूद हैं। यहाँ कई मुद्दों पर विचार-विमर्श होता है। तुग़लक सूचना देता है कि ख़लीफ़ा-ए-अब्बासी ख़ानदान के नुमाइंदे अब्बासी ग़ियासुद्दीन मुहम्मद उसके दरबार में आने वाले हैं। शहाबुद्दीन इसे सुलतान की होशियारी कहकर उसकी तारीफ़ करता है। तुग़लक इसे अपनी होशियारी कहे जाने से नाराज़ होता है। वह इसे नाख़ुश इमामों को ख़ुश करने की कोशिश माने जाने का विरोध करता है और अपने इस कार्य को अपनी मज़हबीयत से जोड़ कर अपने निर्णय की सार्थकता साबित करता है।

तुग़लक यह बता देता है कि अब्बासी दौलताबाद आ रहे हैं, न कि दिल्ली। शहाबुद्दीन राजधानी परिवर्तन के निर्णय से दिल्लीवासियों की नाराज़गी की बात करता है, लेकिन सुलतान इससे प्रभावित नहीं होता है। वह अपना एक और निर्णय सुनाता है कि अब उसके राज्य में चाँदी के सिक्कों के साथ-साथ ताँबे के सिक्के भी जारी होंगे। सुलतान अमीरों और अन्य लोगों के सामने बहुत विनम्र होकर उनसे अपने निर्णयों का समर्थन करने का अनुरोध करता है। इतना ही नहीं वह उनसे क़ुराने-पाक की शपथ लेकर समर्थन करने के लिए कहता है। इसमें शहाबुद्दीन और दूसरे अमीरों को झिझक होती है। इसी बीच नमाज़ के वक़्त की घोषणा हो जाती है। सुलतान महल में ही नमाज़ अदा करने का निर्णय लेता है। नमाज़ के बीच में शहाबुद्दीन और अमीर सुलतान पर हमला कर देते हैं, लेकिन महल में छुपे हुए सुलतान के हिन्दू सिपाही उन्हें दबोच लेते हैं। हमला नाकामयाब हो जाता है। नमाज़ ख़त्म होने के बाद भयभीत शहाबुद्दीन से सुलतान तर्क-वितर्क करता है। इस बीच यह तथ्य सामने आता है कि जिस रतनसिंह ने शहाबुद्दीन को इस षड्यन्त्र में शामिल होने के लिए राजी किया था उसी ने सुलतान को इसकी पूरी जानकारी दी थी। शहाबुद्दीन सुलतान के हाथों मारा जाता है। कूटनीति के तहत शहाबुद्दीन को शहीद का दर्जा दिया जाता है और कहलवा दिया जाता है कि सुलतान की जान बचाने की कोशिश में शहाबुद्दीन की मृत्यु हुई है। इस दृश्य में तुग़लक एक क्रूर और निर्दयी शासक के रूप में हमारे सामने आता है। बाग़ियों को सबक़ सिखाने के लिए वह षड्यन्त्रकारियों के शवों को खुले में लटकाने का हुक्म देता है। वह क्रोध और भावावेश में अपने राज्य में इबादत को पूरी तरह बन्द करने के लिए कहता है लेकिन नजीब सैयदों और इमामों की बग़ावत का अंदेशा बताकर सुलतान को इस पेशकश पर राज़ी कर लेता है कि जब तक ग़ियासुद्दीन अब्बासी आकर इस राज्य को पवित्र नहीं कर देते तब तक राज्य में इबादत पर पाबंदी रहेगी।

यह दृश्य तुग़लक के शासन में वफ़ादारी और अविश्वास के विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डालता है और स्वयं उसके चरित्र के विभिन्न रूपों को भी प्रकट करता है।

4.2.07.07. दृश्य : 07

दिल्ली से दौलताबाद जाने वाले मार्ग में एक शिविर का दृश्य है। यह दृश्य नाटक के उप-कथानक पर केन्द्रित है और ब्राह्मण के छद्मरूप में अज़ीज़ तथा उसके दोस्त आज़म के दो चरित्रों के माध्यम से मनुष्य जीवन

और मानवीय व्यवहार के बारीक तन्तुओं को प्रकट करता है। दिल्ली से दौलताबाद के रास्ते में सुविधाओं के अभाव में लोगों को भारी कष्ट उठाना पड़ रहा है, लोग मर रहे हैं। आज़म इन सब से बहुत व्यथित है और उसे लगता है कि हम सब का भविष्य अन्धकारमय है। दूसरी ओर अज़ीज़ इस परिस्थिति का लाभ उठाता है और लोगों को ठगकर पैसा इकट्ठा कर रहा है। वह सुलतान के आदेशों का मनमाने ढंग से अर्थ करता है और भोले-भाले लोगों को डराकर उनसे पैसे ऐंठता है। वह हर बदलती हुई परिस्थिति से फ़ायदा उठाना चाहता है और आज़म से कहता है कि उसने सियासत का जादू सीख लिया है। सियासत की दुनिया में दौलत , रुतबा और ताक़त सब कुछ है। अन्त में अज़ीज़ दौलताबाद पहुँचने पर ताँबे के जाली सिक्के बनाकर दौलत बटोरने की अपनी भावी योजना भी बताता है।

4.2.07.08. दृश्य : 08

नई राजधानी दौलताबाद के क़िले का दृश्य। रात का समय है और दो पहरेदार – एक जवान और दूसरा वृद्ध – क़िले की रखवाली कर रहे हैं। जवान व्यक्ति नई राजधानी को लेकर काफ़ी उत्साहित है और क़िले के प्रति उसमें गर्व का भाव है, जबकि वृद्ध पहरेदार क़िले और नई जगह की आलोचना करता है। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता उसे अजगर जैसा भयानक लगता है क्योंकि चार वर्ष पहले दिल्ली से दौलताबाद आते समय रास्ते में उसने अपने पूरे परिवार को खो दिया था। वृद्ध पहरेदार क़िले के नीचे बने तहख़ाने को भी खोखला अजगर कहता है। तुग़लक अचानक क़िले की प्राचीर पर उपस्थित होता है। बातचीत में वह उन दोनों पहरेदारों से अपने मन की बात कहता है। वह उन दिनों को याद करता है जब नई उम्मीदों और उत्साह के साथ वह दौलताबाद आया था। लेकिन उसकी सभी उम्मीदें टूट गई हैं और उत्साह समाप्त हो गया है। उसने देखा तो केवल क़िले के बाहर खड़ा बीहड़ जंगल, सुना तो शहरी कुत्तों और जंगली सियारों का शोर। उसे शाही क़िले की दीवारों में घुटन होने लगी है। इस बीच बरनी भी आ जाता है। सुलतान और बरनी के बीच बहुत आत्मीय बातचीत होती है। सुलतान अपने राज्य की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थितियों पर बरनी से चर्चा करता है; दोआब का सूखा, विद्रोहियों का बढ़ना तथा नक़ली सिक्कों से अर्थव्यवस्था के चौपट होने का दर्द बाँटता है। वह लोगों द्वारा ख़ुद को सनकी सुलतान कहे जाने से भी दुखी है। बरनी सलाह देता है कि सुलतान को विरोधियों के प्रति मार-काट का सख़्त रवैया छोड़कर प्रेम, शान्ति और ख़ुदा की इबादत के अपने पुराने आदर्शों को फिर से अपना लेना चाहिए। लेकिन तुग़लक अपनी ग़लतियों को स्वीकार नहीं करना चाहता, साथ ही वह अपनी जनता से किये गए वादे पूरे नहीं कर पाने से परेशान भी है। तुग़लक सन्देह और अन्तर्विरोधों में घिरा हुआ है। इस बीच ख़बर आती है कि तुग़लक के वज़ीरे-आज़म नजीब का ख़ून हो गया है।

4.2.07.09. दृश्य : 09

यह दृश्य अज़ीज़ और आज़म के माध्यम से प्रस्तुत किए गए नाटक के उप-कथानक पर केन्द्रित है। नाटक के ये दोनों पात्र चोरी और ठगी से धन कमा रहे हैं। ख़लीफ़ा ख़ानदान के नुमाइंदे ग़ियासुद्दीन अब्बासी तुग़लक के निमन्त्रण पर दौलताबाद आ रहे हैं। अज़ीज़ और आज़म उन्हें एक राहगीर समझकर लूटना चाहते हैं,

लेकिन जैसे ही उनकी असलियत पता चलती है अज़ीज़ का धूर्त दिमाग इस परिस्थिति का पूरा फ़ायदा उठाने की ठान लेता है। आज़म की मदद से वह अब्बासी को मार देता है और ख़ुद अब्बासी बन जाता है। यहाँ सुलतान और अज़ीज़ के बीच समानता की दृष्टि से छद्मरूप का नाटकीय प्रयोग किया गया है। अज़ीज़ राजनैतिक परिस्थिति का बहुत होशियारी से अपने फ़ायदे के लिए उपयोग करता है। यह दृश्य आम जनता के बीच व्याप्त भ्रष्टाचार और लालच को भी उभारता है।

4.2.07.10. दृश्य : 10

यह दृश्य तुग़लक और सौतेली माँ पर केन्द्रित है। सौतेली माँ तुग़लक के ग़लत और अतार्किक व्यवहार पर उसे खरी-खोटी सुनाती है। वह ताँबे के सिक्कों के बदले ख़जाने से चाँदी के सिक्के देने से भी सुलतान को रोकने की कोशिश करती है। वह तुग़लक को याद दिलाती है कि राज्य की बिगड़ती हुई हालत के लिए वह ख़ुद ज़िम्मेदार है। वह तुग़लक से विनती करती है कि नजीब के क़ातिल की तलाश में वह अमीरों और उमराओं को मारना और तंग करना बन्द कर दे। वह राज़ खोल देती है और कहती है कि नजीब को उसने ही मरवाया है, क्योंकि वह मानती है कि तुम्हारी नीतियों के लिए वही ज़िम्मेदार था। तीखे वाद-विवाद में वह उसे याद दिलाती है कि उसने अपने वालिद और भाई तथा शेख़ इमामुद्दीन का क़त्ल किया है। तुग़लक पहली बार अपने गुनाह को स्वीकार करता है लेकिन उसे सही ठहराते हुए कहता है कि उसने जो क़त्ल किये उनसे उसे सत्ता मिली, उसे अपने इरादों को शक्ल देने की ताक़त मिली, कार्य करने और ख़ुद को जानने की शक्ति मिली, लेकिन नजीब के ख़ून से उसे क्या मिला ? तुग़लक सौतेली माँ को उसकी भावनाओं से फ़ायदा उठाने की गुनहगार मानता है और उसे बाज़ार के बीच खम्भे से बाँधकर मरवाने का आदेश दे देता है। एकान्त में आत्मालाप करते हुए तुग़लक ख़ुदा से ख़ुद को गुनाहों से उबारने की फ़रियाद करता है। इस बीच बरनी आकर ग़ियासुद्दीन अब्बासी के दौलताबाद आने की ख़बर देता है।

यह दृश्य तुग़लक के तेज़ी से बढ़ते हुए अन्तर्विरोधों और ऊहापोह को उजागर करता है। नजीब की मौत और सौतेली माँ के मृत्युदण्ड के बाद केवल बरनी ही उसका विश्वासपात्र बचा रह जाता है। यह उसके एकाकीपन की विडम्बनापूर्ण स्थिति है।

4.2.07.11. दृश्य : 11

इस दृश्य में आम आदमी की भुखमरी और रोज़मर्रा की परेशानियों से तंग आकार तुग़लक की सत्ता के विरुद्ध बग़ावत का मुद्दा है। छद्मभेषधारी अज़ीज़ ग़ियासुद्दीन अब्बासी बनकर दरबार में आ गया है। एक हिन्दू औरत उसकी आवाज़ पहचान लेती है और चिल्लाकर कहती है कि इस आदमी ने दिल्ली से आते हुए रास्ते में उसके बच्चे को मार दिया था। यह घोषणा पहले की जा चुकी थी कि ग़ियासुद्दीन अब्बासी के आते ही राज्य में इबादत बहाली हो जाएगी। आम जनता आवाज़ उठाती है कि उसे इबादत की नहीं, रोटी की ज़रूरत है। यहाँ

मुख्य कथानक के साथ उप-कथानक आकर मिल जाता है। इस दृश्य के अन्त में दंगे की स्थिति पैदा हो जाती है और क़ानून-व्यवस्था बिगड़ जाती है।

4.2.07.12. दृश्य : 12

आज़म दौलताबाद में फैली भुखमरी और अफ़रा-तफ़री के डर से परेशान है। वह अज़ीज़ के साथ महल से भागने की योजना बनाता है, लेकिन अज़ीज़ इसका विरोध करता है, क्योंकि वह सुलतान के महल को सबसे सुरक्षित जगह मानता है। आज़म कहता है कि सुलतान सनकी है और वह कुछ भी कर सकता है। आज़म तुग़लक की नीतियों, विशेष रूप से राजधानी को दौलताबाद स्थानान्तरित करने तथा ताँबे के सिक्के चलाने के भयावह परिणामों को जान जाता है। वह महल छोड़कर जाने के लिए वहाँ से चला जाता है।

4.2.07.13. दृश्य : 13

यह नाटक का अन्तिम दृश्य है। शुरूआत में बरनी आता है और तुग़लक से कहता है कि उसकी अम्मीजान का इंतकाल हो गया है और वह उसके मातम में शरीक होने के लिए अपने शहर बरन जाना चाहता है। तुग़लक को सन्देह हो जाता है कि बरनी वापस नहीं आएगा। वह जानता है कि बरनी की अम्मी उन दंगों में मारी गई है जिनमें उसके सिपाही नागरिकों को बेरहमी से मार रहे थे। इसी बीच समाचार आता है कि आज़म का भी क़त्ल हो गया है।

ग़ियासुद्दीन अब्बासी के भेष में अज़ीज़ और सुलतान का आमना-सामना होता है। अज़ीज़ का असली रूप सामने आ जाता है कि वह एक धोबी है। अज़ीज़ अपने सभी कार्यों और गुनाहों को सही ठहराता है। वह तुग़लक को चुनौती देता है कि वह उसे मार नहीं सकता क्योंकि उसने सार्वजनिक रूप से उसे ग़ियासुद्दीन अब्बासी मानकर उसका स्वागत किया है। वह स्वयं को सुलतान का असली शिष्य कहता है क्योंकि उसने सुलतान के सभी आदेशों की पालना बहुत संजीदगी से की है। वह बहुत स्पष्ट रूप से बताता है कि कैसे उसने सुलतान की नीतियों का उपयोग अपने फ़ायदे के लिए किया है। यह पाठ उसने सुलतान से ही सीखा है क्योंकि सुलतान भी अपनी नीतियों का उपयोग अपने लिए ही करते हैं। वह विस्तार से बताता है कि उसने तुग़लक की सभी धर्मों में भाईचारे की नीति का फ़ायदा उठाकर ब्राह्मण बनकर तुग़लक के विरुद्ध मुक़द्दमा लड़ा और जीतकर ज़मीन अपने नाम करवायी। यह इसलिए हुआ क्योंकि सुलतान स्वयं को बहुत बड़ा उदार और धर्मनिरपेक्ष साबित करना चाहते थे। उसने ताँबे के जाली सिक्कों को बाज़ार में लाकर मुनाफ़ा कमाया। फिर सस्ती दरों पर दोआब में ज़मीन ख़रीदी और राज्य द्वारा अकाल के समय दी जाने वाली आर्थिक सहायता प्राप्त की। वह तुग़लक से कहता है कि "आप ही बता दें, आपकी सल्तनत में और कौन ऐसा शख़्स होगा, जिसने मुसलसल पाँच बरसों तक इस क़दर वफ़ादारी बरती हो कि वो अपने हर काम का आपके काम से मुक़ाबला करता रहा हो !"

तुग़लक अज़ीज़ को सज़ा देना चाहता है लेकिन अज़ीज़ के इस कथन को सुनकर कि "मैंने अपना पेशा ख़ूब निभाया है, हुज़ूर ! गन्दगी धोने का काम मैंने इस लम्हे तक जारी रखा है", वह उसकी बुद्धि से प्रभावित होता

है और उसे सेना में सरदार बनाकर दक्खन भेजने का निर्णय लेता है। तुग़लक अपनी राजधानी को वापस दिल्ली ले जाने का फैसला करता है। अन्ततः बरनी भी सुलतान को छोड़कर चला जाता है। तुग़लक एकदम अकेला हो जाता है। अज़ान की आवाज़ के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

इस दृश्य में तुग़लक की दुःखद मनःस्थिति और निराशा उभरकर सामने आती है। वह अपनी इच्छाओं और सपनों के अनुरूप एक धर्मनिरपेक्ष, समतावादी आदर्श राज्य क़ायम करने में सफल नहीं हो पाया। यह पीड़ा उसे सता रही है। एक कवि, एक दार्शनिक और शतरंज का शौक़ीन संवेदनशील व्यक्ति क्रूर शासक बनकर दुनिया के सामने आता है और अन्ततः हताशा और उन्माद का शिकार हो जाता है।

4.2.08. 'तुग़लक़' नाटक की विषयवस्तु और मुख्य समस्या

'तुग़लक' चौदहवीं सदी के सल्तनतकालीन शासक मुहम्मद बिन तुग़लक़ के जीवन पर आधारित नाटक है। तुग़लक इतिहास में अपनी कई ग़लतियों और सनकों के लिए जाना जाता है। लेकिन वह एक गम्भीर चिन्तक और स्वप्नद्रष्टा शासक भी था, इस बात को प्रायः अनदेखा कर दिया जाता है। तुग़लक के चरित्र के माध्यम से कार्नाड ने मनुष्य की प्रकृति के विरोधी स्वरूपों को समझने-समझाने का प्रयास किया है। नाटक में दिखाया गया है कि तुग़लक एक समझदार और संवेदनशील व्यक्ति होने के साथ-साथ अक्खड़, घमण्डी और सनकी शासक था। इस नाटक में गिरीश कार्नाड ने एक साथ कई मुद्दों को उठाया है। मध्यकालीन भारतीय समाज और राजनीति के ये मुद्दे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं यही नाटक की मुख्य समस्या है। आइए, इस पृष्ठभूमि में 'तुग़लक' की विषयवस्तु को समझने की कोशिश करें।

4.2.08.1. अतीत की वर्तमानता

गिरीश कार्नाड अपने नाटकों में इतिहास और कल्पना का कलात्मक प्रयोग करते हुए अतीत को समसामयिक अर्थवत्ता प्रदान करने वाले नाटककार हैं। अतीत और वर्तमान को मिलाकर अपने समय की समस्याओं पर उंगली रखना गिरीश कार्नाड की रचनात्मक प्रविधि है जिससे उनके ऐतिहासिक नाटक आज की परिस्थितियों में प्रासंगिक बन जाते हैं। इस नाटक में कार्नाड ने ऐतिहासिक सुलतान तुग़लक की राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं और योजनाओं के असफल होने की त्रासदी प्रस्तुत की है। उन्होंने अतीत के माध्यम से समकालीन राजनैतिक माहौल और सामाजिक परिस्थितियों को मूर्त करने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक पात्रों को समसामयिक अर्थ प्रदान करते हुए उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि नाटक अतीत से अधिक वर्तमान का चित्रण जान पड़ता है। तुग़लकयुगीन परिस्थितियों की भयावहता और उथल-पुथल को भारत के स्वातन्त्र्योत्तर राजनैतिक वातावरण से जोड़कर वर्तमान समय की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों की विषमता को उजागर किया है। 'तुग़लक' इतिहास के एक आदर्शवादी, दुःसाहसी और उतावले शासक की कहानी है जिसे कार्नाड ने स्वतन्त्रता के बाद नेहरू-युग की महत्त्वाकांक्षाओं और आदर्शवाद से मोहभंग का रूपक बनाकर प्रस्तुत किया है।

4.2.08.2. आदर्शवादी राजनैतिक नेतृत्व

सुलतान के चरित्र को उसकी विरोधाभासी और जटिल प्रवृत्तियाँ विशिष्ट और आकर्षक बना देती हैं। नाटक में उसे एक स्वप्नद्रष्टा शासक के साथ सक्रिय राजनेता, उदार के साथ क्रूर तथा अक़ीदतमंद के साथ निर्दयी दिखाया गया है। तुग़लक अपनी जनता से न्याय, समानता, प्रगति और शान्ति का वादा करता है। वह लोगों को ख़ुशहाल ज़िंदगी प्रदान करने के लिए भी कृतसंकल्प है। नाटक में अपने प्रथम संवाद में ही वह कहता है कि "हमेशा से हमारी ख़्वाहिश रही है कि हमारी सल्तनत में सबके साथ एक जैसा सलूक़ हो। खुशियाँ हों, शादमानी हो, और हर शख़्स को हक़ और इंसाफ़ हासिल हो। अपनी रिआया के अमनो-अमान ही नहीं, बल्कि ज़िंदगी के हम ख़्वाहिशमंद हैं ... ज़िंदादिली और ख़ुशहाली से भरपूर ज़िंदगी।" वह अपने शासन में जाति, धर्म और पद के प्रभाव से रहित सबके लिए एक समान न्याय प्रदान करना चाहता है, लेकिन हक़ीक़त में वह ऐसा कर नहीं पाता है। राज्य में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दुश्मनी और भेदभाव को मिटाकर वह एक आदर्श समाज बनाना चाहता है। एक आदर्शवादी और दूरद्रष्टा, एक तर्कवादी और प्रगतिशील शासक के रूप में तुग़लक अपने राज्य में सामाजिक समानता लाने की कोशिश करता है। युवा पीढ़ी उसकी उदारता और धर्मनिरपेक्षता का स्वागत करती है, जबकि पुराने लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

4.2.08.3. धार्मिक सहिष्णुता और राजनैतिक युक्तियाँ

सुलतान राज्य में सभी धर्मों के बीच भाईचारा क़ायम करना चाहता है, जो कि इस्लाम के अनुसार एक उच्चतर मानवीय मूल्य है। यह बात मुल्लाओं और मौलवियों को नागवार गुज़रती है और वे उसका विरोध करते हैं। तुग़लक दोनों धर्मों में समानता लाने के लिए हिन्दुओं पर लगाये जाने वाले ज़ज़िया कर को समाप्त कर देता है और घोषणा करता है कि क़ानून की नज़र में हिन्दुओं और मुसलमानों में कोई भेद नहीं किया जाएगा। अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाने का मुख्य कारण भी वह यही बताता है कि दौलताबाद हिन्दुओं की आबादी है और वह हिन्दुओं और मुसलमानों में एक मज़बूत रिश्ता क़ायम करना चाहता है। शेख़ इमामुद्दीन तुग़लक की धार्मिक नीतियों का आलोचक है और खुले आम जनता को सुलतान के विरुद्ध भड़काता है। तुग़लक बहुत होशियारी से उसका भरोसा हासिल करता है और उसका क़त्ल करवा देता है। शहाबुद्दीन को वह ख़ुद बेरहमी से मार देता है। तुग़लक दूसरे धर्मों के प्रति उदारता दिखाता है लेकिन अपनी सियासत में दख़ल देने वाले अपने ही मज़हब के हर व्यक्ति, यहाँ तक कि अपनी सौतेली माँ और धर्मगुरु को भी अपने रास्ते से हटा देता है। अतः उसकी धार्मिक सहिष्णुता एक सियासी उपकरण और युक्ति बनकर रह जाती है।

4.2.08.4. धर्म और राजनीति : आमने-सामने

कार्नाड ने 'तुग़लक' में धर्म और राजनीति को आमने-सामने कर दिया है। सुलतान अपने आदर्शवादी और उदार विचारों को लागू करने और उन्हें सफल बनाने के लिए धर्म और राजनीति को मिला देता है। दीनो-ईमान का पाबन्द सुलतान सत्ता के लिए कई लोगों का क़त्ल करता है और अपने विरोधियों को एक-एक कर

समाप्त कर देता है। उस पर अपने वालिद और भाई के क़त्ल का इल्ज़ाम भी है। इबादत पर पाबंदी और ख़लीफ़ा-ए-अब्बासी ख़ानदान के नुमाइंदे ग़ियासुद्दीन अब्बासी के छद्मरूपधारी के आगमन पर इबादत से पाबंदी हटा लेना धार्मिक निर्णय से अधिक राजनैतिक निर्णय था। आरम्भ में सुलतान सियासत और मज़हब को अलग-अलग सत्ताएँ मानता है और उसने मज़हब का दायरा छोड़कर सियासत में दख़ल देने वाले इमामों और सैयदों को मौत के घाट उतार दिया था। छद्म हिन्दू बनकर तुग़लक की नीतियों का फ़ायदा उठाने वाला तथा ख़लीफ़ा ख़ानदान के नुमाइंदे का क़त्ल कर उसका भेष धरने वाला मूल रूप से मुसलमान अज़ीज़ न केवल सम्मान पाता है बल्कि अपने छद्म मज़हबी ओहदे का हवाला देकर सुलतान को मजबूर कर देता है कि वह उसे सरदार बना दे। वह धोबी और ख़लीफ़ा को बराबर दर्जे पर ले आता है। अन्त में यही साबित होता है कि आदर्शवाद और राजनीति साथ-साथ नहीं चल सकते, तुग़लक हिन्दू-मुस्लिम एकता और सद्भाव क़ायम करने में सफल नहीं हो पाया।

4.2.08.5. वेदना और पश्चात्ताप

सत्ता प्राप्त करने और उसे बनाए रखने के लिए तुग़लक कई क़त्ल करता है। अपने आदर्शों को कार्यरूप देने के लिए भी वह हिंसा का सहारा लेता है और कई अतार्किक फ़ैसले करता है। अपने इन कार्यों के कारण वह भीतर से टूट जाता है। वह अकेला और निराश हो जाता है। वह अपने फ़ैसले बदलना चाहता है। उसे यह सबक़ धोबी अज़ीज़ से मिलता है कि "हमारे कट्टर दुश्मन वो हैं जो हमें और हमारे ख़यालों को समझने का दावा करते हैं।" वह महसूस करता है कि "ज़िंदगी के मायनों की तलाश में मैंने अपने को बहुत थका लिया है।" ऐसे में वह ख़ुदा से मदद माँगता है कि वह उसके गुनाहों को माफ़ कर दे और उसे दुःखों से मुक्ति प्रदान करे। इबादत पर ख़ुद की लगाई हुई पाबंदी के बावजूद सुलतान ख़ुदा से रहम और पनाह की फ़रियाद करता है। अपनी उदारता और जन-कल्याण के लिए लिये गए फ़ैसलों पर अफ़सोस ज़ाहिर करता है और पश्चात्ताप के चरम में उनके परिणामों से बेपरवाह हो जाता है – "जो चाहे मेरी दरियादिली, मेरी सख़ावत, मेरी ज़िंदादिली, सब कुछ लूट ले भागे ... फिर भी मैं रहूँगा, बरनी, मेरे साथ मेरा अपना 'मैं' रहेगा और मेरी सनक रहेगी। मगर याद रखना, अपनी सनक में मैं अकेला नहीं हूँ। मेरे साथ और भी एक मौजूद है – वो ख़ुदाबन्द अल्ला-ताला !" वेदना और पश्चात्ताप की आग में जलता हुआ तुग़लक अन्ततः ऐसी हालत में पहुँच जाता है कि नींद और बेहोशी में फ़र्क़ नहीं रह जाता है। उसकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं की नाकामी उसे संवेदनाशून्य बना देती है, वह उन्माद की अवस्था में पहुँच जाता है।

4.2.09. 'तुग़लक़' नाटक के मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण

नाटक में लगभग पैंतीस छोटे-बड़े पात्र हैं। सुलतान तुग़लक नाटक का केन्द्रीय पात्र है। अन्य सभी पात्रों की रचना तुग़लक के चरित्र के विभिन्न पक्षों को उभारने तथा तत्कालीन राजनीति, धर्म और समाज की दशा को साकार करने के लिए की गई है। पात्रों की सृष्टि भी कथानक की संरचना की तरह मुख्य रूप से द्विस्तरीय है। सौतेली माँ, बरनी, नजीब आदि पात्र तुग़लक के साथ हैं और किसी न किसी रूप में उसके जीवन और फ़ैसलों से जुड़े हुए हैं। दूसरे स्तर पर आम जनता, शहाबुद्दीन, रतनसिंह, शेख़ इमामुद्दीन आदि पात्र हैं जो तुग़लक के कार्यों

का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं। अज़ीज़ और आज़म नाटक के उप-कथानक को सँभालते हैं। यहाँ हम नाटक के मुख्य चरित्रों की विशेषताओं को विस्तार से जानने का प्रयास करेंगे।

4.2.09.1. तुग़लक

'तुग़लक' नाटक में तुग़लक एक आदर्शवादी और ज़िद्दी शासक के रूप में सामने आता है। उसका आदर्शवाद उसकी कूटनीतिक चालों से ढका रहता है जिससे उसका व्यक्तित्व विभाजित रहता है और उसका कारुणिक पतन होता है। वह कमज़ोर है, बार-बार अपनी ग़लतियों को स्वीकार करता है और सार्वजनिक रूप से स्वयं को सज़ा देने के लिए प्रस्तुत करता है। उसकी न्यायप्रियता की पराकाष्ठा है कि वह अपनी सौतेली माँ को भी बेरहमी से मृत्युदण्ड दे देता है। तुग़लक अपनी समझौताविहीन उदारता और सामाजिक न्याय के विचारों के आधार पर सभी धर्मों को बराबर मानते हुए उनके साथ एक समान व्यवहार करने की नीति अपनाता है, लेकिन उतावली और अपनी सनकों के कारण वह एक ख़राब योजनाकार और एक अति महत्त्वाकांक्षी निर्दयी शासक में बदल जाता है। वह ख़ुद को सहिष्णु और कुशल शासक दिखाने के लिए कई अतार्किक और अजीब निर्णय लेता है जिनकी उसके दरबारी और आम जनता सभी आलोचना करते हैं। उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचे जाते हैं, वह इन षड्यन्त्रों को असफल करने के लिए स्वयं कई षड्यन्त्र रचता है, कूटनीतिक चालें चलता है और अपने विरुद्ध आवाज़ उठाने वाले सभी लोगों को ख़त्म कर देता है। वह अपनी जनता के कल्याण की दृष्टि से कई बड़े और साहसिक निर्णय लेता है। अपने इन अति महत्त्वाकांक्षी निर्णयों को लागू करवाने और उन्हें सही सिद्ध करने के लिए वह अनवरत संघर्ष करता है। लेकिन अन्ततः उसके सभी निर्णय असफल हो जाते हैं। उसकी योजनाओं को न जनता और न ही उसके क़रीबी समझ पाते हैं। वह अपनी किसी भी योजना और निर्णय को कारगर रूप से लागू नहीं करवा पाता है। विडम्बना यह है कि जनता के कल्याण के लिए बनायी हुई अपनी उदार और आदर्शवादी योजनाओं को पूरा करने के लिए तुग़लक क्रूर और हिंसक बन जाता है। इससे वह अकेला पड़ जाता है और निराशा में डूबता जाता है। उसके सभी अपने और विश्वासपात्र उससे किनारा कर लेते हैं। अन्ततः वह एक खण्डित और अन्तर्विरोधी व्यक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाता है और आन्तरिक अस्थिरता का शिकार होकर निपट एकाकीपन का दर्द भोगता है। वस्तुतः गिरीश कार्नाड ने तुग़लक के चरित्र के विभिन्न अन्तर्विरोधी सूत्रों को प्रदर्शित किया है। तुग़लक का आदर्शवाद, उसकी क्रूरता तथा तानाशाहीपूर्ण प्रवृत्तियों के साथ नए विचारों से भरपूर उसका व्यक्तित्व नाटक की प्रगति के साथ हमारे सामने प्रकट होता जाता है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता है कि तुग़लक एकदम अच्छा या एकदम बुरा चरित्र है; मिले-जुले चरित्र की कई छवियाँ हैं जो बिखरी हुई हैं। नाटक में वह ऐतिहासिक रूप से प्रसिद्ध 'पागल बुद्धिमान' की तरह नहीं लगता है। वह बहुत अधीर और कठोर है, उसे लगता है कि सभी समस्याओं का सही हल केवल उसी के पास है। यह विडम्बना है कि उसकी महानता उसकी नाकामी में बदल जाती है। कार्नाड ने उसे अपने समय से आगे की सोच रखने वाले शासक के तौर पर दिखाया है। धार्मिक उदारता और आर्थिक सुधारों की आवश्यकता तुग़लक की दूरदृष्टि के द्योतक हैं। वह परिस्थितियों का शिकार होकर नकारात्मक प्रवृत्तियों के वशीभूत हो जाता है और अपना पतन देखने को विवश होता है।

4.2.09.2. सौतेली माँ

तुग़लक की सौतेली माँ नाटक के आरम्भिक दृश्यों में बराबर उपस्थित होती रहती है। वह भी एक विभाजित व्यक्तित्व है। उसकी भावनाओं में लगातार संघर्ष होता रहता है। तुग़लक के प्रति उसका अतिशय प्रेम उसकी इस मान्यता के साथ टकराता रहता है कि उसने अपने पिता और भाई का क़त्ल किया है। वह तुग़लक से सम्बन्धित अपनी चिन्ताओं को वज़ीरे-आज़म नजीब के साथ साझा करती है। नाटक में उसे तार्किकता और सरोकारों वाली औरत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह तुग़लक की अतार्किक नीतियों और योजनाओं के लिए नजीब को ज़िम्मेदार मानती है। उसे लगता है कि इन नीतियों के कारण उसका पुत्र बर्बाद हो जाएगा और इसी आशंका में वह नजीब का क़त्ल करवा देती है। तुग़लक नजीब के क़त्ल के लिए अपनी सौतेली माँ को सज़ा-ए-मौत सुना देता है।

4.2.09.3. नजीब

नजीब काफ़ी चालाक और प्रतिस्पर्द्धी विचारों का व्यक्ति है। वह किसी पर भी भरोसा नहीं करता है। वह एक चतुर, तार्किक और व्यावहारिक व्यक्ति है जो किसी न किसी तरह काम निकालने में विश्वास करता है। वह सुलतान और उसके राज्य के लिए राजनैतिक योजनाएँ बनाने और कूटनीतिक व्यूह-रचना करने में लगा रहता है। नजीब एक कुशल राजनीतिज्ञ और होशियार रणनीतिकार है । वह तुग़लक का वज़ीरे-आज़म और मुख्य सलाहकार है। वह राज्य की नीतियों का कठोरतापूर्वक पालन करवाने और सुलतान के पूर्ण वर्चस्व का पैरोकार है। उसका दृढ़ विचार था कि "सियासत की बुनियाद पेशबंदी पर क़ायम है।" नजीब और बरनी के विचारों में अन्तर है।

4.2.09.4. बरनी

बरनी तुग़लक का वाक़या-नवीस अर्थात् इतिहासकार है जिसका कार्य सुलतान के राज्य की गतिविधियों का अभिलेखन करना है। वह मानवीय सद्भावना से पूर्ण एक शिष्ट और नैतिक रूप से ईमानदार व्यक्ति है। वह सुलतान और उसके राज्य के लिए चिन्तित रहता है। वह चीजों को मानवीयता के आधार पर देखने का समर्थक है। वह सुलतान के प्रति पूरी सहानुभूति रखता है और कोशिश करता है कि वह उसे अतार्किक निर्णय लेने और उन्हें कठोरता के साथ लागू करने से रोक ले। सौतेली माँ भी बरनी पर भरोसा करती है और उसे सुलतान को सही दिशा में ले जाने के लिए सलाह देने को कहती है। नाटक के अन्त में उसका धैर्य भी जवाब दे जाता है और परिस्थितियों से घबराकर वह भी तुग़लक को छोड़ कर चला जाता है।

4.2.09.5. शेख़ इमामुद्दीन

शेख़ इमामुद्दीन एक मौलवी है जो तुग़लक की नीतियों का कटु आलोचक है। वह खुले रूप में तुग़लक को इस्लामविरोधी कहता है और सुलतान की नाराज़गी मोल लेता है। वह अपनी तक़रीरों में तुग़लक को अपने

पिता और भाई का क़ातिल बताकर उसके विरुद्ध जनता को भड़काता है। सुलतान अन्ततः बहुत चतुराई से उसका क़त्ल करवा देता है। शेख़ तत्कालीन समाज में धार्मिक नेताओं की सामाजिक स्थिति और राजनैतिक प्रभाव का प्रतीक है।

4.2.09.6. अज़ीज़

अज़ीज़ मुहम्मद तुग़लक से समरूपता का अदृष्ट विधान प्रस्तुत करने वाला नाटक का एक विशिष्ट पात्र है। कार्नाड ने अज़ीज़ के रूप में तुग़लक के विद्रूप की रचना की है। जिस प्रकार तुग़लक एक कल्पनाशील, चतुर, छल-प्रपंच में होशियार और कठोर है, उसी प्रकार अज़ीज़ भी आरम्भ से ही अपने मक़सद के बारे में निर्भ्रान्त है कि आगे चलकर उसे क्या करना है। हर हाल में अमीर बनने के अपने सपनों को पूरा करने के लिए वह मुसलमान धोबी होते हुए भी छद्मभेष में ब्राह्मण बन जाता है और हिन्दुओं के प्रति सुलतान की उदारवादी नीतियों का फ़ायदा उठाता है। इस प्रकार वह तुग़लक की कल्याणकारी योजनाओं का मखौल उड़ाता है। वह सल्तनत में फैले भ्रष्टाचार और निर्दयता को उजागर करने का माध्यम बनकर उभरता है। सुलतान की तरह ही वह भी धर्म का इस्तेमाल अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए करता है। सुलतान उसकी पूरी हक़ीक़त जान लेने के बाद भी उसे माफ़ कर देता है, बल्कि उसकी बेबाकी से रीझकर उसे सरदार बना देता है। अज़ीज़ सल्तनतकालीन राजनीति के साथ-साथ वर्तमान राजनीति पर भी एक तीखा और मारक व्यंग्य है।

4.2.09.7. ढिंढोरची

भारत के पारम्परिक और प्रादेशिक नाट्यरूपों में सूत्रधार समय और स्थितियों का फ़ासला कम करते हुए कथानक की क्रमबद्धता को सुनिश्चित करता है। कार्नाड ने नाट्य-परम्परा के इस रूढ़ चरित्र को पुनराविष्कृत किया है। 'तुग़लक' के कई दृश्यों में ढिंढोरची मंच पर आकर घोषणाएँ करता है, सूचनाएँ देता है और सियासी फ़ैसलों की जानकारी देता है। इसके माध्यम से नाटककार ने घटनाओं की संख्या को कम करते हुए विषयवस्तु के लिए आवश्यक घटनाओं और स्थितियों पर दर्शकों का ध्यान केन्द्रित किया है। ढिंढोरची उन घटनाओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करता है जिससे कथानक आगे बढ़ सके और उसके विभिन्न घटकों की अन्विति बनी रहे।

4.2.10. 'तुग़लक़' नाटक की भाषा और संवाद-योजना

'तुग़लक' नाटक ऐतिहासिक सल्तनतकालीन घटनाओं और चरित्रों को प्रस्तुत करता है इसलिए इसकी भाषा और संवादों में तत्कालीन अदब और क़ायदों की विशेषताएँ शामिल की गई हैं। इक्का-दुक्का पात्रों के अलावा इसके सभी पात्र मुसलमान हैं इसलिए मँजी हुई उर्दू का प्रयोग करते हैं। पात्रों की सामाजिक हैसियत के अनुसार उर्दू का भाषायी स्तर सामने आता है। भाषा का स्तर पात्रों, स्थितियों और भावों के अनुसार बदलता अवश्य है, गिरता नहीं है। सुलतान, सौतेली माँ, नजीब, बरनी, शेख़ आदि की भाषा में आभिजात्य दिखाई देता है तो अज़ीज़, आज़म और दूसरे सामान्य पात्रों की भाषा में नफ़ासत की कमी है।

इतिहास के एक महान् शासक के जीवन पर आधारित होने के कारण नाटक में मुहम्मद के संवादों में भव्यता के साथ गहराई है इसलिए कहीं-कहीं उसके संवाद लम्बे हैं। लम्बे होने के बावजूद आरम्भिक दृश्यों में सुलतान के संवाद उसके आदर्शों और सपनों के अनुरूप विचारपूर्ण और गरिमामय हैं। नाटक की प्रगति के साथ सुलतान तुग़लक की स्थिति भी बदलती जाती है और तदनुसार उसके संवादों में व्यग्रता और परेशानी बढ़ती जाती है। तुग़लक के चरित्र की आरम्भिक भव्यता और गरिमा का ह्रास होने लगता है और उसका स्थान बेचैनी, क्रोध, निराशा, मजबूरी और दमन के भाव लेने लगते हैं। उसकी भाषा आक्रामक और आत्मरक्षात्मक हो जाती है। एक जगह बरनी की सलाह का जवाब देते हुए तुग़लक कहता है – "मैं यह कभी गवारा नहीं करूँगा कि तवारीख़ को फिर अन्धों की तरह अपने आप को दोहराने का मौक़ा मिले। ... लोग जब तक मेरी बातों पर ग़ौर नहीं करेंगे, तब तक यह क़त्लेआम मुसलसल जारी रहेगा। दूसरा कोई चारा नहीं है, बरनी !"

सल्तनत के वाक़या-नवीस बरनी की भाषा में एक ज़िम्मेदार ओहदेदार की साफ़गोई और ईमानदारी प्रकट होती है। वज़ीरे-आज़म नजीब की भाषा भी उसके चरित्र के अनुकूल संयत और स्पष्ट है। सौतेली माँ का चरित्र सत्ता पर वर्चस्व बनाने के इरादों से भरा हुआ है, तो उसकी भाषा में भी वह लालसा दिखाई देती है, लेकिन उसकी भाषा ऊपर से एक शुभेच्छु परिजन की-सी सादगी लिए हुए है। शेख़ इमामुद्दीन की भाषा में अपने ऊँचे धार्मिक ओहदे का अभिमान और उच्चारण में अतिरिक्त बल है जो राजनैतिक सत्ता के बरअक्स धार्मिक सत्ता के अस्तित्व और प्रभाव को मुखरित करता है।

4.2.11. 'तुग़लक़' नाटक का कथा-विन्यास

'तुग़लक' की कथा दो स्तरों पर समानान्तर रूप से विन्यस्त है। एक स्तर तुग़लक के महल और दरबार का है जहाँ उसके आदर्शों के अनुसार सियासत की योजनाएँ बनती हैं और कई साहसिक फ़ैसले लिये जाते हैं। दूसरा स्तर जन-सामान्य का है जहाँ अमीर, उमरा तथा अज़ीज़ और आज़म जैसे लोग उन योजनाओं को विफल करते हैं, सुलतान के फ़ैसलों की खिल्ली उड़ाते हैं और उसकी कल्याणकारी नीतियों का छल-कपट से फ़ायदा उठाते हैं। पहले ही दृश्य में जहाँ एक ओर सुलतान के ऊँचे इरादों और बड़े फ़ैसलों का पता चल जाता है, वहीं दूसरी ओर आज़म और अज़ीज़ के संवादों में इन फ़ैसलों के पीछे की सियासत का भी पता चल जाता है। यहीं लोगों द्वारा उनका नाजायज़ फ़ायदा उठाने और उनके विफल होने के संकेत भी मिल जाते हैं।

4.2.12. 'तुग़लक़' नाटक का नाट्य-शिल्प और रंग-योजना

कार्नाड अपने नाटकों में मुख्य कथानक के साथ उप-कथानक की संरचना करते हैं। उप-कथानक मुख्य कथानक को उभारने में सहायक होता है। यह प्रविधि पारसी नाटकों से ली गई है जिनमें गम्भीर और हल्के-फुल्के कथानक बारी-बारी से प्रदर्शित किए जाते हैं। पारम्परिक रूप से पारसी नाटकों में हल्के-फुल्के कथानकों का कार्य हास्य पैदा करना और गम्भीर दृश्य के प्रस्तुत होने तक दर्शकों को बाँधे रखना होता है। कार्नाड ने इस प्रविधि में कई परिवर्तन किये हैं और उसे नई अर्थवत्ता प्रदान की है। 'तुग़लक' में अज़ीज़ और आज़म के उप-कथानक का

काम केवल हास्य पैदा करना या दर्शकों को कुछ देर तक बाँधे रखना ही नहीं है। यह उप-कथानक मुख्य कथानक की विषयवस्तु का पूरक है। कार्नाड दोनों कथानकों को जोड़ते हुए अज़ीज़ को क्रूरता, हिंसा और चालाकियों के सम्बन्ध में तुग़लक का प्रतिबिम्ब बना देते हैं। अन्तिम दृश्य में आकर तो हास्य पात्र नाटक के मुख्य नायक के साथ खड़ा हो जाता है। अज़ीज़ नाटक के मुख्य घटना-विकास को प्रभावित कर देता है, बल्कि नया मोड़ दे देता है। हास्य पात्रों का यह स्थान-परिवर्तन तुग़लक के शासन और समय की अराजकता की पराकाष्ठा को प्रदर्शित करने में बहुत सार्थक सिद्ध हुआ है।

'तुग़लक' नाटक में कार्नाड ने नाटक के मंचन में उपयुक्त नाटकीय प्रभाव पैदा करने और वांछित श्रव्य दृश्य छवियों का निर्माण करने के लिए विभिन्न प्रकार की रंगमंचीय प्रविधियों का प्रयोग किया है। यद्यपि नाट्य-निर्देशक के लिए रंगमंचीय प्रयोग की पूरी छूट दी गई है तथापि कथावस्तु के अनुरूप कई बातों का निर्देशन कार्नाड ने यथास्थान स्पष्ट रूप से किया है। रंगमंच पर कथानक के अर्थ और प्रभाव को सशक्त बनाने के लिए कार्नाड प्रतीकात्मकता की तकनीक का भी सफलतापूर्वक प्रयोग करते हैं। नक़ली सिक्कों से भरी हुई गाड़ी, धोबी अज़ीज़, नमाज़, नींद, शतरंज का खेल, अजगर और गुलाब आदि सभी नाटक की विषयवस्तु को संवेद्य और प्रभावी बनाने वाले सशक्त प्रतीक हैं।

'तुग़लक' में कार्नाड ने प्रस्तुतीकरण के सभी द्वार खुले छोड़ दिए हैं। मंच-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्था, संगीत, वेषभूषा आदि के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रावधान नहीं बताये हैं। निर्देशक की रचनात्मक प्रतिभा और कल्पनाशीलता पर बहुत कुछ छोड़ दिया गया है। नाटक ऐतिहासिक है और उसका अधिकांश घटनाक्रम दिल्ली और दौलताबाद और उनके बीच के रास्ते में घटित होता है इसलिए उसके आवश्यक समय और स्थान का निर्देश किया गया है। दृश्यों के आरम्भ में स्थानों और माहौल का निर्देश है, उनका विवरण बहुत कम है। तेरह दृश्यों के नाटक के लिए आठ दृश्यबंधों की व्यवस्था की गई है जो नाटक के सम्पूर्ण कार्य-व्यापार को गति प्रदान करने में सक्षम हैं। इतना ही नहीं, कार्नाड ने मंचीय प्रदर्शन के लिए बहुत ही कम रंगसामग्रियों का हवाला दिया है। निर्देशक नाटक के काल और घटनाओं की भव्यता के अनुकूल कथा की अन्विति बनाए रखते हुए आवश्यकतानुसार मंच-सज्जा करने को स्वतन्त्र है।

नाटक में यथास्थान भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से आवश्यक रंग-संकेत निर्दिष्ट हैं। संवादों के बीच में विराम, आत्मालाप, पात्रों की मनःस्थितियों, उनके क्रियाकलापों की आपसी प्रतिक्रियाओं आदि का उपयुक्त ढंग से निर्देश किया गया है, जैसे – 'ग़मगीन आवाज़ में', 'बेचैनी के साथ', 'व्यंग्य से', 'झुँझलाकर', 'ख़ौफ़ज़दा होकर', 'पूरी कड़वाहट के साथ', 'चीख़ता हुआ' आदि।

अवसरानुकूल पात्रों के आंगिक अभिनय के निर्देश भी नाटक में दिए गए हैं, जैसे मुहम्मद का हाथ से इशारा करके आवाज़ को ख़ामोश करना, मुहम्मद और शहाबुद्दीन का गले लगना, झुककर बंदगी करना, मुहम्मद का अज़ीज़ के आगे लेटना आदि। नाटककार ने आंगिक अभिनय से अधिक ध्यान चेष्टाओं और भावों पर दिया है। सौतेली माँ के चीख़ने में भय, शेख़ के क़त्ल की बात सुनकर मुहम्मद के चेहरे का रंग फ़ीका पड़ जाना आदि

अभिनय के निर्देश नाटक में उपलब्ध हैं। नाटककार ने पात्रों के क्रियाकलापों, प्रतिक्रियाओं, मनोदशाओं और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भावों को प्रकट करने और उभारने के लिए पर्याप्त रंग-संकेतों का निर्देश किया है।

4.2.13. 'तुग़लक' नाटक में छद्म और सांकेतिकता की अन्तर्धारा

छद्म इस नाटक में एक महत्त्वपूर्ण रंगमंचीय प्रविधि के तौर पर प्रयुक्त हुआ है। यह एक तरफ़ तो सुलतान की नीतियों और योजनाओं की गम्भीरता को कम करता है और दूसरी तरफ़ उसके आदर्शवाद की खिल्ली उड़ाता है। अज़ीज़ नाम का एक धोबी मुसलमान होकर पहले एक ब्राह्मण के भेष में और बाद में ख़लीफ़ा-ए-अब्बासी ख़ानदान के नुमाइंदे ग़ियासुद्दीन अब्बासी के भेष में धर्म और धार्मिक मान्यताओं का खोखलापन उजागर करता है। छद्मभेषधारी अज़ीज़ का स्वागत स्वयं सुलतान ग़ियासुद्दीन अब्बासी के रूप में करते हैं और स्वागत में उसके सामने लेट जाते हैं। अज़ीज़ तुग़लक को हक़-पसंद और मज़हबपरस्त सुलतान कहकर उसे दुआ देता है। एक ताक़तवर सुलतान एक छद्मवेशधारी धोबी के पैरों में गिर जाता है। नाटककार इसके तुरन्त बाद एक हिन्दू औरत द्वारा अज़ीज़ की पहचान का हवाला देता है और फिर जनता से नमाज़ शुरू करने के स्थान पर रोटी देने की बात कहलाकर विडम्बना और विरोधाभास को बहुत तीव्र बना देता है। सुलतान यहाँ दया का पात्र बन जाता है कि जिसके क़दमों में वह झुक रहा है वह वास्तव में आम आदमी है जिसे वह धोखे से धर्मगुरु मान बैठा है। सत्ता धर्म के आगे नतमस्तक है। कार्नाड बहुत कुशलता से स्थापित करते हैं कि ग़ियासुद्दीन अब्बासी के छद्म रूप में आम आदमी इतने बड़े सुलतान से अधिक शक्तिशाली है। यहाँ यह भी ज़ाहिर होता है कि जो सुलतान सियासत और मज़हब को अलग-अलग रखने का पैरोकार हो और जो अपनी आलोचना करने वाले शेख़ इमामुद्दीन को ख़ुद के छद्मभेष में अपने विरोधी के हाथों मरवा देता है, वही सुलतान अपने राज्य की राजनैतिक समस्याओं और अपने मन की उलझनों को दूर करने के लिए एक धर्मगुरु के क़दमों में झुका हुआ है और विडम्बना यह है कि यह धर्मगुरु नक़ली है, छद्मरूप है।

इस नाटक में संकेतों और रूपांकनों के माध्यम से भी बहुत कलात्मक अर्थ प्रस्तुत किये गए हैं। नमाज़, नींद, शतरंज का खेल, अजगर और गुलाब आदि के माध्यम से नाटक की विषयवस्तु को अर्थवान् बनाया गया है और नाटक को कलात्मक ऊँचाई प्रदान की गई है। नमाज़ इस्लाम में एक मुख्य धार्मिक क्रिया है। नाटक में ऊपरी तौर पर यह सुलतान के धार्मिक आदर्शवाद को प्रकट करने का माध्यम दिखाई देती है। लेकिन यदि इसकी व्याप्ति पर ध्यान दिया जाय तो मालूम होता है कि क्रोध और संकट के समय में यह एक व्यक्ति के रूप में सुलतान द्वारा ख़ुदा से मार्गदर्शन और संरक्षण माँगने की क्रिया है। पूरे नाटक में नमाज़ अनेक अर्थों का प्रतिनिधित्व करती है। पहले यह बात सामने आती है कि सुलतान ने नमाज़ के वक़्त अपने वालिद और भाई का क़त्ल किया था। नमाज़ पर पाँच साल तक पाबंदी लगाई जाती है और ख़लीफ़ा-ए-अब्बासी के छद्म नुमाइंदे के आगमन पर यह पाबंदी हटा ली जाती है। सुलतान को मारने के षड्यन्त्र में भी नमाज़ का वक़्त तय किया जाता है। इस प्रकार पवित्र धार्मिक क्रिया को नीचे गिराकर उसकी खिल्ली उड़ाई गई है। सुलतान का धार्मिक आदर्शवाद और उदारतावाद उसे आईना दिखाने लगते हैं।

'नींद' मनुष्य को आराम देने का काम करती है। नाटक के अन्तिम दृश्य में सुलतान को अचानक नींद आने लगती है। वह निराश है और उसका ज़मीर हक़ीक़त से बचने की युक्ति ढूँढ़ रहा है। गुलाब का फूल तुग़लक के संवेदनशील मन और कलात्मक सौन्दर्यबोध का प्रतीक बनकर आता है। वही गुलाब बाद में सुलतान के सभी आदर्शों और सपनों के टूटने और बिखरने का प्रतीक बन जाता है। शतरंज का खेल एक साधारण खेल है जो भारत में आम तौर पर खेला जाता है। नाटक में एक साधारण आदमी द्वारा सियासत के छल-प्रपंच अपनाकर सत्ता के ऊँचे मुक़ाम पर पहुँचने का प्रतीक बनता है। सुलतान अपने शतरंज के दोस्त को उसकी बुद्धिमान चाल के कारण युद्ध के अपराध की माफ़ी दे देता है। इसमें इल्म के प्रति सुलतान की संवेदनशीलता प्रकट होती है।

'तुग़लक' अविश्वास और धोखे से उत्पन्न निराशा और क्रूरता की कहानी भी है। सुलतान अपने महान् इरादों को फलीभूत करने के लिए अपनी जनता और मुलाज़िमों के विश्वास पर बहुत साहसिक फ़ैसले लेता है। उसके फ़ैसलों की महानता का सन्देश जनता तक सही ढंग से नहीं पहुँच पाता है। धार्मिक नेता, मुलाज़िम और समाज के स्वार्थी तत्त्व उन फ़ैसलों का विरोध करते हैं, उसे मारने तक का षड्यन्त्र करते हैं। इन सब विरोधी तत्त्वों को दबाने के लिए वह भी धोखे और छल का सहारा लेता है। उसके आदर्शों पर हिंसा हावी हो जाती है, वह अपने विरोधियों को समाप्त करने में उलझ जाता है और उन्माद की अवस्था में पहुँच जाता है। तुग़लक के साथ धोखा होता है और स्वयं तुग़लक अपने विरोधियों को धोखे से मिटाता है; नाटक की त्रासदी का यह मुख्य घटनास्थल है।

4.2.14. पाठ का सारांश

इस पाठ में आपने गिरीश कार्नाड के चर्चित नाटक 'तुग़लक' का अध्ययन किया। आपने देखा कि इस नाटक में नाटककार ने ऐतिहासिक परिस्थितियों और चरित्रों के माध्यम से वर्तमान युग की समस्याओं को रेखांकित किया है। ऐतिहासिक रूप से तुग़लक को एक सनकी बादशाह माना जाता है जिसने अपने शासनकाल में कई मनमाने फैसले लिये, जिनसे जनता को भारी कष्ट उठाने पड़े। नाटककार ने तुग़लक के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को उभारा है और उसके परिवेश की विद्रूपताओं को प्रकट किया है।

मूल कथानक के साथ अज़ीज़ और आज़म के उप-कथानक के संयोजन से नाटक की विषयवस्तु एकदम स्पष्ट हो गई है। कार्नाड ने तुग़लक को एक ऐसे आत्मविमुख नायक के रूप में प्रस्तुत किया है जो एक तरफ़ अपने आप से, अपने अस्तित्व से अलगाव का अनुभव करता है और दूसरी तरफ़ अपने परिवेश से भी हताश हो चुका है। एक संवेदनशील व्यक्ति और महान् सुलतान अपने ऊँचे इरादों को अपने सामने असफल होते हुए देखने को मजबूर है। नाटककार ने तुग़लक के इस विलगाव को कई अन्य पात्रों के विलगाव की पृष्ठभूमि प्रदान की है जिससे नाटक की त्रासदी उभर कर सामने आ जाती है।

4.2.15. कठिन शब्दावली

अक़्ले-सलीम	:	सद्बुद्धि, संतुलित बुद्धि
अज़मत	:	प्रतिष्ठा, इज्ज़त, आदर
अलामत	:	चिह्न, निशान, लक्षण, पहचान
अहमक़	:	मूर्ख, गँवार, अनाड़ी
आलिम-फ़ाज़िल	:	बहुत बड़ा विद्वान्, सभी विद्याओं का ज्ञाता
इक़्तिदार	:	सत्ता, प्रभुत्व, शासन; रुतबा, सम्मान
इलहाम	:	देववाणी, ईश्वर की ओर से हृदय में आयी हुई बात
उज़्र	:	आपत्ति, एतराज़; विवशता, मजबूरी
उमूमी	:	सार्वजनिक, अवामी, जनसाधारण से सम्बन्ध रखने वाला
एतिक़ाद	:	पूरा भरोसा, पूर्ण विश्वास
एतमाद	:	भरोसा, सहारा; विश्वास, यक़ीन
कफ़्फ़ारा	:	किसी पाप से शुद्धि के लिए किया जाने वाला कार्य, प्रायश्चित
क़यामगाह	:	निवास-स्थान, ठिकाना
क़हत	:	अकाल, अभाव
कार-आमद	:	उपयोगी, उपयुक्त
क़ासिद	:	पत्रवाहक, दूत; इरादा करने वाला
क़ूव्वत	:	सामर्थ्य, शक्ति, बल
ख़ुदातर्स	:	ईश्वर से डरने वाला, दूसरों पर दया करने वाला, दयावान्
ख़ूरेज़	:	ख़ून बहाने वाला, हत्यारा, हिंसक, निर्दय
ग़ारत	:	नष्ट करना, बरबाद, लुटा-पिटा
ग़िलाज़त	:	गन्दगी, अपवित्रता
ग़ैबी	:	आकाशीय, ख़ुदाई, परोक्ष
ग़ैर-आईनी	:	जो क़ानून के विरुद्ध हो, अवैध
ग़ैर-मुसल्लह	:	निरस्त्र
ज़रर	:	हानि, आघात, अनिष्ट
ज़ानू	:	घुटना
तख़य्युल	:	सोचना, विचारना, ख़याल करना, कल्पना करना
तजवीज़	:	विचार, सलाह, योजना, उपाय, निर्णय, प्रबन्ध
तरद्दुद	:	चिन्ता, दुविधा, असमंजस, परेशानी
तर्ज़े-अमल	:	कर्म, कार्य, लोकाचार
तशद्दुद	:	अत्याचार करना
तशवीश	:	चिन्ता, भय, घबराहट, आतुरता
तसलीम	:	स्वीकार करना, सौंपना, आज्ञा का पालन करना
ताज़ीम	:	आदर, सम्मान; प्रणाम
दरियाफ़्त	:	जाँच, अनुसन्धान

दानिशमंदी	:	विद्वता, बुद्धिमत्ता, कुशलता
दायमी	:	चिरस्थायी, अमर, अविनाशी
दारुल-ख़िलाफ़ा	:	राजधानी
नाक़िस	:	अपूर्ण, विकृत, मिथ्या, खोटा, कूट, धूर्त
नाज़िल	:	ऊपर से नीचे आया हुआ, उतरा हुआ
नुजूमी	:	ज्योतिषी
पेशबंदी	:	किसी काम की पेशगी, षड्यन्त्र
पैग़ाम-रसाँ	:	सन्देशवाहक, दूत
फ़राग़त	:	अवकाश, छुट्टी, मुक्ति, छुटकारा; समृद्धि, सुख, आराम
फ़ैज़याब	:	यशस्वी, लाभार्थी
बदख़ोई	:	स्वभाव का रूखापन, कड़वाहट
बसरोचश्म	:	सर आँखों पर, ख़ुशी के साथ, सहर्ष
बहिश्त	:	स्वर्ग
बायस	:	कारण
बीनाई	:	आँखों की ज्योति, दृष्टि, नज़र
बेनज़ीर	:	अद्वितीय, अनुपम, बेमिसाल
मक़सूद	:	उद्देश्य, मंशा
मख़लूक़	:	उत्पन्न, जनित; संसार, मनुष्य, दुनिया वाले
मरकज़	:	केन्द्र, मुख्यालय, राजधानी
मसर्रत	:	हर्ष, आनन्द, ख़ुशी
महसूल	:	किराया, भाड़ा
मुतास्सिर	:	प्रभावित
मुनहसिर	:	आश्रित, अवलम्बित
मुफ़स्सिल	:	स्पष्टीकरण देने वाला, विवरण बताने वाला
मुसाहिब	:	किसी बड़े आदमी के साथ उठने-बैठने वाला, महत्त्वपूर्ण व्यक्ति
मुस्तक़बिल	:	भविष्य, आगामी
मोतक़िद	:	धर्म में विश्वास रखने वाला, श्रद्धालु
मोतबिर	:	विश्वस्त, जिसका विश्वास किया जाता हो
रिआया	:	जनता
लियाक़त	:	योग्यता, पात्रता; उत्साह; सामर्थ्य
वक़्फ़	:	ख़ुदा के नाम पर दान की हुई वस्तु, व्यक्ति-विशेष के लिए अलग से रखी हुई वस्तु
वफ़ात	:	मृत्यु
शफ़क़त	:	कृपा, दया, सहानुभूति, आत्मीयता
शमशीर	:	तलवार
सदाक़त	:	सच्चाई, वास्तविकता
सफ़ीर	:	पत्रवाहक, दूत

सरज़द	:	घटित, जो हो चुका हो
सिफ़्त	:	मोती वस्तु, मोटा कपड़ा
हक़ीक़ी	:	सच्चा, वास्तविक, यथार्थ
हक़ीर	:	तुच्छ, बहुत छोटा, बहुत कम, क्षुद्र, कमीना
हसद	:	ईर्ष्या, जलन
हस्बे-साबिक़	:	पहले की तरह, यथास्थिति

4.2.16. बोध प्रश्न

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. तुग़लक ने अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद ले जाने का फ़ैसला क्यों किया ?
2. अज़ीज़ और आजम के चरित्रों में अन्तर बताइए।
3. तुग़लक द्वारा ताँबे के सिक्के चलाने फैसले का क्या कारण था ?
4. नाटक में 'नमाज़' के रूपांकन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. अज़ीज़ और आज़म के उप-कथानक की सार्थकता पर प्रकाश डालिए।
6. तुग़लक और सौतेली माँ के सम्बन्धों की चर्चा कीजिए।

दीर्घ उत्तरात्मक प्रश्न

1. "गिरीश कार्नाड का नाटक 'तुग़लक' ऐतिहासिक विषयवस्तु को समकालीन सन्दर्भों में प्रस्तुत करता है।" समझाइए।
2. 'तुग़लक' नाटक की प्रासंगिकता पर सविस्तार टिप्पणी कीजिए।
3. 'तुग़लक' में प्रस्तुत धर्म और राजनीति के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
4. कार्नाड द्वारा 'तुग़लक' में प्रयुक्त संकेतों की सार्थकता बताइए।
5. "तुग़लक स्वतन्त्र भारत के आरम्भिक दो दशकों के राजनैतिक वातावरण की आलोचना प्रस्तुत करता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
6. "तुग़लक की असफलता उसके समझौताविहीन आदर्शवाद में निहित है।" विश्लेषण कीजिए।

4.2.17. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

4.2.17.1. हिन्दी की पुस्तकें

1. कार्नाड, गिरीश. (2016). तुग़लक. नई दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लिमिटेड. ISBN : 978-81-7119-790-3

2. तनेजा, जयदेव. (2010). आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श. नई दिल्ली. राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लिमिटेड. ISBN : 978-81-8361-391-0
3. तनेजा, जयदेव. (2006). आधुनिक भारतीय रंगलोक नयी दिल्ली. भारतीय ज्ञानपीठ. ISBN : 81-263-1153-3
4. 'मद्दाह', मुहम्मद मुस्तफ़ा ख़ाँ. (1982). उर्दू-हिन्दी शब्दकोश. लखनऊ. उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान.

4.2.17.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Dharwadkar, Aparnaa Bhargava. (2005). Theatres of Independence : Drama, Theory and Urban Performance in India Since 1947. Iowa City (U.S.A.). University of Iowa Press. ISBN : 0-87745-961-4
2. Karnad, Girish. (1996). Three Plays. Oxford University Press. New Delhi. ISBN : 978-0-19563765-6
3. Karnad, Girish. (2010). Tughlaq. Oxford University Press. New Delhi. ISBN : 978-0-19560226-5
4. Kulkarni, Dr. Prafull D. (2010). The Dramatic World of Girish Karnad. Nanded. Creative Books. ISBN : 978-81-906717-5-0.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : कहानी

इकाई – 1 : बांग्ला : काबुलीवाला – रवीन्द्रनाथ टैगोर

इकाई की रूपरेखा

5.1.00. उद्देश्य कथन
5.1.01. प्रस्तावना
5.1.02. रवीन्द्रनाथ टैगोर : जीवन और साहित्य : संक्षिप्त परिचय
5.1.03. टैगोर का साहित्य-दर्शन
5.1.04. कहानीकार टैगोर
5.1.05. टैगोर की कहानियाँ : कला और अन्तर्वस्तु
5.1.06. 'काबुलीवाला' कहानी : संवेदना और रचना-प्रक्रिया
5.1.07. 'काबुलीवाला' कहानी : आलोचनात्मक परिचय
5.1.08. 'काबुलीवाला' कहानी : परिवेश और विषयवस्तु
5.1.09. 'काबुलीवाला' कहानी का उद्देश्य
5.1.10. 'काबुलीवाला' कहानी : चरित्र-चित्रण
    5.1.10.1. काबुलीवाला (रहमान)
    5.1.10.2. मिनी
    5.1.10.3. वाचक (मिनी के पिता)
    5.1.10.4. मिनी की माँ
5.1.11. 'काबुलीवाला' कहानी : संवेदना और संरचना
    5.1.11.1. स्नेह और मित्रता का बन्धन
    5.1.11.2. मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं का उत्कर्ष
    5.1.11.3. प्रेम और प्रतीक्षा की वेदना
    5.1.11.4. सहानुभूति, उदारता और भविष्य के प्रति विश्वास
5.1.12. पाठ का सारांश
5.1.13. बोध प्रश्न
5.1.14. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

5.1.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रवीन्द्रनाथ टैगोर के जीवन और रचना-कर्म से परिचित हो सकेंगे।
ii. रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी-कला की विशेषताओं को जान पाएँगे।
iii. रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'काबुलीवाला' की अन्तर्वस्तु और शिल्प को समझ सकेंगे।

5.1.01. प्रस्तावना

पाठ्यचर्या 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' के खण्ड – 5 के अन्तर्गत आप भारतीय भाषाओं की चुनी हुई कहानियों का अध्ययन करेंगे। इस खण्ड की अलग-अलग इकाइयों में आप बांग्ला, उर्दू और राजस्थानी भाषाओं की कहानियाँ पढ़ेंगे। बांग्ला से रवीन्द्रनाथ टैगोर की प्रसिद्ध कहानी 'काबुलीवाला', उर्दू से सआदत हसन मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' तथा राजस्थानी से विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' आपके पाठ्यक्रम के लिए निर्धारित की गई हैं। इन कहानियों के अध्ययन से आपको भारतीय साहित्य के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी और आप भारत के सामाजिक जीवन के साथ साहित्य के बहुआयामी सम्बन्धों को समझ पाएँगे। प्रस्तुत इकाई में आप रवीन्द्रनाथ टैगोर की बांग्ला कहानी 'काबुलीवाला' का अध्ययन करेंगे।

5.1.02. रवीन्द्रनाथ टैगोर : जीवन और साहित्य : संक्षिप्त परिचय

बांग्ला साहित्य और रवीन्द्रनाथ टैगोर के बारे में आप इस पाठ्यचर्या के खण्ड – 2 की इकाई – 2 में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। बहुमुखी प्रतिभा के धनी और भारतीय संस्कृति के नायक टैगोर के व्यक्तित्व और कृतित्व के सभी पक्षों को एक जगह समेटना असम्भव कार्य है। फिर भी आपके पाठ्यक्रम की दृष्टि से कुछ पहलुओं पर संक्षेप में एक बार फिर विचार करने से उन्हें अधिक नज़दीक से जानने-समझने में सहायता मिलेगी।

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म 7 मई सन् 1861 को कोलकाता के एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे देवेन्द्रनाथ टैगोर और शारदा देवी की चौदहवीं संतान थे। उनसे छोटे एकमात्र भाई बुधेन्द्रनाथ की बहुत छोटी उम्र में ही मृत्यु हो गई थी। पूर्वी बंगाल में स्थित पुश्तैनी कृषिभूमि से उनके परिवार को बहुत अच्छी आय होती थी। कोलकाता के प्रमुख आवासीय क्षेत्र में 'जोरासांको ठाकुरबाड़ी' (Jorasanko Thakurbari) नाम से उनकी बहुत बड़ी कोठी थी, जो पश्चिमी कला, साहित्य और विज्ञान के विभिन्न तत्त्वों को अपनी संस्कृति में समाहित कर उसे उन्नत बनाने का प्रयत्न करने वाले सम्भ्रान्त बंगालियों का केन्द्र थी। उनके पिता हिन्दू सुधारवादी संस्था 'ब्रह्मसमाज' के मुख्य कार्यकर्ता थे। पारिवारिक वातावरण संगीत, साहित्य और नाटक सम्बन्धी गतिविधियों से भरा हुआ था। रवीन्द्रनाथ टैगोर कलाकारों और बुद्धिजीवियों की इन्हीं गतिविधियों के बीच पले-बड़े थे।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कोलकाता की ट्रेनिंग अकादमी तथा नार्मल स्कूल में हुई। यहाँ से उन्होंने बांग्ला भाषा और साहित्य की शिक्षा प्राप्त की, जिससे उनके साहित्यिक जीवन की सुदृढ़ नींव पड़ी। औपचारिक शिक्षा में उनका मन नहीं लगा। स्कूलें बदलने पर भी रवीन्द्रनाथ संतुष्ट नहीं हुए और अन्त में उन्होंने स्कूल की शिक्षा छोड़ दी। 1873 में रवीन्द्रनाथ अपने पिता के साथ उत्तरी भारत तथा हिमालय की यात्रा पर गए। इस यात्रा में पिता की स्नेहिल निकटता और प्रकृति की व्यापकता ने उनके मन-मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी। आगे चलकर उनकी शिक्षा और साहित्यिक अभ्यास घर पर ही हुआ। संस्कृत और अंग्रेज़ी के विद्वान् शिक्षक उन्हें पढ़ाने उनके घर आते थे जिससे वे इन दोनों भाषाओं के साहित्य में भी प्रवीण हो गए।

सन् 1874 में उन्होंने सार्वजनिक रूप से कविता-पाठ करना शुरू कर दिया था। उनकी पहली प्रकाशित कविता 'अभिलाष' थी जो 'तत्त्वबोधिनी' पत्रिका में अग्रहायण 1281 बंगाब्द में प्रकाशित हुई थी। कुछ लोग 1874 में 'बंगदर्शन' में प्रकाशित 'भारतभूमि' शीर्षक कविता को उनकी पहली प्रकाशित कविता मानते हैं। इसके बाद चार वर्ष तक उन्होंने कविता पाठ करने तथा कहानियों, निबन्धों और नाटकों के लेखन में कुछ प्रयोग करते हुए व्यतीत किए। 1878 में क़ानून के क्षेत्र में अपना करियर बनाने के विचार से वे यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन गये लेकिन इस पढ़ाई से असंतुष्ट होकर 1880 में वे वापस हिन्दुस्तान आ गए। उनका लंदन-प्रवास अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं रहा, फिर भी इन चौदह महीनों में उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ यूरोपीय कला, संगीत और नाटक का परिचय प्राप्त किया और अपने बौद्धिक क्षितिज का विस्तार किया। 09 दिसंबर 1883 को रवीन्द्रनाथ टैगोर का विवाह उनकी पारिवारिक जागीर के एक पदाधिकारी की पुत्री मृणालिनी से हुआ।

1890 में रवीन्द्रनाथ को उनके पिता ने पूर्वी बंगाल स्थित उनकी जागीर की देखभाल के लिए सिलाईदाह भेजा। यहाँ उन्हें बंगाली किसानों की दैनिक गतिविधियों तथा प्रकृति के विभिन्न रूपों और ग्रामीण जीवन को गहराई से देखने-समझने का अवसर मिला। इस दौर में टैगोर की संवेदना तीव्र हुई और उन्हें अपनी रचनाओं के लिए पर्याप्त विषयवस्तु उपलब्ध हुई। इसी दौरान उन्होंने कहानियाँ लिखना शुरू किया और बांग्ला में कहानी विधा के विकास में अपना ऐतिहासिक योगदान दिया। 1891 में उन्होंने 'साधना' नामक मासिक पत्रिका शुरू की, जिसमें उनकी भी कई रचनाएँ प्रकाशित हुईं। टैगोर ने साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों पर व्याख्यान देना तथा अपने शैक्षिक सिद्धान्तों पर काम करना शुरू कर दिया था। सिलाईदाह से वे अपने परिवार सहित शान्तिनिकेतन आ गए जहाँ उन्होंने अपनी प्रायोगिक पाठशाला की स्थापना की। 1901 में वे 'द बेंगॉल रिव्यू' के सम्पादक बन गए तथा अपने समय की सामाजिक राजनैतिक परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करने वाले उपन्यास लेखक के रूप में सामने आए। बंगाल-विभाजन के मुद्दे पर वे विभाजन-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता बनकर उभरे। उन्होंने देशभक्ति और जनान्दोलन के गीत लिखे। परन्तु आन्दोलन में बढ़ती हुई हिंसा और उसमें सामाजिक सुधार की कमी से चिन्तित होकर राजनीति से हट गए और शान्तिनिकेतन में रहकर शैक्षणिक और साहित्यिक गतिविधियों पर अपना ध्यान लगा दिया। जीवन के आध्यात्मिक सार तथा सभी वस्तुओं में अन्तर्निहित दिव्यता में उनका विश्वास उनके इस दौर के साहित्य में दृष्टिगत होता है। ईश्वर के आत्मिक साक्षात्कार का भाव उनकी रचनाओं में प्रमुखता से अभिव्यक्त होने लगा। एकान्त के इसी दौर में 1910 में इसी भाव-संसार की कविताएँ 'गीतांजलि' शीर्षक से प्रकाशित हुईं। 'गीतांजलि' के प्रकाशन के साथ ही टैगोर एक व्यक्ति कवि से एक सार्वभौमिक कवि के रूप में सामने आए और उन्हें विश्व स्तर पर पहचान मिली। 'गीतांजलि' के लिए ही टैगोर को साहित्य का नोबल पुरस्कार दिया गया।

हिन्दुस्तान से बाहर दूसरे देशों में टैगोर का परिचय 'इंडिया सोसायटी इन लंदन' के संचालक तथा चित्रकार विलियम रोट्स्टीन के माध्यम से हुआ। 1912 में रोट्स्टीन ने इंडिया सोसायटी के सदस्यों के लिए 'गीतांजलि' के निजी अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन की व्यवस्था की। इसकी भूमिका अंग्रेज़ी के कवि विलियम बटलर यीट्स ने लिखी। अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशन से टैगोर का परिचय उस दौर के प्रमुख लेखकों और

आलोचकों से हुआ। टैगोर की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण यूरोप और अमेरिका में पहुँच गई। 1913 में 'गीतांजलि' के सार्वजनिक संस्करण का प्रकाशन हुआ। 1913 में टैगोर को साहित्य का नोबल पुरस्कार मिला। कोलकाता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि प्रदान की तथा 1915 में ब्रिटेन की सरकार ने उन्हें नाइटहुड से नवाज़ा। उन्होंने 1918 में शान्तिनिकेतन में 'विश्वभारती' की स्थापना की। 1919 के जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के विरोध में टैगोर ने नाइटहुड का खिताब लौटा दिया। अपने जीवन के अन्तिम दो दशकों में उन्होंने विश्वमानवता और विश्वशान्ति के अपने आदर्शों के प्रचार-प्रसार के लिए विश्व के कई देशों का भ्रमण किया और व्याख्यान दिए। साठ वर्ष की आयु के बाद उन्होंने चित्रकला के क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। विदेशों में भी उनके चित्रों की प्रदर्शनियाँ लगीं। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर सम्मानित किया। लम्बी बीमारी के बाद 7 अगस्त 1941 को कोलकाता के अपने पैतृक आवास में टैगोर का देहान्त हो गया।

5.1.03. टैगोर का साहित्य-दर्शन

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रवीन्द्रनाथ टैगोर एक ऐसे मानवतावादी सुधारक के रूप में जाने जाते हैं जिन्होंने मनुष्य और प्रकृति, भौतिकता और अध्यात्म तथा राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बीच समन्वय के आधार पर अपने मौलिक और विशिष्ट दर्शन का प्रणयन किया। टैगोर ने प्राचीन भारतीय धार्मिक ग्रन्थों और प्राचीन कवियों एवं दार्शनिकों की रचनाओं के साथ-साथ पाश्चात्य दर्शन और यूरोपीय साहित्य का अन्तःप्रज्ञात्मक संश्लेषण करके जीवन में अन्तर्भूत सम्पूर्णता के अपने दर्शन का विकास किया। साहित्य की सभी विधाओं में अधिकारपूर्वक लिखने वाले लेखक के रूप में टैगोर का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है, लेकिन कवि के रूप में वे गीतिकाव्य के विश्व के महान् कवि माने जाते हैं। यद्यपि उनका साहित्य भारत के सामाजिक इतिहास पर आधारित है, परन्तु जीवन की एकता और मनुष्य की महानता की अभिव्यक्ति में उनकी प्रतिभा उनके साहित्य को वैश्विक फ़लक प्रदान कर देती है।

टैगोर की साहित्य-साधना का मुख्य आधार मनुष्य-जीवन और प्रकृति है। उनके अनुसार समग्र मनुष्य को प्रकाश में लाने की चेष्टा ही साहित्य का प्राण है। वे साहित्य को सभी देशों की मानवता का अक्षय भण्डार मानते थे। प्रकृति और साहित्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि "चाहे निजी सुख-दु:खों की अनुभूति द्वारा हो, चाहे दूसरों के सुख-दु:खों के ज्ञान द्वारा हो, चाहे प्रकृति-वर्णन द्वारा हो, चाहे मानव-चरित्र के चित्रण द्वारा हो, मनुष्य को अभिव्यक्त करना ही साहित्य-धर्म है। शेष सब उपलक्ष्य मात्र हैं। प्रकृति-वर्णन भी उपलक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि साहित्य का काम यह दिखाने का नहीं है कि प्रकृति का यथार्थ स्वरूप क्या है। साहित्य यह प्रदर्शित करता है कि प्रकृति मनुष्य के अन्तर में, मनुष्य के सुख-दु:खों के चारों ओर किस प्रकार अपने को व्यक्त करती है। इसी प्रकार विशुद्ध सौन्दर्य की अभिव्यंजना भी साहित्य का उद्देश्य (साध्य) न होकर साहित्य के भीतर से मानवत्व को प्रकाशित करने का एक साधन मात्र है।" (विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पृष्ठ 132-133) मनुष्य जीवन को सर्वोपरि मानकर ही वे साहित्य-सृजन में प्रवृत्त हुए थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि "जीवन महाशिल्पी है। वह युग-युग में, देश-देशान्तर में, मनुष्य को नाना भावों से चित्रित करता है। लाखों मनुष्यों का मुखमण्डल आज विस्मृति के अन्धकार में अदृश्य है तो शत सहस्र ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष हैं, इतिहास में जो आज

भी उज्ज्वल हैं। जीवन का यह सृष्टि-कार्य साहित्य में समुचित स्थान पाता है तभी वह अक्षय हो सकता है।" (टैगोर का साहित्य-दर्शन; पृष्ठ 36) टैगोर ने अपनी कहानियों के बारे में बताया है कि "... जो कुछ मैंने लिखा है, अपनी आँखों से देखा हुआ, हृदय से अनुभव किया हुआ – वह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव था। कहानियों में मैंने जो कुछ लिखा है उसके मूल में मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है – अपनी आँखों देखी घटनाएँ और चरित्र हैं। उनको केवल रागात्मक कल्पना से प्रेरित मानना ठीक नहीं होगा। सोचकर देखने से तुम्हें पता लगेगा कि जो छोटी-छोटी कहानियाँ मैंने लिखी हैं, उन्हीं में सबसे प्रथम बंगाली समाज के वास्तविक जीवन का यथार्थ चित्र चित्रित हुआ है।"

5.1.04. कहानीकार टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर की पहली कहानी 'भिखारिणी' 1877 में लिखी गई थी। उस समय वे 16 वर्ष के थे। 'भिखारिणी' कहानी किसी मुद्दे के स्थान पर एक प्रकार की विरक्ति से प्रेरित है।

अपनी कई प्रारम्भिक रचनाओं को बाद में उन्होंने 'सुस्त कल्पना के चक्रवात के भँवर में भटकने वाले भाप भरे बुलबुले' कहकर निरस्त कर दिया था। टैगोर को छोटी कहानियाँ लिखने की प्रेरणा बंगाल के गाँवों और प्रकृति के निकट अनुभव से प्राप्त हुई थी। इसलिए उनकी अधिकांश कहानियों में प्रत्यक्ष रूप में अनुभव की गई घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण तथा प्रत्यक्ष देखे गए व्यक्तियों की कहानियों के पात्रों के रूप में रचना हुई है। उनकी कहानियाँ जीवन के ठोस यथार्थ से उपजी हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर उन्होंने अपनी कहानियों में यथार्थ-जीवन के वास्तविक चित्र ही खींचे हैं और उन्हीं के आधार पर मनुष्य-जीवन के सूक्ष्म भावों और संघर्षों का निरूपण किया है। अपनी कहानियों की पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए एक साक्षात्कार में टैगोर ने बताया है कि ज़मींदारी के दायित्व को निभाने के क्रम में उन्हें गाँवों में जाना पड़ता था और इसी सिलसिले में उनका सम्पर्क गाँव के लोगों और उनकी सीधी-सरल जीवन-प्रणाली से हुआ। उन्हें ग्रामीण बंगाल के प्राकृतिक सौन्दर्य ने भी प्रभावित किया। उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ इसी पृष्ठभूमि में लिखी गई थीं और उनमें ग्रामीण लोगों के साथ टैगोर के सम्बन्धों का ही वर्णन है। यद्यपि उनकी सभी कहानियाँ ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं हैं, लेकिन अधिकांश ऐसी ही है। अपनी धरती के साथ सीधे सम्पर्क से उन्हें अपने देश के ग़रीब, वंचित और पिछड़े हुए लोगों के जीवन-संघर्ष को नज़दीक से देखने का अवसर मिला, जिसे उन्होंने अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया। एक ओर प्रकृति और ग्रामीण जीवन के प्रति प्रेम तथा दूसरी ओर ग्रामीण लोगों के कष्टों को दूर करने की आवश्यकता ने उन्हें कहानियाँ लिखने को प्रेरित किया। मई 1891 में टैगोर परिवार ने एक नई मासिक पत्रिका 'साधना' की शुरूआत की। टैगोर पहले इसके मुख्य लेखक और बाद में सम्पादक बन गए। यह पत्रिका चार वर्ष तक (1891 से 1895 तक) प्रकाशित हुई। कहानी लेखन की दृष्टि से टैगोर के लिए यह समय बहुत रचनात्मक साबित हुआ। इस दौर में उनकी 36 कहानियाँ प्रकाशित हुईं, जिनमें 'मुक्ति उपाय', 'त्याग', 'काबुलीवाला', 'महामाया', 'सम्पादक' और 'शास्ति' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्षों के अन्तराल के बाद एक अन्य पारिवारिक पत्रिका 'भारती' के प्रकाशन के साथ उनके कहानी लेखन का दूसरा दौर शुरू हुआ। 'अध्यापक',

'उद्धार', 'दुर्बुद्धि' आदि प्रसिद्ध कहानियाँ 'भारती' में ही प्रकाशित हुई थीं। उनकी कुछ कहानियाँ 'प्रदीप', 'प्रबासी' और 'सबुजपत्र' आदि पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुईं।

कहानीकार के रूप में रवीन्द्रनाथ टैगोर की गिनती विश्व के महान् कहानीकारों में होती है। लेकिन उनकी कहानियों पर विचार करने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि कहानियाँ लिखना उनके जीवन का मुख्य कार्य नहीं था। यह कार्य उन अनेक तरीकों में से एक था जिनसे उनकी बहुमुखी प्रतिभा अभिव्यक्त होना चाहती थी। उनके भीतर रचनात्मक ललक इतनी तीव्र और गहरी थी कि साठ साल से अधिक के अनवरत लेखन से भी वे न तो थके और न ही संतुष्ट हुए। उनके लेखन की मात्रा, गुणवत्ता और विविधता अद्‌भुत और आश्चर्यजनक है। लेखक के रूप में उनकी यह गहराई और व्यापकता उनके समृद्ध और उदात्त व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।

टैगोर को आधुनिक बांग्ला कहानी का आविष्कारक माना जाता है। उन्हें यह श्रेय भी दिया जाता है कि उन्होंने बांग्ला साहित्य में देशज भाषा के प्रयोग की शुरूआत की। उनकी कहानियाँ प्रायः ग्रामीण बंगाल के सामाजिक जीवन पर आधारित होती हैं। उनके पात्र समाज के वंचित और पिछड़े क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं। उनकी कई कहानियों में विचित्र और अलौकिक तत्त्व भी समाहित किए गए हैं, लेकिन सामाजिक यथार्थ के चित्रण के प्रति उनका समर्पण अतुलनीय है।

5.1.05. टैगोर की कहानियाँ : कला और अन्तर्वस्तु

कहानी आधुनिक साहित्य की एक मुख्य विधा है। टैगोर की कहानियाँ मूल रूप से बांग्ला भाषा में लिखी गई हैं। उनका अंग्रेज़ी, हिन्दी और अन्य अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ है। उनकी कहानियों का वाचक प्रथम, द्वितीय और तृतीय पुरुष में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए इन कहानियों में चरित्र-चित्रण बहुत जीवन्त रूप से सामने आता है और उनके चरित्र देश-काल की सीमाओं को पार कर सार्वभौमिक बन जाते हैं। कहानी के आरम्भ में जीवन की सामान्य दैनन्दिन गतिविधियों में सक्रिय एक या दो पात्र प्रस्तुत किए जाते हैं। बाद में उनके जीवन में कोई कठिन मोड़ आता है और वे उसमें संलग्न हो जाते हैं। यह कठिन मोड़ उनकी मूल मानवीय इच्छाओं, आत्मसम्मान की भावना, स्वतन्त्रता, व्यक्तित्व की पहचान, अपने निकट सम्बन्धी या मित्र के प्रति स्नेह और धर्म या जाति आदि के कारण उत्पन्न सामाजिक भेदभाव के रूप में आता है। ये पात्र देश-काल की परिस्थितियों के सन्दर्भ में अपना पक्ष चुनते हैं और कहानी मानवीय संवेदना के धरातल पर अपने उत्कर्ष को प्राप्त होती है। प्रायः उनकी कहानी एक वाचक द्वारा कही जाती है, लेकिन उसके पात्र उसमें बहुत सक्रिय और स्वाभाविक भूमिकाएँ निभाते हैं और उनके जीवन की उथल-पुथल कहानी को चरम तक ले जाती है। इसी से पाठकों के मन में उन पात्रों के प्रति संवेदना पैदा होती है।

टैगोर की कहानियों में बच्चों के प्रति स्नेह अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। टैगोर ने बच्चों का अकेलापन, बड़ों द्वारा उनकी उपेक्षा, समाज द्वारा उनके साथ किया गया क्रूर व्यवहार तथा प्रेम और अपनत्व की उनकी चाह को अभिव्यक्त किया है। वे बच्चों के बाहरी आचरण के निरपेक्ष निरीक्षक मात्र नहीं थे, बल्कि बाल

मन के भीतरी स्वरूप के विश्लेषक थे। वे बच्चों के भाव-जगत् में गहरे उतर कर उनकी अनकही खुशियों और अनबूझी वेदनाओं की पहचान करने वाले लेखक थे। वे बच्चों की कल्पनाओं को पूर्ण विस्तार और जीवन्तता के साथ प्रस्तुत करने वाले संवेदनशील कलाकार थे।

टैगोर ने सैकड़ों कहानियाँ लिखी हैं लेकिन उनकी कला की यह विशेषता है कि उनकी कोई भी दो कहानियाँ एकदम एक जैसी नहीं हैं। इसलिए उनकी कहानियों के माध्यम से मानवीय अस्तित्व और भाव-जगत् का विस्तृत परिदृश्य पाठकों के सामने उपस्थित होता है। कहानी विधा में टैगोर ने किसी आदर्श या पैटर्न को नहीं अपनाया। उनके लिए इस विधा की कोई स्थापित परम्परा नहीं थी। भारत में इस विधा में लिखने वाले वे आरम्भिक लेखक थे।

स्वयं टैगोर अपनी कहानियों को अपने पाठकों के आनन्द के लिए लिखी गई कलात्मक रचनाएँ तथा नैतिक पाठ सिखाने के लिए एक अध्यापक के प्रयास कह कर उनका विश्लेषण करते हैं। उनकी कहानियों में एक ओर व्यक्तिगत भावनाओं के विभिन्न पक्षों को उकेरा गया है तो दूसरी ओर देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और राजनैतिक परिवेश का चित्रण भी किया गया है। उनकी कहानियों में कला और नैतिकता का मणिकांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है। एक सुधारवादी लेखक और चिन्तक होने के कारण टैगोर अपनी कहानियों में मानवीय मूल्यों को सदैव प्राथमिकता देते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियों में मनुष्य जीवन और मानव-प्रकृति की अच्छाइयों और बुराइयों दोनों को प्रस्तुत किया गया है। वे मनुष्य जीवन के सुख-दुःख को अच्छी तरह समझते हैं और जीवन की साधारण घटनाओं में छिपे महान् सन्देश को पहचान लेते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में सामाजिक सन्दर्भों, मनोवैज्ञानिक समस्याओं, सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर विचार करते हुए मानव-जीवन की उलझनों को कलमबद्ध किया है।

टैगोर की कहानियों की शिल्पगत विशेषताएँ – बिना किसी भूमिका के कथानक का आरम्भ, उसका त्वरित विकास तथा अर्थपूर्ण उत्कर्ष – आरम्भिक बंगाली कहानी की विशेषताएँ बन गए थे। यथार्थ पर आधारित और मानवीय सम्बन्धों की सूक्ष्म बुनावट से रची हुई उनकी कहानियाँ समाज की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आलोचना प्रस्तुत करती हैं। ऊपर से साधारण दिखने वाली ये कहानियाँ गहन जटिलताओं से भरी हुई हैं और मानव मन के उलझे हुए पक्षों की थाह लेती हैं। भाषा की सरलता और साधारण विषयवस्तु का चयन टैगोर की कहानी कला की प्रमुख विशेषताएँ है।

अपनी कहानी लेखन-यात्रा का आरम्भ उन्होंने स्त्रियों के उद्धार, जाति-भेद और लिंग-भेद की समाप्ति, विधवाओं के अधिकारों के समर्थन और बाल-विवाह के विरोध में कहानियाँ लिखकर किया था। आगे चलकर उन्होंने अपना ध्यान राजनैतिक संकट, अंग्रेज़ी राज के प्रभाव, सामाजिक आन्दोलनों आदि व्यापक विषयों पर केन्द्रित करते हुए विधवा पुनर्विवाह, शैक्षणिक सुधारों, जाति और धार्मिक विद्वेष और वैयक्तिक लालच और स्वार्थपरता जैसे विषयों पर कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों में उन्होंने हास्य-व्यंग्य, यथार्थ-चित्रण और दुखान्तक

कथानकों के माध्यम से बदलते समय की बदलती आवश्यकताओं के सम्बन्ध में लोगों को जागरूक किया है। उन्होंने अपने समय के सामाजिक सत्य को परम्पराओं की अनदेखी किए बिना जीवन्त रूप में सामने रखा है।

टैगोर की कहानियों में मानवीय सम्बन्धों को उनकी सम्पूर्ण जटिलता, संवेदना और विविधता के साथ अभिव्यक्त किया गया है। महिलाओं और बच्चों का उद्धार, पद-दलित वर्ग की शिक्षा, जातिगत ऊँच-नीच की समाप्ति, हिन्दू-मुस्लिम एकता, ग्रामीण जीवन का पुनर्निर्माण तथा अमानवीय लालच और असहाय लोगों का शोषण करने वाले धन-दौलत की पूजा जैसे मुद्दे उनकी कहानियों में मानवीय संवेदना और लेखकीय सरोकार के साथ उठाए गए हैं। उनकी कहानियों में एक सहानुभूतिपूर्ण और गरिमामय हास्य की अन्तर्धारा बहती रहती है। इस हास्य में कभी विडम्बना और कभी विनोद के साथ भावों की तीव्रता का प्रदर्शन विद्रूप को देखने की टैगोर की विलक्षण योग्यता का परिचय देता है।

टैगोर की कहानियाँ आम आदमी के प्रति गहरी सहानुभूति के साथ स्वतन्त्रता के भाव से प्रेरित होकर लिखी गई हैं। 'शास्ति' में एक ग़रीब परिवार है जो क्रूर हिंसा से हार जाता है, एक निर्दय झूठ दो असहाय शादीशुदा औरतों की मृत्यु का कारण बन जाता है। 'पोस्टमास्टर' में एक अनपढ़ और बेघर लड़की रतन के लिए टैगोर का हृदय दर्द से भर उठा है। 'संस्कार' में एक वृद्ध सफ़ाईवाले का तथाकथित देशभक्त और धर्मनिष्ठ लोगों द्वारा निर्दयतापूर्वक अपमान किया जाता है क्योंकि वह सफ़ाई का कार्य करता है इसलिए अछूत है। 'काबुलीवाला' में काबुल से आए एक विनम्र मेवा-विक्रेता की कहानी है जो कोलकाता की सड़कों पर दर-दर घूमता है। वह अपने परिवार के लिए कुछ कमाने के उद्देश्य से अपने प्रियजनों और घर से बहुत दूर है। इन सभी कहानियों में टैगोर की चिन्ताएँ नैतिक हैं और वे समाज के कुरूप चेहरे को अनावृत्त करना चाहते हैं। वे मनुष्य मात्र की एकता और समानता में विश्वास रखते थे। उनकी कहानियों में समाज की उन बुराइयों को उजागर किया गया है जो मनुष्य के अतिशय लालच, धन-लिप्सा और दूसरों के शोषण के आधार पर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के प्रयास से उपजी हैं तथा पूरे समाज को नुक़सान पहुँचा रही हैं। उनकी कहानियों में बार-बार सामाजिक न्याय, असहायों की सहायता, शिक्षा के प्रसार, ग़रीबी दूर करने तथा महिलाओं और बच्चों के सम्मान की अपील की गई है।

टैगोर की कहानियाँ प्रायः चरित्रप्रधान होती हैं। किसी एक मुख्य चरित्र को केन्द्र में रखकर उसे किसी भावनात्मक या आध्यात्मिक संकट का सामना करते हुए दिखाया जाता है। टैगोर का उद्देश्य यह होता है कि वे यह दिखाएँ कि संकट से घिरा उनका वह पात्र किस तरह संघर्ष करता है और उस संकट से बाहर निकलता है उससे हार जाता है या उसके साथ जीना सीख लेता है। स्वयं टैगोर के शब्दों में: "जब मैं कहानी लिखता हूँ तो उसमें मेरी व्यक्तिगत पसंद-नापसंद के साथ-साथ समकालीन अनुभवों का ताना-बाना भी बुना हुआ होता है। साहित्य में सभी अच्छी कहानियों और नाटकों के कथानकों की आधारशिला मनुष्य की प्रकृति की गहराई में दबी हुई सम्भावनाओं की तलाश होती है। घटनाएँ अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग ढंग से घटित होती हैं, लेकिन इन घटनाओं की जड़ मानव-प्रकृति सभी युगों में एक समान रहती है। इसलिए लेखक मानव-प्रकृति पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और वास्तविक घटनाओं के हूबहू प्रतिरूपण से बचता है।"

मानव सम्बन्धों और मानवीय प्रकृति की जटिलता के विभिन्न रूपों का व्यापक चित्रण करने के साथ-साथ टैगोर की कुछ कहानियों में उस युग की विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को उठाया है । 'पोस्टमास्टर' में गाँव और शहर के बीच बढ़ते हुए अन्तर को दर्शाया गया है जिसे टैगोर राष्ट्र-निर्माण की दिशा में एक बड़ी बाधा मानते थे । 'त्याग' में पुनर्विवाह और जाति की समस्या पर ध्यान केन्द्रित किया गया है । 'काबुलीवाला' में धार्मिक और नस्लीय भेद को मिटाकर मानवीय संवेदना का विस्तार किया गया है। 'महामाया' जाति व्यवस्था की कठोरता और सतीप्रथा की बुराइयों को सामने लाती है। 'शास्ति' में भी जाति और पितृसत्ता का मुद्दा है, 'संस्कार' में धार्मिक और राजनैतिक आडम्बर को उजागर किया गया है। 'सम्पादक' और 'चित्रकार' में लालच के दुष्परिणामों पर ध्यान दिया गया है। कुछ कहानियों में मनुष्य की मूल कमज़ोरियों और कमियों, जैसे अन्धश्रद्धा, अहंकार, पाखण्ड, घमण्ड, ईर्ष्या, विश्वासपरायणता, अधीरता आदि को विषय बनाया गया है । ऐसी कहानियाँ हास्य पैदा करती हैं और टैगोर की इस विशेषता को प्रकट करती हैं कि वे गम्भीर और तीव्र भावनात्मक कहानियाँ लिखने के साथ-साथ हास्यपरक कल्पना को भी कहानियों में महत्त्व देते हैं । उनकी कहानियाँ हमें सिखाती हैं कि हमें हिंसा और शोषण के प्रति लड़ने के लिए सभी तरह के भेदभाव को समाप्त करके मिलकर रहना क्यों आवश्यक है। टैगोर साधारण और निम्न सामाजिक-आर्थिक स्तर के लोगों में महान् मानवीय गुण ढूँढ़ते हैं। वस्तुतः वे साधारण लोगों की खुशियों और परेशानियों के प्रति संवेदनशील लेखक हैं।

5.1.06. 'काबुलीवाला' कहानी : संवेदना और रचना-प्रक्रिया

टैगोर ने अपनी अनेक कहानियों में बच्चों के प्रति प्रेम को कई प्रकार से दर्शाया है। वे बच्चों को ईश्वर और प्रकृति के बहुत निकट मानते थे क्योंकि उनकी निश्छलता, भावों की स्पष्टता और निष्कपट आनन्द और उल्लास इसी कोटि का होता है। टैगोर दिखाते हैं कि बच्चे किस प्रकार संसार की भौतिक वस्तुओं और सुख-साधनों से अधिक एवं उच्च स्तर की प्रसन्नता प्रदान करने वाले होते हैं। 'काबुलीवाला' की 'मिनी' दुनियादारी और सांसारिक कष्टों से पूर्ण रूप से अनभिज्ञ है। टैगोर ने अपनी अनेक कहानियों में पिता और पुत्री के सम्बन्धों के विविध रूपों को प्रस्तुत किया है ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि पुत्री के भविष्य के निर्माण में पिता का कितना प्रभाव पड़ता है। भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में यह तथ्य अधिक प्रासंगिक है क्योंकि यहाँ लड़कों को लड़की से अधिक महत्त्व और अधिकार दिये जाते हैं। ऐसे में लड़की के लिए पिता का स्नेह और संरक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। 'काबुलीवाला' कहानी में अपनी पुत्री मिनी के प्रति वाचक के अगाथ स्नेह के बराबर काबुलीवाला द्वारा अपने घर में बड़ी हो रही पुत्री की चिन्ता और उससे मिलने की ललक कहानी का मर्मस्थल है।

यदि टैगोर की कतिपय कहानियों की रचना-प्रक्रिया को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका मन-मस्तिष्क कुछ विशिष्ट घटनाओं या व्यक्तियों से प्रभावित होता है और वे अपनी अन्तःप्रज्ञा, अनुभव तथा मानव-प्रकृति की अपनी व्यापक समझ के आधार पर उन घटनाओं और चरित्रों के इर्द-गिर्द कहानी की रचना कर देते हैं। कहानी की घटनाएँ और चरित्र वास्तविक घटनाओं और चरित्रों से बहुत भिन्न होते हैं क्योंकि उसमें लेखकीय कल्पना और संवेदना जुड़ जाती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'काबुलीवाला' का प्रकाशन सन् 1892 में हुआ था। स्वयं टैगोर ने बताया है कि 'काबुलीवाला' कहानी का मुख्य पात्र 'रहमान' टैगोर के घर आने वाले एक

अफ़ग़ान का प्रतिरूप है, जिसका उनके परिवार के साथ गहरा परिचय हो गया था। यह कहानी उनकी सबसे बड़ी और प्रिय पुत्री 'बेला' से भी प्रेरित है। 'मिनी' की बातचीत 'बेला' की बातचीत से ही ली गई है। यह कहानी भिन्न परिवेश वाले दो यथार्थ व्यक्तियों पर आधारित है। टैगोर ने इन दोनों व्यक्तियों को अपनी कल्पना से एक दूसरे से जोड़ दिया और कहानी की रचना कर दी। काबुलीवाला की भी अपनी पुत्री है जिसे वह पीछे छोड़कर आया है जिसकी उसे बहुत याद आती है। यही वह जगह है जहाँ टैगोर यह दिखाना चाहते हैं कि देश-काल की सीमाओं के पार पिता का प्रेम सभी सांस्कृतिक भेदों से ऊपर और एक समान है।

5.1.07. 'काबुलीवाला' कहानी : आलोचनात्मक परिचय

टैगोर की कहानी 'काबुलीवाला' चरित्रों और परिस्थितियों के द्वन्द्व की अनूठी कहानी है। इसमें मिनी के जीवन्त शब्द-चित्र, वाचक का संयत और विवेकशील व्यवहार तथा रहमान का सरल अंदाज़ और बाल-प्रेम एकदम स्पष्टता के साथ चित्रित किया गया है। अफ़ग़ानिस्तान से आये हुए एक अनपढ़ फेरीवाले के साथ पाँच साल की बालकोचित वाचालता और हँसी-उमंग वाली बंगाली लड़की की मित्रता मार्मिकता से पूर्ण मानवीय सम्बन्धों का करुणाजनक चित्रण है। कहानी नस्ल, धर्म और जातीयताओं के सभी बन्धनों को पीछे छोड़ देती है।

'काबुलीवाला' कहानी पाँच वर्ष की एक बच्ची मिनी के पिता द्वारा सुनायी जा रही है। वाचक एक लेखक है। काबुलीवाला, जिसका वास्तविक नाम रहमान है, एक अधेड़ उम्र का पठान है जो अपने परिवार को अफ़ग़ानिस्तान में छोड़कर सूखे मेवे और मौसमी सामान बेचकर कुछ कमाई करने के लिए कोलकाता आया है। मिनी एक निश्छल और बातूनी लड़की है। मिनी और काबुलीवाला ही इस कहानी के मुख्य पात्र हैं। एक दिन मिनी अपने घर की खिड़की से काबुलीवाले को बुलाती है। जैसे ही काबुलीवाला घर के पास आता है मिनी घर के अंदर जाकर छिप जाती है। मिनी के पिता काबुलीवाले से बात करते हैं और कुछ सामान खरीदते हैं। जब काबुलीवाला मिनी के बारे में पूछता है तो मिनी को अंदर से बाहर बुलवा लिया जाता है और काबुलीवाले से उसका परिचय करवाया जाता है। काबुलीवाले ने कुछ मेवे उसे देने की कोशिश की, लेकिन डर से सहमी मिनी ने नहीं लिये। धीरे-धीरे मिनी और काबुलीवाले में निकटता हो गई और मिनी उससे ख़ूब बातें करने लगी। काबुलीवाला उसकी बातों को सुनकर आनन्दित होता। मिनी की माँ को यह भय रहता था कि काबुलीवाला किसी दिन उसकी बच्ची को उठाकर लेकर न चला जाए। लेकिन उसके पिता को काबुलीवाला पर विश्वास हो गया था और वह मिनी के साथ उसकी मित्रता को उन दोनों के लिए अच्छा मानता था।

रहमान की कहानी अब दुखद मोड़ लेती है। कुछ दिन बाद एक ग्राहक के साथ लेन-देन को लेकर काबुलीवाले का झगड़ा हो जाता है और वह ग्राहक को छुरा मार देता है। इस अपराध में उसे कई वर्षों की क़ैद की सज़ा हो जाती है। कई साल बीत जाते हैं। मिनी बड़ी हो जाती है और उसकी शादी तय हो जाती है। इस दौरान एक दिन अचानक काबुलीवाला मिनी के पिता के पास आता है। वह मिनी से मिलना चाहता है लेकिन मिनी के पिता काम का बहाना करके उसे टाल देते हैं। वह मिनी के लिए कुछ मेवे देता है जिसके बदले मिनी के पिता कुछ पैसे देना चाहते हैं। काबुलीवाला यह कहकर पैसे लेने से मना कर देता है कि वह उनके यहाँ सौदा बेचने नहीं

आता बल्कि मिनी से मिलने आता है क्योंकि उसके भी मिनी जैसी एक बेटी है। काबुलीवाला बाहर चला जाता है लेकिन थोड़ी दूर जाकर वापस आ जाता है। वह मिनी के पिता को कागज़ के टुकड़े पर अंकित अपनी बेटी के हाथ के पंजे की छाप दिखाता है। इस बात से मिनी के पिता उसके साथ सहानुभूति अनुभव करने लगते हैं। मिनी को काबुलीवाले से मिलने के लिए बुलाया जाता है। मिनी दुल्हन के वेश मे उससे मिलने में शर्म महसूस करती है और वापस अंदर चली जाती है। काबुलीवाला अपनी बेटी की याद में खो जाता है। उसे याद आता है कि उसकी बेटी भी बड़ी हो गई होगी। काबुलीवाले के मन के भाव पढ़कर मिनी के पिता उसे अपने घर जाने के लिए रुपये देते हैं और उसके मिलन सुख को मिनी के कल्याण से जोड़ते हैं।

कहानी का कथानक रोचक और जिज्ञासापूर्ण है। आरम्भ से ही पाठक के मन में मिनी और काबुलीवाला के सम्बन्धों के प्रति उत्सुकता पैदा हो जाती है। पूरी कहानी में वाचक एक विशेष दूरी बनाकर काबुलीवाला को देखता है। काबुलीवाले के जेल जाने से पहले उसके जीवन और भाव-जगत् को जानने की कोई कोशिश कहानी में नहीं होती है। लेकिन जब जेल से छूटकर वह मिनी से मिलने आता है तब कहानी एक नया मोड़ लेती है। मिनी एक चुलबुली नादान बच्ची से बड़ी हो गई है और अपने जीवन के अगले सोपान पर बढ़ने के लिए तैयार हो रही है। काबुलीवाला उसे इस रूप में देखकर समय के अन्तराल से पैदा हुई अपनी जीवन-स्थिति को महसूस करता है। वाचक की टिप्पणी है : "अचानक उसके मन में यह बात साफ हो गई कि उसकी लड़की भी इस बीच इतनी ही बड़ी हो गई होगी और उसके साथ भी उसे नये ढंग से बातचीत करनी होगी – उसे फिर से पहले जैसी वह नहीं पाएगा। इन आठ वर्षों में न जाने उसका क्या हुआ होगा।" "काबुली से मिनी की पहले दिन की मुलाक़ात मुझे याद आ गई। मन न जाने कैसा व्यथित हो उठा।" कहानी के इस बिन्दु पर आकर ही वाचक पहली बार काबुलीवाला को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देख पाता है।

5.1.08. 'काबुलीवाला' कहानी : परिवेश और विषयवस्तु

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियाँ उपनिवेशकालीन बंगाल के सामाजिक-राजनैतिक जीवन का प्रतिबिम्ब हैं। उनकी कहानियों में तत्कालीन जाति, धर्म, वर्ग, लिंग और अस्मिता सम्बन्धी जटिल यथार्थ अभिव्यक्त हुआ है। उन्होंने अपनी कहानियों के पात्रों की रचना अपने आस-पास के साधारण और अज्ञात लोगों के निकट अवलोकन के आधार पर की है। टैगोर की कल्पनाशीलता से कहानियों में आकर ये साधारण लोग अपने गुणों और अवगुणों की विशिष्टता के कारण असाधारण कथा-चरित्र बन जाते हैं।

'काबुलीवाला' में टैगोर ने नस्लीय पूर्वाग्रह की छान-बीन करने की चुनौती स्वीकार की है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों के कोलकाता के परिवेश में रचित इस कहानी में उस समय का चित्रण किया गया है जब अफ़ग़ानिस्तान के घुमन्तू व्यापारी अपने देश से यहाँ आकर लम्बे समय तक यहीं रुकते थे और छोटी-मोटी वस्तुओं और सूखे मेवों को बेचने का कार्य करते थे। इनमें से कुछ लोग ब्याज पर रुपये उधार देने का काम भी करते थे।

यह कहानी काबुलीवाला और एक पाँच वर्ष की बालिका मिनी के बीच विकसित स्नेह और लगाव को अभिव्यक्त करती है। इन दोनों का मिलने और बिछुड़ने का घटनाक्रम नस्लीय, क्षेत्रीय और भाषाई बन्धनों को लाँघकर मानवता के व्यापक स्वरूप को प्रदर्शित करता है।

कहानी में अपना वतन छोड़कर परदेस में एक अनिश्चित आय वाला काम करने से उत्पन्न हालात पर भी संकेत किया गया है। कहानी में किसी विचार या आदर्श को आधार बनाकर कथानक और पात्रों की रचना नहीं की गई है। कहानी का परिवेश और पात्र टैगोर के निजी अनुभवों से उपलब्ध साहित्यिक सामग्री है। यही सामाजिक सत्य गहरी मानवीय संवेदना को उत्पन्न करता है। काबुलीवाला के जेल जाने से पहले मिनी और उसके स्नेहिल मिलन और उल्लासपूर्ण बातचीत के अतिरिक्त पूरी कहानी में संशय, विवशता और उदासी की गहरी परतें बिछी हुई हैं। पात्रों की मनःस्थिति से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

5.1.09. 'काबुलीवाला' कहानी का उद्देश्य

'काबुलीवाला' कहानी का मूल स्वर मानवीय सम्बन्धों की गहराई और सार्वभौमिकता को उद्घाटित करना है। इस कहानी में लेखन ने अपने समय और समाज के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उसका कलात्मक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। मानवीय संवेदनाओं और भावनाओं की दृष्टि से मनुष्य में अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित, छोटे-बड़े आदि का भेद नहीं होता है। विषम परिस्थितियों और परिवेशगत तनावों के भीतर ही मानवीय संवेदनाएँ उभरती हैं और कहानी अपने कथ्य और शिल्प की सार्थकता सिद्ध करती है। कहानीकार ने मिनी की चंचलता और बालसुलभ भोलेपन को उकेरने के साथ-साथ काबुलीवाले के वात्सल्य और प्रतीक्षा की वेदना को बहुत मार्मिकता और गहराई के साथ उभारा है। कहानीकार ने दिखाया है कि बच्चों का अबोध और निश्छल मन सामाजिक भेदभावों से अनजान होता है। वह केवल स्नेह और वात्सल्य को जानता है। मिनी की माँ के रूप में सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों का समाज के निम्न वर्ग के लोगों के प्रति जो दृष्टिकोण होता है उस ओर भी संकेत किया गया है। कहानी के आरम्भ में मिनी के पिता भी इस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते हैं।

टैगोर की अधिकांश कहानियों के पात्र धार्मिक रूप से हिन्दू हैं या उनके अपने समुदाय से सम्बन्धित हैं। लेकिन उनके कुछ पात्र अन्य धर्मों से भी आए हैं। 'काबुलीवाला' का नायक न केवल मुसलमान है बल्कि वह विदेशी भी है। 'काबुलीवाला' में रहमान को बहुत ही सकारात्मक रूप से पूर्ण संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। रहमान नाम के एक अफ़ग़ान मुसलमान को कहानी के वाचक, जो हिन्दू है, के पारिवारिक मित्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए टैगोर ने धार्मिक और नस्लीय भेद को नकार दिया है। एक छोटी बंगाली लड़की के साथ उसके आत्मीय सम्बन्ध का चित्रण भारत के तात्कालिक हिन्दू-मुस्लिम टकराव के सामाजिक परिवेश की दृष्टि से असाधारण रचनात्मक हस्तक्षेप है। टैगोर अपने पाठकों में जाति-धर्म के आधार पर जड़ जमाए बैठी सामाजिक असहिष्णुता और घृणा को त्यागकर मानवता के बृहत् धरातल पर एक साथ आने की अपील करते हैं। रहमान को एक ज़िम्मेदार पिता के रूप में प्रस्तुत करके तथा मिनी के प्रति उसके निर्मल स्नेह को दिखाकर टैगोर ने न केवल दो

धर्मों को पास लाने का प्रयास किया है, बल्कि संस्कृतियों के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान तथा सहानुभूतिपूर्ण सहसम्बन्ध की पैरवी की है।

5.1.10. 'काबुलीवाला' कहानी : चरित्र-चित्रण

कहानी के तीनों मुख्य पात्र – मिनी, रहमान और मिनी के पिता – भावनात्मक पीड़ा का सामना करते हैं लेकिन उनके भीतर गहरी भावानुभूति है। इन तीनों के अलावा मिनी की माँ भी कहानी की एक सहायक पात्र है।

5.1.10.1. काबुलीवाला (रहमान)

कहानीकार ने काबुलीवाला के चरित्र-चित्रण में अधिक रुचि ली है और उसे उतनी ही सफलता मिली है। काबुलीवाला (रहमान) कहानी का केन्द्रीय पात्र है। वह अफ़ग़ानिस्तान से आया हुआ एक सामान्य घरेलू सामान बेचनेवाला छोटा विक्रेता है। स्नेह, स्वाभिमान और विनम्रता उसके चरित्र के मुख्य गुण हैं। वह एक भावुक और संवेदनशील व्यक्ति है। वह अपनी बेटी से बहुत प्यार करता है। जब वह मिनी को देखता है तो वह उसमें अपनी बेटी को देखने लगता है। वह बहुत परिश्रमी और ईमानदार व्यक्ति है। वह काफी धैर्यवान् भी है और मिनी की बातों को बहुत ध्यान से सुनता है। लेखक ने काबुलीवाला का प्रथम परिचय एक सौदा बेचने वाले के रूप में दिया है : "गन्दे से ढीले कपड़े पहने, सिर पर पगड़ी बाँधे, कन्धे पर झोली लादे और हाथ में अंगूर की दो-चार पिटारियाँ लिए एक लम्बा-सा काबुली धीमी चाल से सड़क पर जा रहा था।" इससे पाठक के मन में शुरू से ही उसके प्रति सहानुभूति पैदा हो जाती है। इस सहानुभूति की भावना के कारण ही पाठक यह महसूस करता है कि वह अपने वतन और अपनी बेटी को कितना याद करता है।

काबुलीवाला अपनी परिस्थिति को समझता है लेकिन प्रकट रूप में वह ऐसा व्यवहार करता है कि बहुत देर तक किसी को यह पता ही नहीं लगता कि उसकी भी एक बेटी है जिससे वह बहुत प्यार करता है और उसे छोड़कर रोज़गार की मजबूरी में वह कोलकाता आया है। वह वतन से दूर अपने घरवालों के लिए काम करते हुए और अपने पारिवारिक दायित्वों को निभाते हुए समस्याग्रस्त होता है। उसकी आर्थिक विवशता उसे दयनीय बना देती है। यह दयनीयता ही पाठक की सहानुभूति और करुणा का आधार बनती है। इसीलिए यह कहानी टैगोर की बहुत ही महत्त्वपूर्ण और संवेदनशील रचना है।

5.1.10.2. मिनी

मिनी एक सम्भ्रान्त बंगाली परिवार की छोटी सी बहुत ही चंचल और बातूनी लड़की है। काबुलीवाला के साथ पहली मुलाक़ात में वह उससे डरती है और उसे आवाज़ देने के बाद जब वह उस ओर आने लगता है तो वह घर के अंदर जाकर छिप जाती है। पहले परिचय में वह काबुलीवाला के प्रति सन्देह से भरी रहती है। लेकिन धीरे-धीरे दोनों में गहरी मित्रता हो जाती है। काबुलीवाले के प्यार और सूखे मेवों की भेंट से प्रसन्न होकर मिनी उसे अपना दोस्त बना लेती है। काबुलीवाले को जब अपने एक ग्राहक पर घातक हमला करने के अपराध में जेल हो

जाती है तब समय के अन्तराल के कारण उन दोनों के सम्बन्धों में धुँधलका आ जाता है। यह कहानी का सबसे नाज़ुक मोड़ है।

5.1.10.3. वाचक (मिनी के पिता)

कहानी-वाचक एक उच्चकुलीन बंगाली लेखक और कहानी की एक अन्य पात्र मिनी के पिता हैं। यह कहानी वाचक के दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत की गई है। वे अपने घर के अंदर रहना ही पसंद करते हैं। अपने लेखकीय कार्य में बहुत व्यस्त रहने के कारण अपने काम में कोई भी व्यवधान उन्हें पसंद नहीं है। लेकिन वे अपनी बेटी मिनी के साथ बहुत उत्साहपूर्वक बातचीत करते हैं और उसकी ख़ामोशी उनके लिए असहनीय है। यद्यपि वे अपने काम में ही लगे रहना चाहते हैं लेकिन पारिवारिक जीवन की गतिविधियाँ बार-बार उन्हें लेखकीय कल्पना-संसार से बाहर निकालकर यथार्थ जीवन में ले आती हैं। वे काबुलीवाले और मिनी के सम्बन्धों को सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं। उन्हें प्रकृति और जीवन की विविधता अच्छी लगती है। जेल से छूट कर जब काबुलीवाला मिनी से मिलने उसके घर आता है तब एक बार तो वे उसे मिनी से मिलने की मनाही कर देते हैं। लेकिन उनके मन में भी मिनी और काबुलीवाले की मुलाक़ात न होने की कसक बनी रहती है। काबुलीवाला मिनी से मिलने के लिए व्याकुल हो जाता है और एक बार घर से बाहर निकलकर वापस आता है और अन्तिम अस्त्र के रूप में मिनी के पिता को एक मैले पुराने कागज़ पर बनी अपनी बेटी के नन्हें हाथों की छाप दिखाता हुआ अत्यन्त भावुक हो जाता है। तब मिनी के पिता सहानुभूति से भर जाते हैं। दोनों वात्सल्य की एक ही भावभूमि पर आ जाते हैं जहाँ दोनों अपनी-अपनी बेटियों के पिता होते हैं, उनकी दूसरी कोई पहचान शेष नहीं रहती है।

5.1.10.4. मिनी की माँ

मिनी की माँ कहानी में एक सहायक पात्र के रूप में आती है। वह एक पारम्परिक कुलीन बंगाली परिवार की महिला है। वह बड़े ही शंकित स्वभाव की है। उसे शोर-गुल बिलकुल पसंद नहीं है। उसे दुनिया में बुरी चीज़ें ही अधिक दिखाई देती हैं। इसलिए वह मिनी और काबुलीवाली के मिलने को भी बहुत सन्देह से देखती है और मिनी के पिता को उस पर नज़र रखने का अनुरोध करती है। उसे लगता है कि रहमान जैसे विदेशी फेरीवाले बच्चों को चुरा ले जाते हैं और कहीं उनकी मिनी भी उनका शिकार न हो जाए।

5.1.11. 'काबुलीवाला' कहानी : संवेदना और संरचना

'काबुलीवाला' कहानी यों तो काबुल से आए हुए एक साधारण फेरीवाले की एक छोटी बंगाली बालिका के साथ मित्रता की भावनाप्रधान कहानी है। लेकिन यह व्यक्ति के अहम् के विलोपन की कहानी भी है। एक भद्र बंगाली लेखक मानवीय प्रेम के धरातल पर एक साधारण अफ़गान सौदागर के बराबर आ जाता है। काबुलीवाले के पास अपनी बेटी की याद स्वरूप रखे हुए उसके हाथों के निशान उन दोनों के बीच की सामाजिक दूरियों को मिटा देते हैं। इस कहानी में प्रेम, पलायन, विश्वास, प्रतीक्षा, याद और मित्रता आदि अनेक भाव पिरोये गए हैं। इन

सब के माध्यम से टैगोर मानवीय सम्बन्धों की गहराई की खोज करते हैं। आइए, कहानी के कुछ मार्मिक स्थलों और उनमें अन्तर्निहित सन्देशों की पहचान करें।

5.1.11.1. स्नेह और मित्रता का बन्धन

मिनी और रहमान के बीच घनिष्ठता उन दोनों की परिहास और अपनत्व से पूर्ण बातचीत से प्रकट होती है। मिनी : "काबुलीवाला, ओ काबुलीवाला तुम्हारी झोली के भीतर क्या है ?" काबुलीवाला अनुस्वार पर अनावश्यक बल देकर कहता है – "हांतीं" (हाथी)। मिनी को चिढ़ाने-रिझाने और उसका मन बहलाने की प्रक्रिया में काबुलीवाला स्वयं एक बच्चा बन जाता है। वह कहता है– "खोंखी, तुम कभी ससुराल मत जाना, हाँ।" मिनी उससे पलटकर पूछती है – "तुम ससुराल जाओगे ?" रहमान काल्पनिक श्वसुर के प्रति अपना घूँसा तानकर कहता है – "हम ससुर को मारेगा !" इस पर मिनी ससुर नामक अपरिचित जीव की दुखी हालत की कल्पना कर ख़ूब हँसती है। उन दोनों के बीच इस प्रकार की निश्छल बातचीत चलती रहती है जिसमें एक प्रौढ़ व्यक्ति की ख़ुशी और एक छोटी बच्ची के ठहाकों की निर्मल गूँज घुली-मिली होती है। इसे कोई दूसरा नहीं समझता लेकिन वे दोनों ख़ूब समझते हैं। जब रहमान को गिरफ़्तार कर लिया जाता है तब भी मिनी उससे यह पूछती है कि "तुम ससुराल जाओगे ?" रहमान हँसकर उत्तर देता है कि "वहीं तो जा रहा हूँ।" ससुराल से जुड़ा यह प्रश्न कहानी के उत्कर्ष में भी उपस्थित होता है। मिनी के विवाह के दिन रहमान क़ैद से रिहा होकर आता है और मिनी से मिलने पर उससे पूछता है : "खोंखी, तुम ससुराल जाओगी ?" यह प्रश्न समय के अन्तराल के कारण बहुत सार्थक और मार्मिक बन गया है। जब मिनी छोटी थी तो वह इस प्रश्न पर हँस कर बात करती थी। अब वह बड़ी हो गई है और अपने जीवन के अगले सोपान पर कदम रखने जा रही है। अब वह ससुराल का वास्तविक अर्थ समझती है। ससुराल से जुड़ी बातचीत पूरी कहानी में चलती है। समय के साथ उसमें नया अर्थ पैदा हो जाता है। वाचक इस अन्तराल और बातचीत के बदलते अर्थ को समझता है और महसूस करता है कि समय ने मिनी और रहमान के सम्बन्ध को किस तरह निभाया है।

कहानी के वाचक की भूमिका के माध्यम से भी कहानी में भावनात्मक सम्बन्ध की स्थापना होती है। पहले मिनी के पिता के रूप में वह अपनी बातूनी बेटी की रहमान के साथ निर्मल मित्रता को सहानुभूति से देखता है। बाद में वह विवाह के लिए तैयार हो रही अपनी बेटी को देखता है। समय के इस अन्तराल को जानकर वह रहमान के दर्द की गहराई को महसूस करता है जो उसकी बेटी मिनी में अपनी बेटी को देखता है : "... मेरी आँखें सजल हो आईं। फिर मैं यह भूल गया कि वह एक काबुली मेवावाला है और मैं एक उच्च वंश का बंगाली हूँ। तब मैं यह अनुभव करने लगा कि जो वह है वही मैं हूँ, वह भी बाप है और मैं भी बाप हूँ।" यहाँ दो पिताओं का भावना के समान धरातल पर साथ आना उनके स्नेह-बन्धन और दर्द के मर्म को उद्घाटित करता है।

5.1.11.2. मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं का उत्कर्ष

कहानी के तीनों मुख्य पात्र – रहमान, मिनी और मिनी के पिता – बहुत संवेदनशील व्यक्ति हैं। वे परेशान होते हैं लेकिन उनके भीतर भावनाओं की कोंपल हर स्थिति में जीवित रहती है। मिनी को शादी के वेश में देखकर काबुलीवाला अपनी बेटी की याद में खो जाता है और उससे मिलने की उसकी इच्छा तीव्र हो जाती है। मिनी इस समय अपनी भावनाओं को भरसक दबाये रखती है। मिनी के पिता यह दिखाते हैं कि उन्होंने अपनी बेटी की शादी के ख़र्चों में कटौती करके काबुलीवाले को रुपये दिए हैं, ताकि वह अपनी बेटी के पास अपने वतन लौट सके। वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि काबुलीवाला तो अभी-अभी क़ैद से लौटा है और उसके पास रुपये-पैसे कहाँ होंगे ? उनका यह विचार एक पिता के रूप में काबुलीवाला के दर्द को महसूस करने से ही उत्पन्न हुआ है। बाहरी तौर पर ये पात्र एक दूसरे से अलग दिखाई देते हैं लेकिन उनमें संवेदनात्मक स्तर पर गहरी एकता है। लम्बे समय के बाद काबुलीवाला को देखकर मिनी संशय में पड़ जाती है। वह उसे पहचान ही नहीं पाती। जब काबुलीवाला कहता है कि "क्या वह ससुराल जाएगी ?" तो उसका चेहरा पीला पड़ जाता है और वह अंदर चली जाती है, क्योंकि अब वह ससुराल का वास्तविक अर्थ जान चुकी थी। मिनी के जाते ही काबुलीवाला आह भरकर ज़मीन पर बैठ जाता है। उसे तुरन्त यह अहसास हो जाता है कि उसकी बेटी भी इतनी बड़ी हो गई होगी और उसके मन में उसे देखने की तीव्र इच्छा जाग उठती है। मिनी के पिता काबुलीवाला की मनःस्थिति को पहचान लेते हैं और उसे पैसे देते हैं ताकि वह अपने घर जा सके। वस्तुतः यह कहानी मिनी और रहमान के बीच विकसित स्नेह-सम्बन्ध के माध्यम से अपने वतन में पीछे छूट गई अपनी बेटी के प्रति रहमान (काबुलीवाला) के वात्सल्य की मर्मकथा है।

5.1.11.3. प्रेम और प्रतीक्षा की वेदना

प्रेम की धारा इस कहानी में लगातार बहती रहती है। कहानी के प्रमुख पात्र इस इंतज़ार में रहते हैं कि आने वाला दिन उनके लिए क्या लेकर आता है। रहमान अपने घर और बेटी की याद को भुलाने के लिए मिनी में अपनी बेटी को देखता है। वह हर दिन मिनी से मिलने आता है और उससे बातें करके, उसे मेवे आदि देकर अपना मन बहलाता है। कहानी में प्रतीक्षा एक मार्मिक तत्त्व बनकर सामने आता है। सभी पात्रों को अनजाने ही ऐसी घटनाओं की प्रतीक्षा रहती है जिनका अन्त आश्चर्यजनक होता है। रहमान की प्रतीक्षा मिनी और उसकी अपनी बेटी जो उसके वतन में है, दोनों करती हैं। अपने वतन से दूर कुछ कमाने के लिए आया हुआ काबुलीवाला अपने वतन जाने और अपनी बेटी से मिलने की प्रतीक्षा में है। कहानी में सभी पात्रों के लिए जीवन में निराशा और अधूरापन है, लेकिन अन्त में काबुलीवाले के वतन लौटने की आशा जीवित हो जाती है। पाठक कुछ राहत महसूस करता है।

जब रहमान पकड़ा जाता है और मिनी से उसका सामना होता है तब मिनी का अचानक यह प्रश्न पूछने पर कि "तुम ससुराल जाओगे ?" और मिनी को ख़ुश करने के लिए काबुलीवाला का यह प्रत्युत्तर कि "वहीं तो जा

रहा हूँ" जब मिनी के लिए हास्यजनक नहीं हुआ तब उसने अपना हाथ दिखाते हुए कहा कि "ससुर को मारता, पर क्या करूँ, हाथ बँधे हैं।" इस कठिन परिस्थिति में भी वह मिनी को प्रसन्न करने की कोशिश करता है।

जब कहानी के वाचक के रूप में मिनी के पिता यह जान जाते हैं कि उनके जीवन में भी भावनाओं की उलझन और परिस्थितियों की उथल-पुथल वैसी ही है जैसी काबुलीवाला के जीवन में है, तब मानवता के धरातल पर मनुष्य के अन्तःकरण की उज्ज्वलता सामने आती है।

5.1.11.4. सहानुभूति, उदारता और भविष्य के प्रति विश्वास

मिनी के पिता रहमान पर बहुत विश्वास करते हैं और मिनी के साथ उसकी मित्रता को पसंद करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि मिनी और रहमान के बीच यह स्नेह-सम्बन्ध बहुत कम समय रह पाता है। रहमान को सात साल की सज़ा हो जाती है और उसके जेल से वापस लौटने तक मिनी उसे भूल जाती है। लेकिन रहमान उसे नहीं भूल पाता है। मिनी जब उसे नहीं पहचानती है तो उसके हृदय में यह टीस उठती है कि कहीं उसकी बेटी भी उसे भूल न गई हो और घर जाने पर वह भी उसे पहचानने से इनकार न कर दे। मिनी का शादी के वेश में उसके सामने आना और फिर उसे पहचान नहीं पाना, ये दोनों तथ्य रहमान के लिए असहनीय वेदना के कारण बन जाते हैं। रहमान ने लेन-देन के झगड़े में एक व्यक्ति पर चाकू से हमला कर दिया था। वह हिंसक हो गया था इस तथ्य के बावजूद उसके प्रति सहानुभूति ही पैदा होती है, अविश्वास या नफ़रत नहीं। टैगोर अपने पाठकों में वांछित भाव जाग्रत् करने में सफल हुए हैं। कहानी के उत्कर्ष में मिनी के पिता रहमान के प्रति सहानुभूति रखते हुए उसे घर जाने के लिए पैसे देते हैं। उन्हें अपनी इस उदारता पर प्रसन्नता होती है क्योंकि वे चाहते हैं कि जिस प्रकार वह अपनी बेटी के साथ है और उसके विवाह की तैयारियाँ कर रहे हैं, रहमान भी अपनी बेटी के पास जाकर उसे अपना स्नेह दे और उसके प्रति अपना दायित्व निभाए। मिनी के पिता ने रहमान के व्यक्तित्व को पहचान लिया है। वे जानते हैं कि हिंसा की वह घटना तात्कालिक आवेग से हुई थी वरना रहमान एक अच्छा इंसान है। वे चाहते हैं कि वह जेल में बिताये हुए कठिन समय को पीछे छोड़कर अच्छे भविष्य की ओर आगे बढ़े। उसके लिए अब उसके अतीत से अधिक उसका भविष्य महत्त्वपूर्ण है, इसलिए उसे अपने घर जाना ही चाहिए, धन की कमी इसमें बाधा नहीं बन पाए। रहमान मिनी को आशीर्वाद देते हुए अपने वतन के लिए प्रस्थान करता है।

5.1.12. पाठ का सारांश

इस पाठ में आपने रवीन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व और कहानी-साहित्य की सामान्य जानकारी के साथ उनकी कहानी 'काबुलीवाला' की अन्तर्वस्तु और शिल्प को विस्तार से जाना। 'काबुलीवाला' मानवीय सम्बन्धों की गहराई और व्यापकता की खोज की कहानी है। इसमें अफ़ग़ानिस्तान से आकर कोलकाता में छोटा-मोटा सौदा बेचने वाले रहमान नाम के व्यक्ति और सम्भ्रान्त बंगाली परिवार की छोटी सी बालिका मिनी के बीच विकसित और लुप्त होते सम्बन्धों के इर्द-गिर्द मानवीय भावनाओं और सम्बन्धों के उतार-चढ़ाव का ताना-बाना बुना गया है। टैगोर दिखाना चाहते हैं कि मानवीय भावनाएँ सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, जातीय और

क्षेत्रीय भेदों से ऊपर हैं। कहानी में एक चंचल और बातूनी बच्ची के बालमन की टोह लेते हुए उसके बचपन और किशोरावस्था को घटनाओं का केन्द्र बनाया गया है। इसी के साथ काबुलीवाले के प्रति वाचक के दृष्टिकोण को रेखांकित करते हुए मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं की उदारता और व्यापकता को उकेरा गया है।

5.1.13. बोध प्रश्न

1. 'काबुलीवाला' कहानी की विषयवस्तु पर प्रकाश डालिए।
2. 'काबुलीवाला' कहानी के विकास में वाचक की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
3. 'काबुलीवाला' कहानी मिनी के बचपन और किशोरावस्था पर केन्द्रित है। मिनी के व्यवहार के सन्दर्भ में कहानी के मुख्य पात्रों पर मिनी की इन दोनों अवस्थाओं के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।
4. मिनी और रहमान में बीच विकसित सम्बन्ध के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
5. 'काबुलीवाला' में मित्रता के बन्धन और मिलन की प्रतीक्षा को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है?
6. रहमान के चरित्र की व्याख्या कीजिए।
7. " 'काबुलीवाला' कहानी का मूल स्वर मानवीय सम्बन्धों की गहराई और सार्वभौमिकता को उद्घाटित करना है।" इस कथन की परीक्षा कीजिए।
8. "'काबुलीवाला' कहानी चरित्रों और परिस्थितियों के द्वन्द्व की अनूठी कहानी है।" कैसे?

5.1.14. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

1. कृपलानी, कृष्ण. साहा, रणजीत (अनुवादक). (1998). रवीन्द्रनाथ ठाकुर : एक जीवनी. नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया. ISBN : 81-237-2351-2
2. घोष, शिशिर कुमार. अनामिका (हिन्दी अनुवाद). (1996). भारतीय साहित्य के निर्माता रवीन्द्रनाथ टैगोर. नई दिल्ली. साहित्य अकादेमी. ISBN : 978-81-260-0232-0
3. जोशी, इलाचन्द्र. (1956). विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर. इलाहाबाद. भारतीय विद्या भवन.
4. टैगोर, रवीन्द्रनाथ. पुरोहित, राधेश्याम (अनुवादक). (1956). टैगोर का साहित्य-दर्शन. दिल्ली. साहित्य प्रकाशन.
5. टैगोर, रवीन्द्रनाथ. प्रधान, गोपाल (अनुवादक). (2004). रवीन्द्रनाथ का शिक्षा दर्शन. दिल्ली. ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा. लि. ISBN : 81-7917-063-2
6. टैगोर, रवीन्द्रनाथ. बंद्योपाध्याय, असित कुमार (सं.). (2012). रवीन्द्र रचना संचयन. नई दिल्ली. साहित्य अकादेमी. ISBN : 978-81-720-1849-8

❖❖❖

खण्ड – 5 : कहानी

इकाई – 2 : उर्दू : टोबा टेकसिंह – सआदत हसन मंटो

इकाई की रूपरेखा

5.2.00. उद्देश्य कथन
5.2.01. प्रस्तावना
5.2.02. मंटो : जीवन और रचना-कर्म
5.2.03. मंटो और उनका युग
5.2.04. मंटो की रचना-प्रक्रिया
5.2.05. मंटो की जीवन-दृष्टि और कहानी-कला
5.2.06. विभाजन की त्रासदी और साहित्य
5.2.07. विभाजन और मंटो की कहानियाँ
5.2.08. कहानी 'टोबा टेकसिंह'
    5.2.08.1. संवेदना और संरचना
    5.2.08.2. विषयवस्तु और परिवेश
    5.2.08.3. विभाजन की समस्या और पागलपन का रूपक
    5.2.08.4. बिशन सिंह की बड़बड़ाहट
    5.2.08.5. विभाजन का आघात
    5.2.08.6. व्यक्ति का स्थान में रूपान्तरण और अस्मिता का विलय
5.2.09. पाठ का सारांश
5.2.10. बोध प्रश्न
5.2.11. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ
    5.2.11.1. हिन्दी की पुस्तकें
    5.2.11.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

5.2.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. विभाजन की समस्या की भयावहता को समझ पाएँगे।
ii. उर्दू कहानीकार सआदत हसन मंटो के जीवन और रचनाकर्म से परिचित हो सकेंगे।
iii. मंटो की कहानी-कला की विशेषताओं को जान पाएँगे।
iv. मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' की अन्तर्वस्तु और शिल्प को समझ सकेंगे।

5.2.01. प्रस्तावना

पाठ्यचर्या 'तुलनात्मक भारतीय साहित्य' के खण्ड – 5 के अन्तर्गत इकाई – 1 में आपने रवीन्द्रनाथ टैगोर की बांग्ला कहानी 'काबुलीवाला' का अध्ययन किया। प्रस्तुत इकाई में आप उर्दू कहानीकार सआदत हसन मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' का अध्ययन करेंगे। सआदत हसन मंटो (11 मई 1912 – 18 जनवरी 1955) उर्दू लेखक और भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत प्रतिष्ठित कहानीकार थे। अपने 43 वर्षों के छोटे से जीवनकाल में कहानियाँ लिखने के साथ-साथ उन्होंने फ़िल्मी पटकथा, रेडियो नाटक, रेखाचित्र, संस्मरण, निबन्ध, पत्र आदि के रूप में साहित्य की विभिन्न विधाओं में अपार लेखन किया था।

भारत-पाक विभाजन की घटना ने उन्हें बहुत गहराई तक प्रभावित किया था और दंगों के भयाक्रान्त समय में उन्हें पाकिस्तान जाना पड़ा था। पाकिस्तान जाने के बाद भारत आने की उत्कण्ठा जीवन भर उनमें बनी रही, लेकिन वह भारत नहीं आ सके। सम्भवतः यही कारण है कि उनकी कहानियों में अपने वतन से बिछड़ने का दर्द और विभाजन को अंजाम देने वाले राजनैतिक नेतृत्व के विरुद्ध घृणा की भावना बहुत बड़े पैमाने पर पायी जाती है। जीवन और दुनिया के प्रति अपने मौलिक दृष्टिकोण और विद्रोही तेवरों के कारण उनके लेखन से समाज में एक हलचल सी मची रही है। उनका लेखन समय और जीवन की नैतिकता के रूढ़ पैमानों से सदैव मुक्त रहा। विभाजन के विषय पर लिखी गई 'टोबा टेकसिंह' कहानी मंटो की ही नहीं, बल्कि विश्व-साहित्य की महान् रचना है। विभाजन और विस्थापन के अविवेकपूर्ण फैसले के विरुद्ध साधारण लोगों का प्रतिरोध कहानी का मुख्य मुद्दा है। कहानीकार ने अपने पाठकों तक इस बात को करारे व्यंग्य के माध्यम से बहुत सफलतापूर्वकपहुँचाया है।

5.2.02. मंटो : जीवन और रचना-कर्म

सआदत हसन मंटो का जन्म 11 मई 1912 को पंजाब के लुधियाना ज़िले के समराला में हुआ था। उनके वालिद (पिता) मौलवी ग़ुलाम हसन एक प्रसिद्ध बैरिस्टर और सेशन्स जज थे। मंटो जब उन्नीस साल के थे तब उनके वालिद का देहान्त हो गया था। जब 'जलियाँवाला बाग़ नरसंहार' हुआ तब मंटो सात साल के थे। उनकी पहली कहानी 'तमाशा' में उस नरसंहार की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। मंटो ने अमृतसर के मुस्लिम हाईस्कूल से दो बार अनुत्तीर्ण होने के बाद स्कूली शिक्षा पूरी की और उसके बाद उच्च शिक्षा के लिए सन् 1931 में हिन्दू सभा कॉलेज में प्रवेश लिया। लेकिन प्रथम वर्ष में दो बार लगातार अनुत्तीर्ण होने के बाद उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया। इसी दौर में सन् 1933 में मंटो की मुलाक़ात विद्वान् लेखक और पत्रकार अब्दुल बारी अलिग से हुई जिन्होंने मंटो को रूसी और फ्रांसीसी साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित किया। मंटो ने रूसी और फ़्रांसीसी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। उन्होंने विक्टर ह्यूगो के नाटक 'लास्ट डेज़ ऑफ़ ए कंडेम्ड' का उर्दू में 'सरगुज़श्त-ए-असीर' शीर्षक से तथा ऑस्कर वाइल्ड से नाटक 'वेरा' का इसी शीर्षक से अनुवाद भी किया था। रूसी साम्यवादी साहित्य का मंटो पर गहरा असर था। उन्होंने 'रूसी अफ़साने' शीर्षक से रूसी कहानियों का उर्दू रूपान्तरण भी किया था। सन् 1936 में मंटो का पहला मौलिक उर्दू कहानियों का संग्रह 'आतिशपारे' प्रकाशित

हुआ। कुछ समय तक वे लुधियाना से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र 'मसावत' के सम्पादकीय विभाग से भी जुड़े रहे।

सन् 1934 में मंटो ने अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में प्रवेश ले लिया। जल्दी ही वे इंडियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन से जुड़ गए। इससे मंटो के लेखन को एक नई दिशा मिली। उनकी दूसरी कहानी 'इंक़लाब पसंद' अलीगढ़ पत्रिका में मार्च 1935 में प्रकाशित हुई। अलीगढ़ में मंटो एक वर्ष से भी कम समय तक रहे और अमृतसर लौट गए। अमृतसर से वे लाहौर चले गए। सन् 1935 में मंटो ने लाहौर में 'पारस' नामक पत्रिका में नौकरी आरम्भ की। लेकिन वहाँ उनका मन नहीं लगा और जल्दी ही नौकरी छोड़कर वे बंबई (मुंबई) आ गए। बंबई में उन्होंने चालीस रुपये प्रतिमाह के वेतन पर 'मुसव्विर' नामक फ़िल्मी पत्रिका के सम्पादक का कार्य सँभाला। सन् 1941 में उन्हें ऑल इंडिया रेडियो की उर्दू सर्विस में लिखने का काम मिला और वे दिल्ली आ गए। उनका यह दिल्ली-प्रवास उनके लेखन का स्वर्णकाल बन गया। लगभग अट्ठारह महीनों के इस दौर में उनके रेडियो नाटकों के चार संग्रह – 'आओ', 'मंटो के ड्रामे', 'जनाज़े', और 'तीन औरतें' – प्रकाशित हुए। रेडियो नाटकों के साथ-साथ उन्होंने कहानियाँ और लेख लिखना भी जारी रखा। उनके कहानी-संग्रह 'धुँआ', 'मंटो के अफ़साने' तथा समसामयिक विषयों पर लिखे गए लेखों का पहला संग्रह 'मंटो के मज़ामिन' इसी दौर में प्रकाशित हुए।

अपनी प्रकृति में मंटो शहरों के उपेक्षित लोगों के लेखक थे। इसलिए बंबई और दिल्ली में मंटो के लेखन का श्रेष्ठ समय था। वहाँ का माहौल उनकी रचनात्मक रुचि के लिए बहुत उपयुक्त था। जुलाई 1942 में मंटो दिल्ली छोड़कर वापस बंबई आ गए। यहाँ उन्होंने 'आठ दिन', 'अपनी नगरिया', 'चल चल रे नौजवान' तथा 'मिर्ज़ा ग़ालिब' जैसी फिल्मों की पटकथाएँ लिखीं। उनकी कई प्रसिद्ध और विवादित कहानियों, जैसे 'काली सलवार', 'बू', 'बाबू गोपीनाथ' आदि की रचना यहीं हुई। उनका 'चुग़द' शीर्षक कहानी-संग्रह भी इसी दौर में प्रकाशित हुआ। सन् 1947 में देश के विभाजन के बाद सन् 1948 में पाकिस्तान जाने तक मंटो बंबई में ही रहे।

पाकिस्तान में मंटो अपने परिवार के साथ लाहौर में रहे। पाकिस्तान जाने के बाद मंटो ने कई उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं। लेकिन बाद में अपनी तात्कालिक आर्थिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मंटो ने बहुत अधिक कहानियाँ लिखना शुरू किया, जिनमें उन्होंने कहानी-कला के कई पक्षों पर बहुत कम ध्यान दिया। लाहौर के 'पाक टी हाऊस' में उर्दू के कई प्रसिद्ध लेखकों के साथ उनका मिलना-जुलना होने लगा और मंटो साहित्यिक और सियासी बहसों में हिस्सा लेने लगे। अपनी आर्थिक तंगी, शराब की आदत और अवसाद की बीमारी के बावजूद मंटो ने लेखन के प्रति अपना समर्पण जारी रखा। वे लाहौर के दैनिक अख़बार 'इमरोज़' के लिए हास्य-व्यंग्य की छोटी-छोटी रचनाएँ लिखने लगे, जो बाद में 'तल्ख़, तुर्श और शीरीं' शीर्षक से प्रकाशित हुईं। उनका कहानी-संग्रह 'सियाह हाशिये' सन् 1948 में प्रकाशित हुआ था। यह संग्रह विभाजन की त्रासदी का दस्तावेज़ है।

सन् 1948 में पाकिस्तान जाने के बाद उनके चौदह कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए, जिनमें 161 कहानियाँ संकलित थीं। 'सियाह हाशिये', 'नंगी आवाज़ें', 'लाइसेंस', 'खोल दो', 'टेटवाल का कुत्ता', 'मम्मी', 'टोबा टेकसिंह', 'फुंदने', 'बू', 'काली सलवार' और 'हतक' जैसी सभी प्रसिद्ध कहानियाँ इनमें शामिल हैं। बंबई से

जाने के बाद मंटो सात साल तक लाहौर में ही रहे। ये सात साल मंटो की ज़िंदगी के सर्वाधिक दर्द भरे साल थे। बंबई छोड़कर पाकिस्तान जाने के बाद से ही वे मानसिक वेदना के दौर से गुज़र रहे थे। अपने अतीत की यादों से संतप्त मंटो कभी भी पाकिस्तान को अपना घर नहीं मान सके। इसी परेशानी के बीच उनकी आर्थिक दशा ख़राब होने लगी, शराब की लत पहले से थी। इन सब कारणों से वे गहरे अवसाद का शिकार हो गए और उन्हें अपने इलाज़ के लिए मानसिक रोगियों के अस्पताल में भर्ती होना पड़ा। शराब से बिगड़े लीवर की गम्भीर बीमारी से 18 जनवरी 1955 को मंटो की मृत्यु हो गई। एक संवेदनशील लेखक, जिसे उसकी जड़ों से काट दिया गया था, अपने अन्तिम दिनों में आर्थिक तंगी और शारीरिक कष्टों से पीड़ित रहा। इन परेशानियों के बावजूद मंटो इस दुनिया के यथार्थ को अपनी कहानियों, रेखाचित्रों, संस्मरणों और लेखों में अभिव्यक्त करते रहे। 18 जनवरी 2005 को मंटो की पचासवीं बरसी पर पाकिस्तान में उन पर डाक टिकट जारी किया गया। 14 अगस्त 2012 को पाकिस्तान की सरकार ने उन्हें मरणोपरान्त 'निशान-ए-इम्तियाज़' सम्मान से सम्मानित किया।

5.2.03. मंटो और उनका युग

मंटो का साहित्यिक जीवन लगभग दो दशकों का था। यह कालखण्ड भारतीय उपमहाद्वीप के सन्दर्भ में मुक्ति आन्दोलन का समय था और विश्व के सन्दर्भ में साम्राज्यवादी आक्रामकता का दौर था। द्वितीय विश्वयुद्ध की तैयारी और विनाशलीला ने दुनिया को झकझोर कर रख दिया था। भारत अंग्रेज़ों की ग़ुलामी से आज़ाद हुआ लेकिन उसके मुक्ति-संग्राम की अन्तिम परिणति उसके विभाजन में हुई। मंटो ने इसी दौर में समाज के दबे-कुचले और उपेक्षित लोगों के जीवन को अपनी कहानियों का विषय बनाया। उन्होंने अपनी कहानियों पर उठाई गई आपत्तियों का जवाब देते हुए लिखा है कि "ज़माने के जिस दौर से हम इस वक़्त गुज़र रहे हैं अगर आप उससे नावाकिफ़ हैं तो मेरे अफ़साने पढ़िये ! अगर आप उन अफ़सानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो इसका मतलब यह है कि यह ज़माना नाक़ाबिले-बर्दाश्त है।"

मंटो ने उर्दू गद्य साहित्य को अतिभावुकता और विवरणात्मकता से बाहर निकाल कर उसे सूक्ष्म, स्पष्ट और मारक गद्य की भंगिमा से लैस किया। आरम्भ में वह अपनी कहानियों को प्रभावशाली बनाने के लिए कुछ नाटकीय और चकित करने वाली युक्तियाँ अपनाते हैं, लेकिन बाद की कहानियों में उनका मुख्य ध्यान चरित्रों के विकास और कहानी में एक विशिष्ट परिवेश का निर्माण करने पर रहा है।

मंटो उर्दू में 'नया अफ़साना' के दौर के लेखक हैं। उनसे पहले प्रेमचंद उर्दू कहानी को कल्पित प्रेम कथाओं के दायरे से बाहर निकालकर यथार्थ की धरती पर ले आए थे। उर्दू में 'नया अफ़साना' एक तरफ मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद जैसी पाश्चात्य विचारधाराओं से प्रभावित था जिससे कहानीकारों को परम्परागत विषयों को नये ढंग से देखने तथा नए-नए और अनछुए विषयों पर कहानियाँ लिखने की प्रेरणा मिली। दूसरी तरफ उनके सामने भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन और देश के बँटवारे जैसे ज्वलन्त विषय थे जिनकी तहों में कितनी ही मानवीय वेदनाएँ और दुःख भरे हुए थे। इस दौर के राजनैतिक-सामाजिक परिवेश ने लेखकों की कई प्राचीन मान्यताओं और विश्वासों को झकझोर दिया था। मानव-चरित्र के ऐसे पहलू सामने आ रहे थे जिन्हें समझना और

स्वीकार करना बहुत मुश्किल था। विभाजन ने देश के भूगोल को ही नहीं, बल्कि लोगों की मानसिक बनावट को ही बदल दिया था। इसी माहौल में उर्दू कहानी में राजेन्दर सिंह बेदी, कृश्न चन्दर, इस्मत चुग़ताई, अहमद क़ासमी और सआदत हसन मंटो जैसे लेखकों ने अपने दौर के मार्मिक यथार्थ को अभिव्यक्ति प्रदान की। इन कहानीकारों ने सामाजिक यथार्थ और मानवीय सम्बन्धों के ताने-बाने को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की कोशिश की।

मंटो ने प्रेमचंद द्वारा ग्रामीण जीवन के चित्रण को एक प्रकार से अस्वीकार किया और उनके आदर्शों पर चलते हुए भी उर्दू कहानी को शहरों पर केन्द्रित कर उसे नई दिशा प्रदान की। शहरों के जीवन का चित्रण करते हुए उनकी नज़र सामान्य के स्थान पर असामान्य और मुख्य धारा के स्थान पर उपेक्षित व्यक्तियों पर रहती है। अपराधियों, वेश्याओं, दलालों और लंपट लोगों को मंटो ने अपनी कहानियों के नायक-नायिकाएँ बनाया और उन्हें उनके असली सुख-दुःख के साथ चित्रित किया।

5.2.04. मंटो की रचना-प्रक्रिया

मंटो ने अपने अपने साहित्यिक जीवन में 230 कहानियाँ, 67 रेडियो नाटक, 22 शब्दचित्र और 70 लेख लिखे। पाकिस्तान में उनके 14 कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए। पाकिस्तान में रहते हुए उनके जीवन में ऐसा दौर भी आया जब अपनी आर्थिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए उन्होंने रोज़ एक कहानी लिखी। सन् 1954 में उन्होंने 110 कहानियाँ लिखीं। मंटो ने स्वयं के कहानीकार बनने की घटना को अपनी ज़िंदगी की सबसे बड़ी घटनाओं में से एक माना है; लिखा है कि "मेरी ज़िंदगी में तीन बड़ी घटनाएँ घटी हैं। पहली मेरे जन्म की। दूसरी मेरी शादी की और तीसरी मेरे कहानीकार बन जाने की।" मंटो की रचना-प्रक्रिया जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से जुड़ी हुई है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि "सआदत हसन मंटो लिखता है, क्योंकि वह ईश्वर जितना कहानीकार और कवि नहीं है। उसे रोटी की ख़ातिर लिखना पड़ता है।" उनका लेखन उनके भौतिक अस्तित्व से अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ रहा है। इसलिए उन्होंने अपने लेखन को अपने जीवन-यथार्थ के सन्दर्भ में ही सार्थक माना है – "मैं लिखता हूँ इसलिए कि मुझे कुछ कहना होता है। मैं लिखता हूँ इसलिए कि मैं कुछ कमा सकूँ ताकि मैं कुछ कहने के क़ाबिल हो सकूँ।"

मंटो का दृढ़ विश्वास था कि कला का मनुष्य के जीवन और कलाकार के अस्तित्व से अनिवार्य सम्बन्ध है। कला को समाज में बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है, लेकिन मंटो कला के पीछे छिपे हुए इस सामाजिक यथार्थ को रेखांकित करने से नहीं चूकते कि "हर श्रेष्ठ और महान् चीज़ एक सूखी रोटी की मोहताज है?" कहानी लिखने के कारणों का खुलासा करते हुए उन्होंने लिखा है कि "अगर पूछा जाए कि मैं कहानी क्यों लिखता हूँ, तो कहूँगा कि शराब की तरह कहानी लिखने की भी लत पड़ गई है। मैं कहानी न लिखूँ, तो मुझे ऐसा लगता है कि मैंने कपड़े नहीं पहने हैं या गुसल नहीं किया है या शराब नहीं पी है। दरअसल मैं कहानी नहीं लिखता हूँ, बल्कि कहानी मुझे लिखती है।"

जीवन की हलचलों को दरकिनार कर केवल लेखन-कार्य में लग जाना मंटो के लिए सम्भव नहीं था। अपनी रचना-प्रक्रिया की परतें खोलते हुए मंटो ने लिखा है कि "मुझसे पूछा जाता है कि मैं कहानी कैसे लिखता हूँ। इसके जवाब में मैं कहूँगा कि अपने कमरे में सोफ़े पर बैठ जाता हूँ, काग़ज़-क़लम लेता हूँ और 'बिस्मिल्ला' कहकर कहानी शुरू कर देता हूँ। मेरी तीनों बेटियाँ शोर मचा रही होती हैं। मैं उनसे बातें भी करता हूँ। उनके लड़ाई-झगड़े का फ़ैसला भी करता हूँ। कोई मिलने वाला आ जाए तो उसकी ख़ातिरदारी भी करता हूँ, पर कहानी भी लिखता रहता हूँ। सच पूछिए तो मैं वैसे ही कहानी लिखता हूँ, जैसे खाना खाता हूँ, नहाता हूँ, सिगरेट पीता हूँ और झक मारता हूँ।"

पाकिस्तान जाने के बाद मंटो स्वयं को एक परकटे परिन्दे के रूप में ही महसूस करते रहे। राष्ट्र-राज्य के रूप में सामने आए हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में से किसी भी एक का नागरिक होना वे कभी स्वीकार नहीं कर पाए। उन्हें लगता था कि दोनों ही देशों में उनकी कला को बाँधने की कोशिशें बराबर रूप में हुई हैं। मंटो का लेखन उनके अस्तित्व से अभिन्न है। उन्हीं के शब्दों में, "जब क़लम मेरे हाथ में न हो, तो मैं सिर्फ़ सआदत हसन होता हूँ!"

5.2.05. मंटो की जीवन-दृष्टि और कहानी-कला

"ज़िंदगी से मुझे प्यार है, हरकत का दिलदादा (मुग्ध) हूँ।"

– मंटो

मंटो ने अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत रूसी कहानियों के अनुवाद से की थी। उन्होंने रूसी और फ़्रांसीसी लेखकों का भी गहन अध्ययन किया था। इसलिए उनकी कहानियों में एक ओर टॉल्स्तोय से लेकर गोर्की जैसे रूसी लेखकों और दूसरी ओर मोपासां और बाल्ज़ाक जैसे फ़्रांसीसी लेखकों का गहरा प्रभाव रहा है। उनकी कहानी-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह कथ्य में ऐसा अर्थ भरते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से अनुपस्थित दिखाई देता है, लेकिन कहानी में उसे जगह-जगह महसूस किया जा सकता है। उसकी दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि कहानी का उत्कर्ष या अन्त प्रायः अनपेक्षित, खुला और विचारोत्तेजक होता है।

मंटो की कहानियाँ सामाजिक परम्पराओं और राजनैतिक विचारधाराओं से अलग सामाजिक-राजनैतिक यथार्थ का मौलिक चित्रण करती हैं। वे अपने पात्रों के सुख-दुःख को महसूस करते हुए कहानी लिखते हैं, इसलिए उनकी कहानियों में संस्मरणों की-सी लेखकीय भागीदारी रहती है और ये कहानियाँ स्वयं मंटो के विचारों और दृष्टिकोण की वाहक बन जाती हैं। उनकी कहानियाँ बतकही के अंदाज़ में किसी को सुनाते हुए लिखी गई जान पड़ती हैं। मंटो की यह कला कहानी की विश्वसनीयता को बढ़ाती है, क्योंकि उनमें कहानीकार की उपस्थिति सदैव बनी रहती है। कहानी में वह अपने पाठक को साथ लेकर आगे बढ़ते हैं और कहानी समाप्त होने के बाद भी पाठक को नहीं लगता कि वह उसे छोड़कर चले गए हैं। पाठक को यह महसूस होता है कि कहानीकार भी उसके साथ-साथ कहानी के पात्रों की वर्तमान दशा और भविष्य पर चिन्ता कर रहा है।

मंटो बहिष्कृत जगहों और पतित लोगों के लेखक हैं। उनके पात्र समाज के हाशिये पर खड़े मामूली और उपेक्षित वर्ग के जीवन्त लोग हैं। उनकी कई कहानियों में मध्यमवर्गीय और शहरी जीवन के यौन-आचरण का चित्रण हुआ है जिनमें वेश्याओं, दलालों और अपराधियों के जीवन को महत्त्व दिया गया है। यहाँ भी मंटो अपने इन पात्रों के प्रति किसी प्रकार की रूमानियत नहीं दर्शाते हैं, बल्कि उनके जीवन का यथार्थ अवलोकन प्रस्तुत करते हैं। मंटो की दृष्टि में उनके ये तथाकथित अधम पात्र साधारण मानवीय चरित्र हैं जिनमें आम मनुष्य की तरह भावनाएँ और इच्छाएँ मौजूद हैं, लेकिन वे अपने जीवन की परिस्थितियों से दुखी और निराश हैं। मंटो अपनी कहानियों के पात्रों को उनके जीवन की आवश्यकताओं के लिए संघर्षरत माहौल में उनकी व्यस्तताओं के बीच एक जगह खड़े होकर देखते हैं तथा उनके भूत या भविष्य से निर्लिप्त रहकर यथार्थ का निरपेक्ष, परन्तु संवेदनात्मक विवरण देते हैं। मानवीय जीवन के वास्तविक चित्रण के कारण उनके लेखन पर अश्लीलता के आरोप लगे और मुक़द्दमे भी हुए, लेकिन उन पर बाक़ायदा कोई आरोप साबित नहीं हुआ और वे अपने ढंग से समाज की अमानवीयता को उजागर करने में लगे रहे। आलोचकों ने शारीरिकता और नग्नता का सवाल उठाकर मंटो की मानवीयता के पहलुओं और उनकी कला की ठोस तकनीकों की प्रायः उपेक्षा की है।

मंटो एक साथ एक विशिष्ट व्यक्ति, प्रतिभाशाली संवेदनशील लेखक और आम आदमी हो सकता है और उनके इन गुणों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। अपनी कहानियों में मंटो हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव से दूर एक मानवीय और तटस्थ दृष्टिकोण अपनाते हैं। उनका विचार था कि सभी प्रकार की हिन्दू-विरोधी और मुसलमान-विरोधी हिंसा और क्रूरता एक ही मानवीय त्रासदी का हिस्सा है। मनुष्य की आस्था और उसके विश्वास उसकी आत्मा में निवास करते हैं इसलिए इनसे जुड़े हुए मूल्यों को हिंसा और मार-काट के द्वारा समाप्त नहीं किया जा सकता। न तो धार्मिक घृणा के आधार पर हिन्दुओं द्वारा मुसलमानों की हत्या करने से इस्लाम धर्म को समाप्त किया जा सकता है और न ही ग़ैर-मुस्लिम लोगों के क़त्ल से उनकी धार्मिक आस्था को तनिक भी डिगाया जा सकता है। मंटो की कहानियाँ मानवीय मूल्यों और जीवन की गरिमा के पक्ष में मनुष्य जीवन से धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक भेदभाव को समाप्त करने का कलात्मक हस्तक्षेप है।

मंटो की कहानियाँ सामाजिक-राजनैतिक समस्याओं और मुद्दों का किसी प्रकार का विमर्श या समाधान प्रस्तुत करने से बचती हैं। इसलिए पाठक के लिए पात्रों, घटनाओं, परिस्थितियों तथा मनुष्य के विभिन्न कार्यों और मनोभावों को समझने और समझकर कुछ करने के असीमित अवसर छोड़ती हैं। ये कहानियाँ अपनी समस्यापरक विषयवस्तु और चुस्त बनावट के कारण पाठक के सामने एक चुनौती भी पेश करती हैं। संक्षिप्त और छोटा कलेवर, घटना की मार्मिकता और घटना के विवरण के स्वर में मेल का अभाव तथा घटनाक्रमों, परिस्थितियों और पात्रों की भाषा में अन्तर्निहित विडम्बना आदि तत्त्व पाठक को उलझन में डाल देते हैं। कहानी एक गूढ़ोक्ति सी बन जाती है, लेकिन जब खुलती है तो पाठक तिलमिला जाता है। मंटो की यह विशेषता है कि इसी शैली में ये कहानियाँ अपने समय का सबसे विश्वसनीय वर्णन करती हैं। इस अर्थ में ये कहानियाँ अपने दौर का एक निरपेक्ष और स्पष्ट इतिहास बन जाती हैं।

मंटो की कहानियों के पच्चीस से ज़्यादा संग्रह प्रकाशित हुए हैं जिनमें उन्होंने उर्दू गद्य और कहानी लेखन को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाया है। मंटो उर्दू के पहले गद्य लेखक थे जिन्होंने भारतीय मध्यम वर्ग और शहरी जीवन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया तथा समाज में व्याप्त दोहरेपन, पाखण्ड और मध्यमवर्गीय आदर्शों के खोखलेपन को उजागर किया । इसलिए उनकी भाषा कड़वाहट, रूखेपन और व्यंग्य की अनेक भंगिमाओं से युक्त विडम्बनापूर्ण अभिव्यक्तियों का एक मार्मिक सिलसिला बनाती है।

मंटो मनुष्य की स्वतन्त्रता के पैरोकार हैं। साम्राज्यवादी शोषण का विरोध उनके लेखन का बहुत बड़ा सरोकार है। सामाजिक विषमताओं के प्रति उनका दहकता हुआ दुःख और रोष उनकी मानवीय चिन्ताओं से ही पैदा हुआ है। मंटो की अनेक कहानियाँ आरोपित सामाजिक यथार्थ को लक्ष्य करके लिखी गई हैं। इन कहानियों में मंटो की कलात्मक शक्ति अपने चरम पर है और अपने कथ्य की बारीक़ी में अप्रिय और घिनौने सामाजिक यथार्थ के रक्षकों को अपना निशाना बनाती है।

मानवता के प्रति अपनी मूल प्रतिबद्धता के कारण ही मंटो अपने समय की बुराइयों पर अपनी क़लम से निर्मम प्रहार करते हैं। उनकी कहानियों में एक ओर दमन, ग़रीबी और उपेक्षा के अँधेरे के बीच कई ऐसे अनेक संभवानापूर्ण संकेत उपलब्ध हैं जिनसे उन स्थितियों को दूर किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर ऐसी कहानियाँ भी बहुत हैं जिनमें दर्द की मार के कारण उनके पात्र संवेदना शून्य होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ और अकर्मण्य हो जाते हैं। मंटो के इन अन्तर्विरोधों को उनकी अपनी जीवन स्थितियों के आधार पर समझा जा सकता है । कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन के प्रति लेखक के दृष्टिकोण के निर्माण में उसके अपने जीवन की परिस्थितियाँ भी बहुत हद तक ज़िम्मेदार होती हैं।

5.2.06. विभाजन की त्रासदी और साहित्य

साहित्य किसी भी प्रकार की सामाजिक-राजनैतिक परिस्थितियों, घटनाओं अथवा मानवीय विभीषिका की व्याख्या नहीं कर सकता । साहित्यिक रचनाओं को जीवन की असंख्य छोटी-छोटी बिखरी हुई वास्तविकताओं और क्षण-क्षण जीये गए जीवन की विशालता के रूप में अनुभव किया जा सकता है। सदियों के औपनिवेशिक शासन के बाद सन् 1947 में अंग्रेज़ों ने भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी । लेकिन उनको यह आशंका थी कि भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच गृह युद्ध भड़क सकता है, इसलिए धार्मिक आधार पर भारत को दो भागों में बाँट दिया गया – हिन्दुओं के लिए भारत और मुसलमानों के लिए पाकिस्तान । इसके परिणामस्वरूप करोड़ों लोगों का इधर से उधर पलायन हुआ, करोड़ों लोग विस्थापित हुए और लाखों लोग मारे गए। असंख्य लोगों के लिए यह निर्णय समझ पाना मुश्किल हो रहा था।

इतिहासकारों ने भारत-विभाजन के इतिहास को प्रायः अंग्रेज़ों की ग़ुलामी से आज़ाद होने के एक आन्दोलन के रूप में देखा है। लगभग एक शताब्दी के संघर्ष के बाद स्वतन्त्रता मिलना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि थी। इसका जश्न मनाया जाना था, मनाया गया। विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान दोनों ओर से

अपने धर्म के लोगों, नेताओं और कार्यों को सही साबित करते हुए दूसरे धर्म के लोगों, नेताओं और कार्यों को विभाजन की विभीषिका का ज़िम्मेदार ठहराया गया है। इतिहास-लेखन में धार्मिक आधार पर देश के विभाजन की घोषणा और सरकारी आदेशों की पालना में सम्पन्न विस्थापन की कार्रवाई से उपजी पीड़ा, विनाश, पलायन के दौरान हुई मौतों, अपहरण, बलात्कार और दूसरे बर्बरतापूर्ण कारनामों का विवरण और लेखा-जोखा नहीं है। इस त्रासदी की वास्तविक घटनाओं और पागलपन को साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में दर्ज़ किया है और कलात्मक ढंग से उभारा है।

सन् 1947 में इस उपमहाद्वीप का दो भौगोलिक हिस्सों में विभाजन ऐसी भयंकर घटना थी जिसने इस भू-भाग के केवल भौतिक टुकड़े ही नहीं किए, बल्कि लोगों के जीवन को बुरी तरह से बदल दिया। विभाजन के फ़ैसले के बाद डर, हिंसा, लूट, बलात्कार, आगजनी और कई प्रकार की पाशविकता का जो ताण्डव चला वह दिल दहलाने वाला था। अचानक सदियों से चली आ रही साझा संस्कृति, परम्परा और इतिहास को जीने वाली मनुष्यता की मज़बूत दीवारें रातोंरात दरक गईं और चारों तरफ़ अविश्वास पसर गया। अब तक सुख-दुःख में साथ जीने और मरने वाले, शान्ति से मिल-जुलकर साथ रहने वाले दो मानवीय समूह एक दूसरे के जानी दुश्मन हो गए। लोगों की बुद्धि नष्ट हो गई, वे भयाक्रान्त हो गए और आपस में मार-काट मचाने लगे। विभाजन-रेखा के दोनों तरफ़ के लोगों पर धार्मिक कट्टरता का उन्माद छा गया था। बच्चे, बूढ़े, औरतें और पुरुष सभी उस भयानक विनाश का शिकार हो रहे थे। जो लोग किसी तरह इस विनाशलीला से बच गए उन्हें उनके सामने घटित हत्याकाण्ड ने हमेशा के लिए न भरने वाले ज़ख़्मों से भर दिया था।

उस दौर में लेखकों के लिए विभाजन की त्रासदी पर लिखना एक आन्तरिक विवशता बन गई थी। उन्होंने जो कुछ देखा या भोगा उसके प्रति उनमें एक चिन्ता और संलग्नता का भाव आ गया था। देखी और भोगी हुई मानवीय विभीषिका उनके रचनात्मक संसार का हिस्सा बन गई थी। विभाजन की दुखान्तिका पर लिखी गई सभी कहानियों में एक तरफ़ उस खौफ़नाक मंज़र को पुनर्सृजित किया जा रहा था, तो दूसरी ओर उसकी अर्थहीनता को लेकर लेखकों में क्रोध और असहायता का बोध इतना था कि जिससे उस साहित्य के सन्दर्भ गड्ड-मड्ड हो रहे थे। विवरणों की भरमार में उस दुःख के ऐतिहासिक और राजनैतिक सन्दर्भों पर ध्यान कम जा रहा था।

विभाजन की त्रासदी से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उस दौर के सभी प्रमुख कथाकार जुड़े हुए थे। राजेन्दर सिंह बेदी, कृश्न चन्दर, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, कुलवन्त सिंह विर्क, खुशवन्त सिंह, सन्त सिंह सेखों आदि ने कहानियों और उपन्यासों के माध्यम से अपने अनुभवों को अभिव्यक्त किया है। विभाजन सम्बन्धी इस साहित्य में मुख्य रूप से दो धाराओं में लेखन हो रहा था। एक धारा के अन्तर्गत धार्मिक समुदायों द्वारा एक दूसरे के प्रति किये गए अत्याचारों, हत्याओं और अन्धी लूट-पाट को लेखन में उतार कर उस दौर की अमानवीयता को उजागर किया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर कुछ लेखक उस पीड़ा, भय और अतिशय हताशा को कहानियों में ढाल रहे थे जो अपनों को खो देने, उनसे बिछड़ जाने तथा पीढ़ियों से बसे अपने घरों से विस्थापित होकर एकदम अनजान जगह पर फेंक दिए जाने से उत्पन्न हुई थी और जिसने उनकी चेतना को ग्रस लिया था। अपने घरों से बाहर फेंक दिए जाने की यातना और व्यथा को बहुत संवेदनशीलता के साथ उस कथा-साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है।

5.2.07. विभाजन और मंटो की कहानियाँ

विभाजन के कारण सन् 1948 में मंटो को बंबई छोड़कर लाहौरजाना पड़ा था। वे बंबई में बहुत ख़ुश थे। वे अपने आप को कभी यह समझा ही नहीं पाए कि उनका देश पाकिस्तान है। दिल्ली और बंबई की स्मृतियाँ उन्हें लगातार सता रही थीं। उनका स्वास्थ्य भी गिर रहा था। उन्हें अवसाद के दौरे भी पड़ चुके थे। अपने इलाज़ के लिए उन्हें अस्पताल और मनोचिकित्सालय में भर्ती भी होना पड़ा था।

मंटो ने विभाजन के विषय पर कई कहानियाँ लिखी हैं। 'टोबा टेकसिंह' के अलावा 'ठंडा गोश्त', 'खोल दो', 'टेटवाल का कुत्ता' आदि विभाजन के विषय पर लिखी हुई उनकी महत्त्वपूर्ण कहानियाँ हैं, जिनमें उस दौर की भयावहता का मार्मिक चित्रण किया गया है। इन कहानियों में कथावाचक कथावस्तु से दूर रहकर कुछ आवश्यक सूचनाएँ देता है। कहानी में अधिक ब्यौरे न देकर सांकेतिक रूप से घटनाक्रम की पुनर्रचना की जाती है। यह सांकेतिकता ही विभाजन के आतंक और विनाश की बहुस्तरीय विभीषिका को संवेदनात्मक ढंग से सम्प्रेषित करती है। मंटो की कहानियों का संग्रह 'सियाह हाशिये' विभाजन की त्रासदी का कलात्मक दस्तावेज़ है। मंटो किसी जाति-धर्म के आधार पर विभाजन की त्रासदी का चित्रण नहीं करते, बल्कि उनके अनुसार इसके लिए सभी पक्ष बराबर रूप से दोषी हैं। उस दौर में मनुष्य ही पशु बन गया था। मंटो की विशेषता है कि वे भारत-विभाजन की भयानक त्रासदी को एक सामान्य इंसान की दृष्टि से देखते हैं। मंटो की कहानियों की विशेषता यह है कि वे समाप्त होकर भी पाठक के मस्तिष्क में असंख्य प्रश्न पैदा कर जाती हैं।

मंटो की कहानियाँ हमें बताती हैं कि देश के विभाजन का इतिहास मार-काट और ज़्यादतियों का इतिहास है। इन कहानियों में जाति, धर्म, स्थान आदि के पूर्वाग्रहों को स्थान नहीं दिया गया है। किसी भी रूप में किसी धर्म या संस्कृति विशेष की अवमानना और उसे बुरा ठहराने की कोई कोशिश भी नहीं है। मंटो ने कई दूसरे लेखकों की तुलना में विभाजन की हिंसा को राष्ट्रवादी नज़रिये से भी नहीं देखा है। उन्होंने इस त्रासदी के शिकार और जीवित बचे हुए दुखी लोगों के नज़रिये से उस कालखण्ड और परिवेश को देखा है। मंटो विभाजन को एक अविवेकपूर्ण और अमानवीय कार्रवाई मानते थे जिसने असंख्य निर्दोष लोगों की जान ली थी और असंख्य लोगों को सदमे और असहनीय दु:खों की स्थिति में पहुँचा दिया था। मंटो ने अपनी कहानियों में दिखाया है कि विभाजन की घटना पागलपन का कोई मामूली दौरा नहीं था जो उस समय की राजनैतिक और सामाजिक शक्तियों को पड़ा था, बल्कि वह मानवीय चरित्र की अच्छाइयों और बुराइयों को सामने लाने वाली एक हृदयविदारक घटना थी। मंटो ने विभाजन की त्रासदी के शिकार लोगों के दर्द को अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है तथा उपेक्षित और तिरस्कृत लोगों में मानवीयता की खोज की है।

5.2.08. कहानी 'टोबा टेकसिंह'

'टोबा टेकसिंह' कहानी पहली बार उर्दू पत्रिका 'सवेरा' में सन् 1953 में प्रकाशित हुई थी। उन दिनों मंटो बहुत थकी हुई दशा में थे। यदि बँटवारे के फैसले को एक पागलख़ाने में बन्द पागलों को समझाना हो तो स्थिति क्या हो सकती है, मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' इसी विचार-बिन्दु से शुरू होती है।

5.2.08.1. संवेदना और संरचना

अपनी कहानी 'टोबा टेकसिंह' को मंटो ने एक पागलख़ाने पर केन्द्रित किया है तथा विभाजन की समस्या और पीड़ा को पागलों की दुनिया के हवाले से रेखांकित किया है। कहानी एक अदृश्य वाचक (नरैटर) के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। कहानी के विवरण से पता चलता है कि कथावाचक पाकिस्तानी है। वाचक बहुत सरल और सीधे शब्दों में विभाजन के दो या तीन वर्ष बाद के उस घटनाक्रम का विवरण देता है जो वास्तव में उतना सीधा और सरल नहीं है। शुरूआत के दो अनुच्छेद सीमा पर हो रहे तबादले की जानकारी देते हैं। तीसरे अनुच्छेद में फ़्लैशबैक के माध्यम से पाठक को अचानक उस समय में पहुँचा दिया जाता है जब लाहौर के पागलख़ाने में बन्द पागलों को पहली बार तबादले के बारे में जानकारी मिली थी। आरम्भ और अन्त को छोड़कर पूरी कहानी पागलख़ाने के भीतर के घटनाक्रम और पागलों के व्यवहार पर केन्द्रित है। कहानी के अन्तिम हिस्से में पाठक एक बार फिर उसी सीमा-रेखा पर पहुँच जाता है, जहाँ से कहानी शुरू हुई थी। कहानी के मुख्य पात्र बिशन सिंह से पाठक कहानी के बीच में पहुँच कर ही मिल पाता है। बिशन सिंह तक आने से पहले वाचक हमें अन्य पागलों की स्थिति और व्यवहार का विस्तृत विवरण देता है।

'टोबा टेकसिंह' कहानी देश-विभाजन के कारण अपनी जड़ों से कट जाने और निर्वासित जीवन जीने की त्रासदी बयान करती है। पागलख़ाने में बन्द कहानी का नायक बिशन सिंह पंजाब के एक छोटे से गाँव टोबा टेकसिंह का रहने वाला है। वह यह तथ्य स्वीकार नहीं कर पाता है कि विभाजन के कारण उसे सीमा के दूसरी ओर जाना है इसलिए उसे अपने घर और गाँव को हमेशा के लिए भूल जाना होगा। पागल बिशन सिंह सरकारी आदेश को मानने से इनकार कर देता है। जो व्यक्ति वर्षों तक पैरों पर खड़ा ही रहा, बैठा नहीं, इस आदेश के विरोध में दोनों देशों की सीमा-रेखा पर लेट जाता है, अपनी जान दे देता है। यह कहानी विभाजन के बेतुके और मनमाने राजनैतिक फ़ैसले की धज्जियाँ उड़ाते हुए सत्ता के विरुद्ध अपना प्रतिवाद प्रस्तुत करती है, जिसने परिणामों के बारे में कोई विचार न करते हुए देश के बँटवारे जैसा बड़ा फ़ैसला ले लिया। अर्थात् पागलख़ाने के भीतर बन्द पागलों से बाहर के नेता कई गुना अधिक पागल और ख़तरनाक हैं।

बिशन सिंह का परिचय उसके छद्म नाम 'टोबा टेकसिंह' के रूप में करवाया गया है। कहानी में यह नाम गाँव के स्थान पर परोक्ष रूप से बिशन सिंह के चरित्र का उल्लेख अधिक बार करता है। मंटो ने व्यक्ति और स्थान की अलग-अलग पहचानों को मिला दिया है, मिटा दिया है। बिशन सिंह 'टोबा टेकसिंह' का निवासी ही नहीं है, वह स्वयं अपना गाँव 'टोबा टेकसिंह' हो गया है। यदि विभाजन के आघात और भयानकता को महसूस करना है

तो हमें अपनी व्यक्तिगत और धार्मिक-जातिगत पहचान को भुलाना होगा। अपनी पहचान खोकर ही हम पहचान आधारित विभीषिका के शिकार लोगों की त्रासदी को समझ सकते हैं और उसका विश्लेषण कर सकते हैं। इसलिए एक पागल व्यक्ति की पहचान का गुम हो जाना विभाजन की अतार्किकता और उससे पैदा हुए दर्दनाक हादसों की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

पागलों और पागलख़ाने के रूपक के माध्यम से मंटो ने समाज के सभी वर्गों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में सन्देह और अस्पष्टता इतनी अधिक है कि "एक पागल तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के चक्कर में कुछ ऐसा गिरफ़्तार हुआ कि और ज़्यादा पागल हो गया।" विभाजन ने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को एकदम अलग-अलग कर दिया था। बिशन सिंह न पाकिस्तान में रहना चाहता है और न ही हिन्दुस्तान में। वह सरकारी आदेश का विरोध करता है और इस विभाजन को अस्वीकार कर देता है। वह अपने गाँव 'टोबा टेकसिंह' की वास्तविक स्थिति जानने को इतना व्याकुल है कि वह अपने पागल साथियों और उससे मिलने आए पुराने दोस्त से भी केवल एक ही सवाल पूछता है कि 'टोबा टेकसिंह' कहाँ है ? हिन्दुस्तान में या पाकिस्तान में ? कहानी में मंटो ने 'द्वि-राष्ट्र' सिद्धान्त के औचित्य को ही प्रश्नांकित नहीं किया है बल्कि राष्ट्र के आधार पर व्यक्ति की पहचान के सिद्धान्त को भी कठघरे में खड़ा किया है। बिशन सिंह अपने विरोध पर अड़ा रहता है और अन्ततः हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में से किसी एक को चुनने की बजाय दोनों देशों की सीमा पर बिना नाम के धरती के टुकड़े पर अपनी जान दे देता है। मंटो का स्पष्ट सन्देश है कि संस्कृति, धर्म और राष्ट्र की सीमाओं को भुलाकर मानवीयता और नैतिकता के लिए संघर्ष जारी रहना चाहिए।

कहानी का नायक विभाजन के अविवेकपूर्ण निर्णय को बार-बार अस्वीकार करता है और राष्ट्रों के नाम से गढ़ी गई अपनी नई पहचान को समझ नहीं पाता है, इसलिए उसका एक ही सवाल है कि "टोबा टेकसिंह कहाँ है, हिन्दुस्तान में या पाकिस्तान में ?"

बिशन सिंह के चरित्र को इस तरह गढ़ा गया है कि उसे उसके गाँव से अलग नहीं किया जा सकता। पागलों के बँटवारे की प्रक्रिया के बीच कहानी के कारुणिक अन्त में ऐसा महसूस होता है कि वह अपने स्तर पर अपने गाँव टोबा टेकसिंह पहुँच गया है और उसकी पहचान उसके गाँव के साथ मिल गई है। बिशन सिंह का किसी अनजान जगह पर जाने से इनकार करना विभाजन के आघात और विस्थापन की पीड़ा से गुज़र रहे लोगों की स्थिति को प्रकट करता है। बिशन सिंह को यह चिन्ता है कि उसका गाँव 'टोबा टेकसिंह' किस ओर गया है ? उसके दूसरे पागल साथी भी हिन्दुस्तान और पाकिस्तान को लेकर भ्रमित हैं। इस चिन्ता और भ्रम को उस दौर में लाखों-करोड़ों लोगों द्वारा अनुभव किया गया था। लोग समझ नहीं पा रहे थे कि उनका वास्तविक निवास-स्थान और देश कौनसा है ? संशय के उस दौर में उन असंख्य पीड़ित लोगों की वेदना बिशन सिंह की व्याकुलता और चिन्ता में अभिव्यक्त हुई है। मंटो ने बिशन सिंह के माध्यम से विस्थापन से उपजे पागलपन, जानलेवा दर्द और मार-काट को मार्मिक ढंग से उभारा है।

कहानी का नायक जिस प्रकार अपने गाँव की वास्तविक ठौर जानना चाहता है, दूसरी जगह जाने का विरोध करता है और जिन परिस्थितियों में मरता है, यह सब विभाजन के निर्णय की भर्त्सना है। बिशन सिंह किसी एक नवनिर्मित देश में जाने से पहले दोनों देशों के बीच उस जगह पर मरता है जिसका कोई नाम नहीं है। कहानी का यह अन्तिम दृश्य हृदयविदारक है। मंटो ने बेघर शरणार्थियों और उजड़े हुए लोगों की तरफ से सियासत के गाल पर करारा तमाचा मारा है। एक पागल विभाजन के मसले पर विचार करते-करते और अधिक पागल हो गया और एक पेड़ पर चढ़ गया। जब उससे नीचे उतरने के लिए कहा गया तो उसका उत्तर था कि "मैं न हिन्दुस्तान में रहना चाहता हूँ न पाकिस्तान में ..., मैं इस दरख़्त पर ही रहूँगा।"

'टोबा टेकसिंह पाकिस्तान में है या हिन्दुस्तान में है ?' बिशन सिंह के इस सवाल के जवाब में ख़ुदा बना हुआ एक पागल कहता है कि "वह न पाकिस्तान में है न हिन्दुस्तान में इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म ही नहीं दिया है।" यह इस बात को सामने लाता है कि विभाजन के मुद्दे पर सियासत में कितना असमंजस और विचारहीनता है।

मंटो की कहानी-कला की विशेषता है कि वह पात्रों की बातचीत के दौरान बहुत गम्भीर और संवेदनात्मक सन्देश सहजता से पिरो देते हैं। बिशन सिंह का दोस्त फ़ज़लदीन उसके परिवार वालों का हाल-चाल बता रहा है – "... तुम्हारे सब आदमी ख़ैरियत से हिन्दुस्तान चले गए थे ... मुझसे जितनी मदद हो सकी, मैंने की ... तुम्हारी बेटी रूप कौर ... " वह कहते-कहते रुक गया। बिशन सिंह कुछ याद करने लगा : "बेटी रूप कौर ?" फ़ज़लदीन ने कुछ रुक कर कहा " हाँ ... वह ... भी ठीक-ठाक है उनके साथ ही चली गई थी।" इस पूरी बातचीत में फ़ज़लदीन जिस प्रकार से रुक-रुक कर अपनी बात कहता है, उसमें जो 'असली बात कैसे कहूँ ?', 'कहूँ या न कहूँ' का एक भय और झिझक है, उससे बहुत गहरा अर्थ निकलता है। यह बातचीत पाठक को झकझोर देती है। मंटो यहीं नहीं रुकते, बिशन सिंह अपने दोस्त फ़ज़लदीन की बात सुनकर ख़ामोश रहता है। वह दूसरे समाचारों और फ़ज़लदीन की भेंट मरुण्डों की पोटली को कोई तवज्जो नहीं देता है और फ़ज़लदीन से भी वही सवाल पूछता है : "टोबा टेकसिंह कहाँ है ?" दर्द की मार के बीच ऐसा बेधक सवाल ! मंटो ऐसी ही विडम्बनाओं के रचनाकार हैं। वे पाठक को अपने साथ लेकर चलते हैं और बीच-बीच में दर्द के झटके देकर उसको दर्द की संवेदना तक ले आते हैं।

बिशन सिंह द्वारा एक बेनाम जगह पर जान दे देने की घटना लेखक, पाठक और पीड़ित लोगों को सहानुभूति के धरातल पर एक साथ ला कर खड़ा कर देती है। विस्थापन की पीड़ा पर केन्द्रित यह कहानी पाठकों को उस त्रासदी का विवरण नहीं देती है, बल्कि यह उनके मन-मस्तिष्क को झकझोरती है और उन्हें उसमें शामिल करती है। कहानी जीवन में डूब जाती है और विभाजन से उपजे मानवीय आघात को उसकी भयानकता के साथ अपने पाठकों के साथ बाँटती है।

5.2.08.2. विषयवस्तु और परिवेश

कहानी एक ऐतिहासिक विवरण की तरह शुरू होती है। पहले वाक्य में ही कहानी का ऐतिहासिक सन्दर्भ दे दिया गया है : "बँटवारे के दो तीन साल बाद पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की हुकूमतों को ख़याल आया कि सामाजिक क़ैदियों की तरह पागलों का भी तबादला होना चाहिए ..." यद्यपि शुरूआत का वाक्य किसी समाचार पत्र के रिपोर्ताज की तरह लगता है लेकिन वाचक (नरैटर) की शैली में जो दिखावटी गम्भीरता और अन्तर्निहित उपहास है, वह विभाजन के फ़ैसले का उपहास है। मंटो विभाजन की समस्या को पागलख़ाने के माहौल से जोड़कर पाठक को उसकी निरर्थकता बताना चाहते हैं, यह संकेत यहाँ मिल जाता है।

कहानी के दूसरे परिच्छेद में बुद्धिमानों और पागलों का युग्मक प्रस्तुत किया गया है। पागलों के तबाद ले सम्बन्धी निर्णय को उचित और अनुचित के युग्मक में रखकर उसकी सार्थकता पर प्रश्न किया गया है। भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की ओर से उच्चस्तरीय विचार-विमर्श के बाद पागलों के तबादले की तिथि तय की गई। पागलों से उनकी इच्छा जानने की कोशिश किसी ने नहीं की, क्योंकि यह माना जाता है कि पागल अपने अच्छे या बुरे का निर्णय करने में सक्षम नहीं होते हैं। सियासत और सत्ता का जनता के प्रति नज़रिया क्या होता है, कहानीकार ने यह स्थापित कर दिया है।

तीसरा पैरा उस विधि को स्पष्ट करता है जिसके आधार पर पागलों का बँटवारा किया गया है। मंटो का संकेत बहुत साफ है कि बँटवारे का निर्णय और उसे लागू करने का कार्य जनता की इच्छाओं और हितों के विपरीत किया गया है।

इस प्रकार कहानी के आरम्भिक तीन अनुच्छेदों में मंटो अपने कथानक का माहौल बना देते हैं और आगे की दिशा का संकेत भी कर देते हैं कि पागलख़ाने के भीतर की स्थितियाँ उस समय के हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का प्रतिबिम्ब हैं। पाठक उस समय में जाने के लिए तैयार हो जाता है। वाचक घटनाक्रम से दूर और तटस्थ रहकर उन सब बातों का वर्णन करता है जो विभाजन के फ़ैसले के बाद हुईं। कहानीकार अपने कथानक को इतिहास के एक ख़ास दौर पर आधारित कर देता है और पागलख़ाने पर केन्द्रित करके उस दौर को एक साहित्यिक रचना में बदल देता है। पात्रों के साधारण क्रिया-व्यापारों में अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करने से उनकी मार्मिकता का उद्घाटन होता जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं की वास्तविक भयावहता को उजागर करने में व्यंग्य और अन्तर्द्वन्द्व का बहुत सफलतापूर्वक कलात्मक प्रयोग किया गया है।

जैसा कि मंटो की अन्य कहानियों में देखा जा सकता है, वे समाज और सामाजिक संस्थाओं द्वारा हाशिये पर धकेल दिए गए शोषित और दलित लोगों का यथार्थ चित्रण करते हैं। इस वर्ग के लोगों को अपनी कहानियों के मुख्य पात्र बनाकर वे उन पर हुए अत्याचारों और उनके शोषण का नैतिक विरोध करते हैं। बिशन सिंह समाज से विलगित व्यक्ति है। वह पागल तो है ही, मंटो ने उसे बोलने से वंचित दिखा करउसकी अस्मिता को बहुत गुम्फित

कर दिया है। बिशन सिंह का व्यक्तिगत द्वन्द्व उन शक्तियों पर भारी पड़ जाता है जो उसकी पहचान बदलने के लिए प्रयत्नरत हैं।

मंटो ने विडम्बना का इतनी कुशलता से प्रयोग किया है कि कहानी के अन्त में बिशन सिंह ही टोबा टेकसिंह बन जाता है। जैसे उसे अपनी खोई हुई पहचान मिल गई है और वह अपने गाँव पहुँच गया है। कहानी के आरम्भ का व्यंग्य और साधारण वर्णनात्मकता धीरे-धीरे बिशन सिंह के प्रति सहानुभूति और चिन्ता में विलीन हो जाती है। पाठक उसके प्रतिरोधपूर्ण अन्त को देखकर उसकी प्रशंसा करता है और उसी समय बिशन सिंह के दुःख में शामिल होकर उसके प्रति सहानुभूति भी महसूस करता है।

5.2.08.3. विभाजन की समस्या और पागलपन का रूपक

सामान्य बातचीत में जिस घटना या कार्य का अर्थ नहीं समझा जा सकता हो उसे हम पागलपन कह देते हैं। किसी अन्य की अतार्किक बात को पागलपन कहकर अपनी बात को उचित और सही सिद्ध करना भी एक सामान्य युक्ति है। विभाजन के दौर को आज भी पागलपन के दौर के रूप में याद किया जाता है। बँटवारे के बाद फैली हिंसा को देखकर हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने भी जनता से यही अपील की थी कि पागलपन का जवाब पागलपन से नहीं दिया जाना चाहिए। अख़बार, आम आदमी और विद्वान् सभी मार-काट के पागलपन को बन्द करने की बात करते थे। विभाजन के दुष्परिणामों की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए उसे एक सामान्य सामाजिक विचलन कहकर भी बात को टाल देने की प्रवृत्ति रही है। लेकिन बिशन सिंह की प्राणान्तक अवज्ञा और विद्रोह ने विभाजन को बुद्धिमान लोगों के पागलपन में बदल दिया है । विभाजन की हिंसा सामूहिक पागलपन का स्वतःस्फूर्त विस्फोट नहीं था। विस्थापन की पीड़ा सियासी पागलपन का परिणाम थी।

'टोबा टेकसिंह' कहानी में पागलख़ाने में बन्द पागलों की दुनिया बाहरी दुनिया का प्रतिबिम्ब बन गई है। कहानी का नायक बिशन सिंह अपने गाँव की स्थिति को लेकर चिन्तित और क्रोधित है। नायक के इस क्रोध और चिन्ता में उन असंख्य बेदख़ल हुए लोगों द्वारा भोगी जा रही यातनाओं और दुःखों को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है जिन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके घरों और वतन से बाहर निकालकर अनजान जगहों पर जाने और रहने के लिए मजबूर कर दिया गया है। जो दर्द और भय पागलों तक में व्याप्त हो गया है उसकी गहराई और भयावहता को समझना मुश्किल नहीं रह जाता है।

लाहौर का पागलख़ाना विभाजन-पूर्व देश के विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों के लोगों से भरा हुआ है। कथावाचक हमें उन सभी का परिचय देता है। उनमें एक मुसलमान मौलवी है जो पाकिस्तान की परिभाषा यह कह कर देता है कि यह हिन्दुस्तान में एक जगह है जहाँ उस्तरे बनते हैं। एक सिक्ख पागल हिन्दुस्तान की बोली नहीं जानने से चिन्तित है तो दूसरा हिन्दुस्तानियों और उनकी बोली का मज़ाक उड़ाता है। कुछ पागल जो दूसरों जितने पागल नहीं हैं (वास्तव में वे पागल नहीं थे लेकिन उनके घरवालों ने बड़ी सज़ा से बचाने के लिए है उन्हें वहाँ भर्ती

करवा दिया था), उनके धर्म का उल्लेख नहीं किया जाता है लेकिन वे भी हिन्दुस्तान-पाकिस्तान को लेकर बहुत भ्रम में हैं।

एक मुसलमान पागल ने नहाते वक़्त अति उत्साह में 'पाकिस्तान ज़िन्दाबाद' का नारा बहुत ज़ोर से लगाया और फ़र्श पर गिरकर बेहोश हो गया। बँटवारे की सूचना से एक पागल पहले से बहुत अधिक पागल हो गया है। वह एक पेड़ की टहनी पर चढ़कर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के इस नाज़ुक मुद्दे पर भाषण देने लग जाता है। उसने घोषणा कर दी कि वह न हिन्दुस्तान में रहना चाहता है और न ही पाकिस्तान में, इसलिए वह इस पेड़ पर ही रहेगा। उसके मुसलमान होने का पता भी तब चलता है जब उसे किसी तरह नीचे उतार लिया जाता है और वह अपने सिक्ख और हिन्दू दोस्तों से गले मिलकर रोने लगता है, क्योंकि यह सोचकर उसका दिल भर गया था कि वे उसे छोड़कर हिन्दुस्तान चले जाएँगे और वह मुसलमान है इसलिए उसे यहीं पाकिस्तान में रहना पड़ेगा। इस पागल का चरित्र उन लोगों की दुर्दशा को बहुत मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करता है जिन्हें उनकी पसंद के विरुद्ध किसी दूसरी जगह पर जाने को मजबूर किया जा रहा है। कहानी में इस पागल का चरित्र यह भी साबित कर देता है कि दूसरे धर्म के लोग पागलों के लिए तो अभी भी मित्र और प्रिय हैं, इसलिए वास्तविक रूप से पागलख़ाने के बंदियों की तुलना में बाहर के लोग अधिक पागल हैं। पागलख़ाने में मानवीयता ज़िंदा है, बाहर वह मर रही है। पागलख़ाने के अंदर सामाजिक सम्बन्धों को धार्मिक-सामाजिक भिन्नता के बावजूद बहुत महत्त्व दिया जाता है। पागलख़ाने से बाहर के समझदार लोगों ने पीढ़ियों के सामाजिक सम्बन्धों को ताक पर रखकर अपने मित्रों और पड़ौसियों को उनके घरों से बेदख़ल करने और उन्हें मारने का अमानवीय कार्य किया है।

कहानी बँटवारे के सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष का प्रहसन बन जाती है। पंजाब के चिन्योट ज़िले से आए एक मुसलमान पागल ने ख़ुद को क़ायदे-आज़म मुहम्मद अली जिन्ना घोषित कर दिया, तो उसके विरुद्ध एक सिक्ख पागल मास्टर तारासिंह बन गया। दोनों के बीच टकराव हिंसक होने से पहले उन्हें अलग-अलग कमरों में बन्द कर दिया गया। मंटो का आशय यह लगता है कि पागलख़ाने में तो इस तरह ख़ून-ख़राबा टाल दिया गया, लेकिन बाहर इस प्रकार की कोई कार्रवाई नहीं की गई जिससे हिंसा को टाला या रोका जा सकता हो।

यह कहानी भारत-पाक विभाजन से उत्पन्न आघात को ही अभिव्यक्त नहीं करती, बल्कि जीवन में सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों के संरक्षण की आवश्यकता को भी रेखांकित करती है।देवेन्द्र इस्सर ने लिखा है कि मंटो की कहानियाँ उन सीमान्त क्षेत्रों में घटित होती हैं जहाँ सभी सीमाएँ मिट चुकी हैं और चेतना दिशाहीन हो गई है, जहाँ समझदारी और पागलपन, तंदुरुस्ती और बीमारी, पाप और पुण्य में भेद समाप्त हो गया है। पागलख़ाना और अस्पताल ऐसे स्थानों के लिए बहुत उपयुक्त रूपक हैं। पागलख़ानों और अस्पतालों में भर्ती मरीज़ों को प्रायः हम उनके जाति, धर्म और राष्ट्र आदि से ऊपर उठकर देखते हैं। यह एक मानवीय और राजनीति-निरपेक्ष परिप्रेक्ष्य है। मंटो ने पागलख़ाने के भीतर घटित होने वाले छोटे-छोटे घटनाक्रमों और स्थितियों के माध्यम से बाहर के वास्तविक घटनाक्रमों से उत्पन्न अराजकता और अव्यवस्था का प्रतिरूप निर्मित किया है। पागलों के वार्तालाप में निराशा और दुःखपूर्ण हास्य को दिखाकर मंटो बँटवारे की मूर्खता और निरर्थकता को उजागर करते हैं और उसमें अन्तर्निहित विडम्बना को रेखांकित करते हैं।

5.2.08.4. बिशन सिंह की बड़बड़ाहट

कहानी के सन्दर्भ और परिवेश को स्थापित करने के बाद मंटो पाठक का ध्यान कहानी के मुख्य पात्र बिशन सिंह पर केन्द्रित करता है। कथावाचक (नरैटर) पाठक को बिशन सिंह का पूरा परिचय देता है। एक सिक्ख के रूप में उसके हाल, हुलिये और व्यवहार की जानकारी देने के बाद पाठक को बताया जाता है कि उसका वास्तविक नाम बिशन सिंह है, लेकिन सब उसे टोबा टेकसिंह कहते हैं। यद्यपि कहानी में किसी को भी उसे टोबा टेकसिंह कहते हुए नहीं बताया गया है। कथावाचक भी उसे बिशन सिंह कहकर ही उससे सम्बन्धित बातें बताता है। बिशन सिंह 'टोबा टेकसिंह' नामक जगह के एक ज़मींदार परिवार से आया है। पागल होने के कारण उसकी शक्ल भयानक हो गई थी लेकिन वह किसी से कोई झगड़ा नहीं करता है और न ही किसी को कोई नुक़सान पहुँचाता है। वह एक लड़की का पिता है जिसका जन्म होने बाद से ही वह पागल हो गया था इसलिए उसे पागलख़ाने में भर्ती करवा दिया गया था। वह अपनी बेटी तक को नहीं पहचानता था। उसकी बेटी अब पन्द्रह वर्ष की हो गई है और अपने पिता की हालत देखकर रोती रहती है। बिशन सिंह पन्द्रह वर्षों से इस पागलख़ाने में बन्द है और यहाँ आने के बाद वह कभी भी सोया नहीं है। कभी-कभी दीवार के सहारे टेक ज़रूर लगा लेता था, वरना वह अपने पैरों पर खड़ा ही रहा है। इससे उसके पैरों में सूजन आ गई है। इतना ही नहीं वह कम बोलता है और जब से उसे देश के बँटवारे के बारे में पता चला है वह एक ही सवाल सभी से पूछता है कि "टोबा टेकसिंह कहाँ है ? हिन्दुस्तान में या पाकिस्तान में ?" वह किसी के जवाब से संतुष्ट नहीं होता है और पंजाबी, उर्दू और अंग्रेज़ी भाषाओं की खिचड़ी-सी निरर्थक शब्दावली में बड़बड़ाने लगता है – "ओपड़ दी गड़गड़ ... दी एनेक्स दी बेदियाना ... दी मूंग दी दाल ऑफ दी लालटेन ...।"

उसकी इस मूल अभिव्यक्ति में कहानी के आगे बढ़ने के साथ-साथ नये शब्द जुड़ जाते हैं लेकिन इसका अर्थ फिर भी स्पष्ट नहीं होता है। सार्थक और निरर्थक की खिचड़ी मानवीय संचार के असफल हो जाने की त्रासद स्थिति का रूपक है। भाषा मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है, उसकी भावनाओं और व्यवहार को अभिव्यक्त करती है लेकिन यहाँ उसने भी धोखा दे दिया है। वह कुछ भी सम्प्रेषित कर पाने में सक्षम नहीं है इसलिए वह एक बड़बड़ाहट भर बन कर रह गई है। यह बड़बड़ाहट एक तरफ़ उस दर्द को बयान करती है जिसमें विस्थापित लोग न तो अपनी बात किसी को समझा सकते हैं और न ही वहाँ के लोगों की बात समझ पा रहे हैं जहाँ उन्हें पहुँचा दिया गया है। दूसरी तरफ़ इसमें यह तथ्य भी सामने आता है कि अखण्ड हिन्दुस्तान में विभिन्न भाषाएँ एक साझा संस्कृति की वाहक थीं, विभाजन के कारण सदियों पुरानी वह साझा संस्कृति खण्डित हो गई है। मंटो ने बहुत कलात्मक ढंग से विभाजन के बाद पैदा हुई परिस्थितियों को चित्रित किया है।

5.2.08.5. विभाजन का आघात

बिशन सिंह के परिचय में पाठक को बताया जाता है कि जब उससे मिलने वालों के आने का दिन होता था तो वह बहुत अच्छे ढंग से नहाता था और सज-धजकर मुलाक़ात के लिए जाता था। उसे ख़ुद ही पता चल जाता था कि उसके परिवार वाले कब आ रहे हैं। बँटवारे की घोषणा के बाद उससे मिलने वालों का आना बन्द हो

गया था इसलिए वह बहुत निराश हो गया था। उसे विश्वास था कि वे लोग टोबा टेकसिंह की वास्तविक स्थिति अवश्य बता देते क्योंकि वे वहीं से आते थे।

अब कहानी विभाजन की घटना से निकलकर पूरी तरह बिशन सिंह पर केन्द्रित हो गई है। विभाजन से उत्पन्न अव्यवस्था और निर्वासन के दर्द की अभिव्यक्ति बिशन सिंह के क्रोध और हताशा में होती है। पहले वह यह जानना चाहता है कि उसका गाँव टोबा टेकसिंह हिन्दुस्तान या पाकिस्तान में से किस ओर है। यहाँ मंटो मनमाने राजनैतिक फैसलों पर व्यंग्य करते हैं। ख़ुदा के रूप में एक पागल का चरित्र राजनेताओं द्वारा स्वयं को सर्वशक्तिमान मान लेने की आलोचना है। अपने गाँव के बारे में जानने की प्रबल इच्छा के कारण बिशन सिंह एक ऐसे पागल के पास यह सवाल लेकर जाता है जो अपने आप को ख़ुदा कहता है। यह पागल हँसी के ठहाके के साथ कहता है कि "यह न पाकिस्तान में है और न हिन्दुस्तान में, इसलिए कि हमने अभी तक हुक्म नहीं दिया।" बिशन सिंह की मिन्नतों का जब इस ख़ुदा पर कोई असर नहीं हुआ तो अपनी बड़बड़ाहट में वह उसे केवल मुसलमानों का ख़ुदा कहकर उसकी आलोचना करता है। विभाजन के फ़ैसले के कारण धर्म के आधार पर लोगों के चिन्तन और व्यवहार में कैसे पक्षपात आ जाता है, मंटो ने उस दुखती रग को पकड़ा है।

कहानी में किसी विशेष धर्म के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं है। ख़ुदा के चरित्र के बाद कहानी में बिशन सिंह के गाँव का ही उसका एक पुराना मुसलमान दोस्त फ़ज़लदीन आता है। फ़ज़लदीन बिशन सिंह को बताता है कि उसके परिवार वाले सही सलामत ढंग से हिन्दुस्तान चले गए हैं और इस कार्य में उससे जितनी हो सकी उसने मदद की है। वह उसकी बेटी रूप कौर के भी ठीक-ठाक होने और हिन्दुस्तान जाने का समाचार देता है। रूप कौर के बारे में उसके कहने में जो झिझक और अभिव्यक्ति की रुकावट है उसके बारे में हम पहले चर्चा कर चुके हैं। मंटो उस भयानक वास्तविकता की ओर संकेत भर करते हैं, शेष पाठक की कल्पना और समझ के लिए छोड़ देते हैं। फ़ज़लदीन बिशन सिंह के घर वालों को भाई-बहिन कहकर उन्हें सलाम भेजता है। यह अलग-अलग समुदायों के साझा जीवन के भाईचारे और सद्भाव का परिचायक दृश्य है। सलाम में बिशन सिंह की बेटी रूप कौर का हवाला नहीं है। पाठक उस हृदयविदारक दृश्य की कल्पना कर सकते हैं जिसमें रूप कौर का अपहरण हुआ होगा (?)। मरने या गुम होने से पहले उसके साथ और क्या सलूक हुआ होगा ?

बिशन सिंह द्वारा टोबा टेकसिंह की जानकारी चाहने पर फ़ज़लदीन भी बौखला जाता है और कोई संतोषजनक जवाब नहीं दे पाता है। बिशन सिंह की हताशा बढ़ जाती है और उसकी बड़बड़ाहट में तीखापन आ जाता है। अब वह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों को बराबर ज़िम्मेदार मानता है और दोनों को दुत्कारता है। 'टोबा टेकसिंह कहाँ है ?' प्रश्न सुनकर फ़ज़लदीन को पहले तो आश्चर्य होता है कि यह क्या सवाल हुआ, वह वहीं है जहाँ पहले था। लेकिन जब वह बिशन सिंह का आशय कुछ समझता है तो अजीब असमंजसमें पड़ जाता है, उससे उत्तर देते नहीं बनता है। यहाँ फ़ज़लदीन और बिशन सिंह की स्थितियों का द्वन्द्व उभरकर सामने आता है। परिस्थितियों के बदलने के साथ एक ही स्थान के रहने वाले दो व्यक्तियों के बोध और संवेदना में कैसे अन्तर आ गया है, इस संक्षिप्त वार्तालाप में देखा जा सकता है। फ़ज़लदीन के लिए टोबा टेकसिंह वहीं है जहाँ पहले था, क्योंकि मुसलमान होने के कारण उसे उसके घर से बाहर नहीं निकाला गया है। वह हमेशा वहीं रहेगा जहाँ रहता

आया है। इसलिए टोबा टेकसिंह कहाँ है ? इस सवाल का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन अलग धर्म के अनुयायी होने के कारण दूसरे लोगों के लिए स्थिति बदल गई है। बिशन सिंह के लिए सिक्ख होने के कारण यह जानना आवश्यक हो गया है कि उसका गाँव सीमा के किस ओर है ? यदि हिन्दुस्तान में है तो वह अपने गाँव चला जाएगा, क्योंकि उसे अब हिन्दुस्तान ही भेजा जा रहा है। लेकिन यदि वह पाकिस्तान में चला गया है तो उसका घर हमेशा के लिए उससे छूट जाएगा तथा उसे एकदम नई और अपरिचित जगह पर जाकर रहना पड़ेगा। उसकी सबसे बड़ी चिन्ता यही है।

5.2.08.6. व्यक्ति का स्थान में रूपान्तरण और अस्मिता का विलय

कहानी में अब तक मंटो ने उन भावनाओं की तीव्रता को उभारा है जो एक व्यक्ति के मन में अपने वतन और घर को लेकर होती हैं। घर से बेदख़ल होने पर होने वाली पीड़ा का एहसास करवाने और बँटवारे की निरर्थकता बताने में भी मंटो सफल रहे हैं। कहानी अपने उत्कर्ष (Climax) में अपने कथानक के अनुसार एक निष्कर्ष पर पहुँचती है। कहानी का नायक बिशन सिंह यद्यपि पन्द्रह वर्षों से पागलख़ाने में बन्द है, फिर भी उसके लिए अपने गाँव टोबा टेकसिंह के बारे में जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि वह हिन्दुस्तान में या पाकिस्तान में। जब पागलों का तबादला होने लगा तो बिशन सिंह को यह पता चल गया कि टोबा टेकसिंह पाकिस्तान में है और उसे हिन्दुस्तान भेजा जा रहा है। वह प्रतिरोध करता है और दूसरी तरफ़ खड़े अपने साथियों के पास चला जाता है। जब पाकिस्तानी सिपाही उसे ज़बरदस्ती वापस दूसरी तरफ़ ले जाने लगते हैं तो वह चिल्लाकर कहता है कि टोबा टेकसिंह यहीं है और उसकी बड़बड़ाहट का स्वर बहुत ऊँचा हो जाता है। मंटो ने यहाँ बँटवारे के फ़ैसले पर बहुत बड़ा प्रश्न खड़ा किया है। राजनेताओं ने लोगों को यह समझाने की कोशिश की थी कि उनकी धार्मिक अस्मिता ही उनकी राष्ट्रीय अस्मिता है। बिशन सिंह के लिए धर्म का कोई महत्त्व नहीं है, सिक्ख होने के कारण उसे हिन्दुस्तान भेजा जा रहा है लेकिन उसे हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के झगड़े से कोई सरोकार नहीं है, वह अपने गाँव में ही रहने के लिए संघर्ष कर रहा है। इसलिए मंटो कहानी में पूछते हैं कि जिन लोगों की धार्मिक अस्मिता राष्ट्रीय अस्मिता बन गई वह तो ठीक है, परन्तु बिशन सिंह जैसे लाखों लोगों के लिए ऐसा नहीं हुआ है, उनका क्या दोष है ? उन्हें क्यों दण्डित किया जा रहा है ?

मंटो इस कहानी में बहुत कुशलतापूर्वक एक व्यक्ति की पहचान को एक स्थान की पहचान में मिलाकर एकमेक कर देते हैं। कहानी के अन्तिम हिस्से में आकर बिशन सिंह और टोबा टेकसिंह एक दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। निष्कर्ष की ओर बढ़ते हुए कहानी में पाठक को किसी समाधान की अपेक्षा होती है, लेकिन यहाँ कहानी के द्वन्द्व की अपेक्षित परिणति बदल जाती है। बिशन सिंह इस बहलावे में नहीं आता है कि टोबा टेकसिंह हिन्दुस्तान में चला गया है और नहीं गया है तो जल्दी ही उसे वहाँ भेज दिया जाएगा।

एक लम्बे वाक्य के रूप में कहानी का अन्तिम अनुच्छेद अनेक प्रश्न छोड़ जाता है – "उधर काँटेदार तारों के पीछे हिन्दुस्तान था, इधर ऐसे ही तारों के पीछे पाकिस्तान ! बीच में, ज़मीन के उस टुकड़े पर, जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेकसिंह पड़ा था।" पाठक जानता है कि यह बिशन सिंह है, लेकिन जो कथावाचक पूरी कहानी में

उसे टोबा टेकसिंह नहीं कहता है, अपने अन्तिम वाक्य में उसे 'टोबा टेकसिंह' कहकर अपनी बात समाप्त करता है। पूरी कहानी में बिशन सिंह को कोई भी टोबा टेकसिंह नाम से सम्बोधित नहीं करता है, फिर भी यह उसका दूसरा नाम बना रहता है और अन्त में यही उसका मुख्य नाम हो जाता है। बिशन सिंह की वास्तविक स्थिति क्या है ? – वह व्यक्ति है या स्थान, ज़िंदा है या मृत, चेतन है या अचेतन, पागल है या समझदार – कहानीकार पाठक पर छोड़ देता है, बल्कि उसे बाध्य करता है कि वह अपना स्वतन्त्र अर्थ ग्रहण करे।

व्यक्ति के स्थान बन जाने से क्या विभाजन की समस्या का कोई उचित समाधान निकला है ? जिस प्रकार बिशन सिंह ने अपने प्रतिरोध से अपना घर (?) प्राप्त किया, क्या दूसरे असंख्य बेघर लोग ऐसा कर सकते हैं ? क्या विस्थापन से बचने के लिए मृत्यु ही एक अन्तिम उपाय शेष बचा है ? यदि ऐसा ही है तो फिर उन लोगों के जीवन का क्या मूल्य रह गया है जो अनजान जगह पर मृत्यु से भी बदतर जीवन जीने को मजबूर हैं? मंटो की कहानी में इनमें से किसी सवाल का जवाब नहीं है। पागलपन एक ओर बुद्धिमानी और दूसरी ओर विभाजन का रूपक बन जाता है। बँटवारे के फैसले और उसके बाद फैले उन्माद को पागलपन ही कहा जाएगा क्योंकि उसने लोगों के मन-मस्तिष्क को क्षतिग्रस्त कर दिया था। उनमें हताशा, क्रोध और उत्पात की भावना इस हद तक आ गई थी कि सभी प्रकार के सम्बन्ध टूट चुके थे। संवेदना और सहानुभूति समाप्त हो गई थी। विभाजन की इस पूरी प्रक्रिया के प्रतिरोधस्वरूप बिशन सिंह एक अनाम जगह पर अपनी जान दे देता है। उसे विभाजित अस्तित्व नहीं चाहिए। मंटो इसी सांकेतिकता में विभाजन की पूरी प्रक्रिया और विचार को बेमानी, अविवेकपूर्ण और भयावह साबित कर देते हैं।

5.2.09. पाठ का सारांश

'टोबा टेकसिंह' कहानी में मंटो ने बिशन सिंह नाम के एक ऐसे पात्र की रचना की है जो पगलख़ाने में भर्ती है। वह यह जानकार बहुत परेशान और असमंजस में है कि उसके देश का बँटवारा हो गया है और लोगों को उनके घर से हटाकर नयी और अनजान जगहों पर ज़बरदस्ती भेजा जा रहा है। वह घर से बेघर होने के सदमे से इतना टूट जाता है कि भारत-पाकिस्तान की सीमा के बीचोंबीच अनाम जगह पर औंधे मुँह गिर जाता है और दम तोड़ देता है।

यह कहानी देश के विभाजन के फ़ैसले और उससे उत्पन्न परिस्थितियों को मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती है। यह कहानी विस्थापन की पीड़ा को स्वर प्रदान करते हुए विभाजन के फ़ैसले के प्रतिरोध की आवश्यकता को भी रेखांकित करती है।

5.2.10. बोध प्रश्न

1. 'टोबा टेकसिंह' कहानी के अर्थ और विषयवस्तु पर आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।
2. 'इतिहास घटनाओं के क्रमिक अभिलेखन की तुलना में कहानियों के रूप में अधिक विश्वसनीय ढंग से प्रस्तुत होता है।' 'टोबा टेकसिंह' कहानी के सन्दर्भ में इस कथन की परीक्षा कीजिए।

3. मंटो द्वारा अपनी कहानी 'टोबा टेकसिंह' में पागलपन को एक रूपक की तरह प्रयुक्त किये जाने पर टिप्पणी कीजिए।
4. "मंटो ने विभाजन की पीड़ा को इस कहानी में सफलतापूर्वक सम्प्रेषित किया है।" कैसे?
5. "बीच में, ज़मीन के उस टुकड़े पर, जिसका कोई नाम नहीं था, टोबा टेकसिंह पड़ा था।" कहानी के इस वाक्य की सार्थकता बताइये।
6. टोबा टेकसिंह' कहानी में व्यक्ति की अस्मिता के संकट को किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है?

5.2.11. उपयोगी पुस्तकें और सन्दर्भ

5.2.11.1. हिन्दी की पुस्तकें

1. इस्सर, देवेन्द्र (सं.). (1991). मंटोनामा. दिल्ली. इंद्रप्रस्थ प्रकाशन.
2. मंटो, सआदत हसन. ज़ौक़ी, मुशर्रफ़ आलम. (सं.) (2008). मंटो अब तक – 1 : एक प्रेम कहानी. वाणी प्रकाशन. नयी दिल्ली. ISBN : 978-81-8143-782-2
3. मंटो, सआदत हसन. (चयन, संयोजन और परिचय : बलराज मेनरा, शरद दत्त). (2016). दस्तावेज़ : 1-5. राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. नई दिल्ली . ISBN : 978-81-2672-875-6
4. भट्ट, विनोद. (अनुवाद) रमेश याज्ञिक, वृंदा मनजीत. (1999). मंटो : एक बदनाम लेखक. नई दिल्ली. राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. ISBN : 978-81-7178-731-9

5.2.11.2. अंग्रेज़ी पुस्तकें

1. Bhalla, Alok. (1998). Life and works of Saadat Hasan Manto. Shimla. Indian Institute of Advanced Study. ISBN : 978-818-5952482
2. Tahira Naqvi (Translations). (1985). Introduction by Leslie A. Flemming.
3. Another lonely voice : The Life and Works of Saadat Hasan Manto. Lahore. Vanguard Books Ltd.
4. Tashir, Aatish. (Translations). (2008). Manto : Selected Stories. Noida. Random House Publishers India Private limited. EPUB ISBN : 9788184002157

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

01. https://www.rekhta.org/ebooks/the-life-and-works-of-saadat-hasan-manto-ebooks
02. https://www.youtube.com/watch?v=VvHjM_C1oYg
03. https://www.youtube.com/watch?v=Z847CHmXtG8
04. https://www.youtube.com/watch?v=w-KqnzWWIL4

05. https://www.youtube.com/watch?v=LUErSu3KSF8
06. https://www.youtube.com/watch?v=U-ZqGqnm0TY
07. https://www.youtube.com/watch?v=wLfwvQc8R-A
08. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
09. http://www.hindisamay.com/
10. http://hindinest.com/
11. http://www.dli.ernet.in/
12. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : कहानी

इकाई – 3 : राजस्थानी : दु विधा– विजयदान देथा

इकाई की रूपरेखा

5.3.00. उद्देश्य कथन
5.3.01. प्रस्तावना
5.3.02. 'दुविधा' कहानी : सार-संक्षेप
5.3.03. कैसी दुविधा ! किसकी दुविधा !
5.3.04. प्रेम का महत्त्व
5.3.05. स्त्री-जीवन की विडम्बना
5.3.06. प्राकृतिक सौन्दर्य
5.3.07. भाषा और शिल्प
5.3.08. रचनात्मक वैशिष्ट्य
5.3.09. शब्दावली
5.3.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.3.11. बोध प्रश्न और अभ्यास

5.3.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई राजस्थानी भाषा के सुविख्यात लोक कथाकार विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' पर आधारित है। यह कहानी राजस्थानी में 'दुविध्या' नाम से विजयदान देथा की पुस्तक 'बाताँ री फुलवाड़ी' के दसवें खण्ड में संगृहीत है जिसका हिन्दी अनुवाद कैलाश कबीर ने 'दुविधा' शीर्षक से किया है। प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. दुविधा कहानी के कथ्य को हृदयंगम कर सकेंगे।
ii. यह अनुभव कर पाएँगे कि 'धन' से कहीं बड़ा 'प्रेम' होता है। 'प्रेम' में इतनी ताकत होती है कि भूत, जिसे बुराई का घर समझा जाता है, 'प्रेम' होने के बाद इन्सानों से भी अच्छा इंसान बन जाता है।
iii. यह विचार करने हेतु बाध्य होंगे कि 'प्रेम' बड़ा होता है लेकिन उससे भी बड़ा 'विश्वास' होता है।
iv. आत्म-मंथन करने को विवश हो जाएँगे कि इनसान दौलत की खातिर है कि दौलत इनसान की खातिर ?
v. लोक में स्त्री की वास्तविक स्थिति पर चिन्तन करेंगे।
vi. मानव जीवन में विवाह संस्था के औचित्य पर पुनर्विचार की आवश्यकता अनुभव करेंगे।
vii. नैतिकता के आडम्बर पर विमर्श करने हेतु प्रवृत्त हो सकेंगे।
viii. लोक जीवन और प्रकृति के आत्मिक सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

5.3.01. प्रस्तावना

लोककथाएँ जीवनानुभवों का प्रतिफल होती हैं। जनमानस की अभिलाषाओं, आकांक्षाओं और उनके सपनों को अपने में पिरोती लोककथाएँ लोक में प्रचलित वे कथाएँ हैं जो नैतिक मूल्यों की बात करती हैं, जीवन मूल्यों की बात करती हैं, प्रेम की बात करती हैं, जो हमारी प्राचीन लोकसंस्कृति की बात करती हैं। लोककथाएँ अपने आँचल में हमारे इतिहास को भी समेटे हुए होती हैं। परम्परा से चली आ रही इन मौखिक कथाओं का उद्गम कब, कैसे, कहाँ हुआ ! कुछ कहा नहीं जा सकता। भारत के अनेक राज्यों की अपनी लोककथाएँ हैं मगर अक्सर यह भी देखने को मिलता है कि कई लोककथाएँ थोड़े से फेर-बदल से दूसरे राज्यों में भी अपनी जगह ही नहीं बना लेतीं बल्कि महारानी की तरह राज भी करती हैं। लोककथाएँ लोक में मौखिक विचरण करती हैं तो इनका रूप भी बदलता रहता है। इनके आकार में भी कभी-कभी बड़ा अन्तर आ जाता है, लघु से बृहदाकार हो जाती हैं और कथाकार इस तरह से कहानी को गूँथता है कि वह मौलिक कहानी के समकक्ष आ ठहरती है। 'दुविधा' कहानी ऐसी ही कहानी है। राजस्थानी भाषा के सुविख्यात लोककथाकार विजयदान देथा, जिन्हें 'बिज्जी' नाम से भी जाना जाता है, की कलम ने भाव और कल्पना के साथ मिलकर एक छोटी-सी लोककथा को विस्तृत और अविस्मरणीय बना दिया है। प्रकृति सौन्दर्य और स्त्री सौन्दर्य के जो चित्र लेखक ने उतारे हैं, भूत में जिस उदात्त प्रेम का प्रस्फुटन बताया है, जिस तरह गड़रिये का न्याय बताया है और दुल्हन की पीड़ा को चित्रित किया है, ये सब कहानी को ऊँचाई प्रदान करते हैं। कथाकार का कद बहुत ऊँचा हो जाता है।

'दुविधा' कहानी का विचार कहाँ से लिया गया और किस तरह कल्पना का सहारा लेकर कथा गढ़ी गई, इस विषय में कैलाश कबीर का कहना है – " 'दुविधा' कहानी का आइडिया जिस लोककथा से लिया गया है, वह पूर्वी राजस्थान के देहातों में 'इकाँतरे' का बुखार उतारने के लिए सुनाई जाती है। सम्भव है आदिवासी क्षेत्रों में आज भी सुनाई जाती हो। कथा महज इतनी सी है कि एक भूत दिसावर गए पति का रूप धरकर छलपूर्वक बहू को भोगता है। कुछ समय उपरान्त असली पति के दिसावर से लौटने पर पोल खुलती है और भूत को कील कर जमीन में गाड़ दिया जाता है।"

असल में इस कहानी के पात्रों का चरित्र 'दुविधा' में आकर बदल जाता है। भूत जो खलनायक होता है यहाँ नायक बन जाता है और पाठक की सारी सहानुभूति बटोर लेता है। अगर दुनियावी नजरिए से देखा जाए तो उसने ठीक नहीं किया और न ही दुल्हन ने ठीक किया। लेकिन बिज्जी की कहानी ने इन सबके पक्ष में इस तरह अपने भाव और विचार रखे कि इन पात्रों के प्रति पाठक के मन में गुस्से के स्थान पर प्रेम और चाहत के भाव पैदा हो जाते हैं। प्रेमी भूत सबकी पसंद बन जाता है और परिणेता किसी को याद ही नहीं रहता।

'दुविधा' कहानी अपने चित्रात्मक और बिम्बात्मक सौन्दर्य के कारण फिल्म निर्माताओं का ध्यान भी अपनी तरफ खींचने में सफल रही। इस कहानी पर दो फिल्में बन चुकी हैं। मणि कौल ने 1973 में फिल्म 'दुविधा' बनायी और अमोल पालेकर ने 2004 में 'पहेली' बनायी। ये दोनों ही फिल्में काफ़ी चर्चित रहीं।

बिज्जी ने 'प्रेरणा', 'रूपम', 'परम्परा' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन किया। 'ज्वाला', 'रियासती' सामयिक साप्ताहिकों में स्तम्भ लिखे। बिज्जी ने हिन्दी में भी उपन्यास, कहानियाँ, कविताएँ और आलोचना की पुस्तकें लिखीं लेकिन सन् 1959 में आपने राजस्थानी में लिखने का प्रण किया। और अपने पोथी-पन्नों के साथ जोधपुर से 'बोरुंदा', अपने गाँव चले आए। और फिर लोककथाओं, लोकगीतों और कहावतों के संग्रह का सिलसिला चल निकला।

5.3.02. 'दुविधा' कहानी : सार-संक्षेप

एक धनी सेठ था। उसके इकलौते बेटे की बरात धूमधाम से शादी सम्पन्न कर वापस लौटते हुए जंगल में विश्राम करने के लिए खेजड़ी के नीचे रुकी। संयोग की बात कि उस खेजड़ी में एक भूत का निवास था। भूत दुल्हन का रूप-सौन्दर्य देखकर अपनी सुध-बुध खो बैठा। आराम करने के बाद छम-छम करती हुई दुल्हन दूल्हे के रथ पर चढ़ गई। भूत सोचने लगा यह दूल्हा कितना सौभाग्यशाली है ! कितना सुखी है ! भूत के रोम-रोम में मानों काँटे चुभने लगे। हृदय में जैसे आग भभक उठी। विरह की इस जलन के कारण न तो मरना मुमकिन है और न ही जीना। रथ के अदृश्य होते ही वह मूर्च्छित हो गया। इधर दूल्हा विवाह का हिसाब-किताब लगाने में मशगूल था। फिर उसके दिसावर जाने का समय भी आ गया। मूर्च्छा टूटी। भूत की आँखें खुलीं। फिर उसे दुल्हन की याद सताने लगी। दूल्हा जब खेजड़ी के पास से गुजरा तो भूत की उस पर नजर पड़ी। भूत ने आदमी का रूप धरा और उसके साथ हो लिया। सारी बातें पूछ लीं कि वो पाँच साल परदेश में रहेगा। उसका स्वभाव, बोलचाल का ढंग आदि सब समझ लिया। फिर सेठ के बेटे का रूप धरकर पहले सेठ की दुकान में पहुँचा। उसने सेठ को एक भावुक करने वाली झूठी कहानी सुनायी। सेठ मान गया। उसे अपना बेटा मान लिया। और वह हवेली में पहुँच गया। दुल्हन को उसने सारी बात सच-सच बतायी। दुल्हन ने अपने मन को समझाया। स्वतः ही एक दूसरे के अन्तस् की बात समझ गए। फिर चिराग की रोशनी लुप्त हो गई और अँधेरा उजाले का रूप धरकर दिप-दिप करने लगा। सेज के मुरझाये हुए फूलों की पंखुड़ी-पंखुड़ी खिल उठी। ऐसी रसीली रातों के होते वक्त गुजरते क्या देर लगती है ! देखते-ही-देखते तीन बरस गुजर गए। गोया मीठा सपना बीता हो। बहू के आशा ठहरी। यह बात सेठ के लड़के तक पहुँची। वह अपने गाँव पहुँचा। उसको देखकर लोग चर्चा करने लगे। असल कौन, नकल कौन। मामला उलझ गया। तब एक गड़रिये ने इस समस्या का समाधान बड़ी तरकीब से किया। भूत को छागल में घुसाकर उसका मुँह रस्सी से कसकर बाँध दिया। छागल को नदी में फेंक दिया। दूल्हा-दुल्हन मिल गए। भूत से प्रेम के कारण दुल्हन का दिल तड़प रहा था। वह सोच रही थी, बड़ी होकर मेरी बेटी ऐसा जीवन न भोगे। उसके जीवन में ऐसी दुविधा न आए।

5.3.03. कैसी दुविधा ! किसकी दुविधा !

बरात धूमधाम से दुल्हन को लेकर लौट रही थी। रास्ते में खेजड़ी के नीचे दुल्हन घूँघट हटाकर बैठ गई। तब खेजड़ी पर रहने वाला भूत दुल्हन के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। दुल्हन की देह में प्रवेश करने का विचार आने पर उसे वापस होश आया। उसे लगा इससे तो यह तकलीफ पायेगी ! ऐसे रूप को तकलीफ कैसे दी जा

सकती है ! यहीं से उसकी दुविधा शुरू हो गई। वह असमंजस में पड़ गया। यह तो अभी देखते-देखते चली जायेगी। फिर ? न उसमें प्रवेश कर सताने को मन करता है और न छोड़े ही बनता है। ऐसा तो कभी नहीं हुआ। तो क्या दूल्हे को लग जाऊँ ? पर दूल्हे को लगने पर भी दुल्हन का मन तो तड़पेगा ही ! इस रूप के तड़पने पर न बादल बरसेंगे। न बिजलियाँ चमकेंगी। न सूरज उगेगा, न चाँद। कुदरत का सारा नजारा ही बिगड़ जाएगा।

जब भूत ने देख लिया कि दुल्हन का परिणेता दिसावर कमाने जा रहा है तब उसने दुल्हन के पति का रूप धरा। जब वह दुल्हन के पति का रूप धरकर हवेली की तरफ आ रहा था तब भी उसके भीतर दुविधा थी, विचारों की उठा-पटक थी। लेखक ने उस भीतर की उठा-पटक को प्रकृति के माध्यम से बताने की चेष्टा की है। उसके भीतर की दुविधा, भीतर का तूफान ही कहीं न कहीं बाहर शोर मचाए था। अँधेरा, काली-पीली आँधी, पेड़ों का टूटना आदि।

भूत रनिवास में आ गया मगर दुविधा यहाँ भी उसके साथ थी। दुल्हन ने उसे अपना पति समझकर कहा – "मेरी मनौती सच हुई। तुम आ गए।" यह बात सुनते ही भूत के मन में बवण्डर-सा उठा। इस पवित्र दूध में कीचड़ कैसे मिलाए ! इसे छलने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। यह तो असली पति मानकर इतनी खुश हुई है। पर इससे बदतर झूठ और क्या हो सकता है ! यह झूठ का अन्तिम छोर है। आखिरी हद। इस अबोध प्रीत के साथ कैसे दगा करे ! इस तरह दुविधा-दुविधा में कहानी आगे बढ़ती रही।

दुल्हन की अपनी दुविधा थी। उसके मन में दुविधा बराबर बनी रहती है। जब दूल्हा कहता है वह कमाने दिसावर जाएगा तब उसके मन में दुविधा होती है। उसका परिणेता अपनी पहचान बताने के लिए सौरी में ढालू का वाकया याद दिलवाता है। भूत को छागल में बन्द कर बहा देने की बात खुश होकर बताता है तब दुल्हन के मन में दुविधा बनी रहती है। लेकिन अन्त तक आते-आते उसका मन वेदना से, पीड़ा से इस कदर झुलस चुका होता है कि वह परिस्थितियों के सामने घुटने टेक देती है। पति उसके इंतजार में फूलों की सेज पर बैठा था। मगर वह सोचती है कि इस एक ही रनिवास में राम जाने उसे कितने जीवन काटने पड़ेंगे ? पर दूध पीती अपनी बच्ची को देखकर वह सोचती है यह बच्ची, बड़ी होकर औरत का ऐसा जीवन न भोगे।

भूत ने दुल्हन को जब सारी बात बतायी कि उस खेजड़ी के मुकाम पर उसका रूप देखकर उसकी क्या दशा हुई। उसके रवाना होते ही वह कैसे मूर्च्छित हुआ। वापस कब होश आया। परदेश जाते हुए उसके पति के साथ उसकी क्या-क्या बातें हुईं। फिर उसका रूप धरकर कैसे इस हवेली पर आने का निश्चय किया। राह चलते हुए आँधी-पानी की बात भी विस्तार से कही। दुल्हन कठपुतली की तरह गुमसुम बैठी सारी बात सुनती रही। सोचने लगी क्या इसी बात को सुनने की खातिर विधाता ने उसे कान दिये हैं ? बोली, "अभी तक यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि यह भेद प्रकट होने से ठीक रहा या प्रकट न होने से ठीक रहता। कभी पहली बात ठीक लगती है और कभी दूसरी !"

सेठ की दुविधा थी कि दिसावर के लिए गया हुआ बेटा वापस कैसे आ सकता है ? आज दिन तक उसने कभी कहना नहीं टाला।

पाठक के लिए भी कहानी दुविधा खड़ी करती है। वह पति का पक्ष ले कि प्रेमी भूत का। पति व्यापार के लालच में नवविवाहिता पत्नी को पाँच साल तक विरह की आग में जलने के लिए छोड़कर जा रहा था। क्या उसने इसलिए दुल्हन का हाथ थामा था और अग्नि की साक्षी में सात फेरे लिए थे ? घर में धन-धान्य की कमी भी नहीं थी। इधर भूत का प्रेम सच्चा था। उसने दुल्हन से एक भी बात नहीं छिपाई। वह उसे किसी धोखे में नहीं रखना चाहता था और न ही किसी तरह का कोई कष्ट पहुँचाना चाहता था। अगर वह अपना भेद प्रकट न करता तो दुल्हन कभी न जान पाती उसकी सच्चाई।

लेकिन पाठक की दुविधा खत्म हो जाती है तब, जब भूत कहता है "उम्र-भर तुम्हारा एहसान मानूँगा कि तुम्हारी प्रीत की वजह से मेरे हृदय का जहर, अमृत में बदल गया। औरत के रूप और मर्द के प्रेम की यही तो सर्वोच्च मर्यादा है। " यहाँ पाठक भूत से प्रेम करने लगता है।

दिसावर में मिलने वाले अन्य व्यापारियों की अलग दुविधा। जब सेठ का बेटा यहाँ है तो सेठ के घर में कौन है ? उधर बहू के बच्चा होने वाला है और यह तीन साल से इधर है।

सात फेरों का परिणेता जब घर आँगन में आकर खड़ा हुआ तो माँ-बाप ने बोलना चाहा तो भी उनसे बोला नहीं गया। औरतों के गले का राग बदल गया। हाय दैया, एक ही सूरत के दो पति ! कौन सच्चा, कौन झूठा ? यह कैसा कौतुक ? कैसा तमाशा ? कोई इधर भागी, कोई उधर भागी।

इस प्रकार सारे पात्रों के भीतर चलने वाले द्वन्द्व के साथ कहानी अपनी मंजिल की तरफ बढ़ती चली जाती है।

5.3.04. प्रेम का महत्त्व

प्राणी मात्र के जीवन में प्रेम के महत्त्व को कोई नहीं नकार सकता है। प्रेम में इतनी ताकत होती है कि बुराई भी भलाई में बदल जाती है। प्रेमी हृदय खुद कितनी भी तकलीफ़ें सहन करने को तैयार रहता है लेकिन सामने वाले को जरा भी तकलीफ देना नहीं चाहता है। महान् रचनाकारों की तरह विजयदान देथा भी अपनी लोककथाओं में प्रेम की महत्ता को स्वीकार करते हैं। 'दुविधा' का भूत जो प्रेम जानता नहीं था, प्रेम में आकण्ठ डूब जाता है। दुल्हन की रूप-राशि देख भूत की आँखें चौंधिया जाती हैं। दुल्हन की देह में प्रवेश करने का विचार उसे नहीं सुहाता। उसे लगने लगा जैसे उसके मन में छल-कपट के मैल की जगह धारोष्ण दूध ने ले ली हो। प्रीत करने के बाद तो भूतों का मन भी धुल जाता है। जब मन में प्रेम का बिरवा फूटता है तब प्रकृति अपने समूचे सौन्दर्य के साथ प्रस्फुटित होती है। प्रेमी को लगता है जैसे ऐसा सूरज तो आज से पहले कभी नहीं उगा। बड़ा-सा गुलाबी गोला। तमाम दुनिया में रोशनी-ही-रोशनी। कैसी मन्द-मन्द हवा चल रही है ! हवा के अदृश्य झूले में

झूलती हरियाली ! आज से पहले तो कभी सूरज इस तरह अस्त नहीं हुआ ! पश्चिम दिशा में मानों गुलाल-ही-गुलाल छितरा गया हो ।

भूत होकर भी वह दुल्हन से सच्ची प्रीत करता है। दुल्हन के साथ छल करते हुए उसका दिल काँपता है। उसकी प्रीत सच्ची है। उसकी चाहना खरी है। इसीलिए उसे अपने बारे में सब सच-सच बतला देता है। दुल्हन से कुछ भी छिपाकर नहीं रखता है। दुराव रखने से प्रीत को ठेस लगती है। इतना ही नहीं, वह दयालु हो जाता है। दूसरे बनियों की माफिक गले नहीं काटता। निपट संयमी। सदाचारी। दुकान पर आने वाली औरतों की तरफ नजर उठाकर भी नहीं देखता। छोटी को बहन और बड़ी को माँ समान मानता। बहू के गर्भ ठहरा तो दोनों ने खूब दान-पुण्य किया।

सौरी के भीतर से पत्नी कराह रही थी। प्रीत वाले पति के कानों में तो फकत जच्चा का कराहना गूँज रहा था। उसे तो किसी दूसरी बात का होश ही नहीं था। हवा थम गई थी। सूरज थम गया था। कब यह कराहना बन्द हो और कब कुदरत का बन्धन खुले !

प्रीत वाले पति को बाँधकर ले जा रहे थे तब भी उसे पत्नी की चिन्ता थी। वह माँ बेटी को एक बार देख लेना चाहता था। भूत महाबली था। वह चाहता तो न्याय करने वाले पंचों की गर्दनें एक साथ मरोड़ सकता था। कई करतब कर सकता था। किसी के शरीर में घुसकर उसका सत्यानाश कर सकता था। पर चार साल तक प्रीत की ज़िन्दगी जीकर उसका मानस ही बदल गया। झूठ बोलना चाहा तब भी उससे बोला नहीं गया। पर स्पष्ट सच्चाई भी कैसे कहे ! प्रियतमा की इज्जत तो रखनी ही थी। उससे बेवफाई कैसे करे ! युधिष्ठिर वाली मर्यादा निभायी। बोला, "मैं औरतों की देह के भीतर का सूक्ष्म जीव हूँ। उनकी प्रीत का मालिक हूँ।" और परिणेता को कहता है – "व्यापार और कमाई की बनिस्बत मुझे मोह-प्रीत की लालसा अधिक है। फकत विवाह से क्या होता है ! विवाह की दुहाई उम्र-भर नहीं चल सकती। व्यापार वस्तुओं का होता है, प्रीत का नहीं। तुम तो प्रीत का भी व्यापार करने लगे ! इस व्यापार में ऐसी ही बरकत हुआ करती है !

न्याय करते समय गड़रिया अपनी छागल में भूत को बन्द कर लेता है तब भूत चिल्लाता है पर उसकी सुनने वाला वहाँ कोई नहीं होता। छागल को पानी के हवाले कर दिया जाता है। इस तरह भूत के प्रेम का गला घौंट दिया जाता है। बहू को जब सारा वाकया बताया जाता है वह खामोश हो जाती है। कभी-कभी खामोशी की जुबान बहुत कुछ कह जाती है। उसकी दुनिया से प्रेम सदा के लिए विदा हो गया था। वह चुप हो जाती है। वह कुछ कर नहीं सकती है। स्थितियों को स्वीकार कर लेने के अलावा उसके पास कुछ बचता नहीं है। असल में स्त्रियों की स्थिति यही है।

बस वह यही सोचती है कि इस एक ही जीवन में जाने उसे कितने जीवन भोगने पड़ेंगे ? पर उसकी बच्ची को बड़ी होकर औरत का ऐसा जीवन न भोगना पड़े। कहानी यह सवाल छोड़ जाती है कि दुनिया में प्रेम का

रिश्ता, वह भी पहली नजर के प्रेम का रिश्ता बड़ा कि सात फेरों का ! कहानी का अन्त बताता है कि हमारे यहाँ प्रेम के बजाय सामाजिक मान्यता सात फेरों को ही मिलती है।

5.3.05. स्त्री-जीवन की विडम्बना

स्त्री की भारतीय समाज में स्थिति दोयम दर्जे की है। उसकी भावनाओं की, उसके विचारों की, उसकी चाहतों की, उसके सपनों की किसे परवाह है। आज भी वह मानवी नहीं समझी जाती और पहले भी चीजों की तरह चीज समझी जाती थी। 'दुविधा' में अपने समय और समाज का सच बोलता है। उस समय समाज में नारी की स्थिति क्या और कैसी थी, इस पर भी ख़ासी रोशनी पड़ती है।

राजस्थान में लड़की-लड़के में भेद किया जाता है। लड़के के जन्म पर जहाँ थाली बजाई जाती है, लड्डू बाँटकर खुशियाँ मनाई जाती हैं वहीं लड़की के जन्म पर थाल के बदले सूप बजता है। जब दूल्हा नई-नवेली दुल्हन को अकेली छोड़कर कमाने के लिए दिसावर जाने की बात करता है तब दुल्हन मन में सोचती है, मेरे जन्म पर घर वालों को कोई खास खुशी नहीं हुई। लड़का होता तो अधिक खुश होते। माँ-बाप की नजर में घूरा बढ़ने में वक्त लगता हो तो बेटी का शरीर बढ़ने में भी कोई वक्त लगे। दसवाँ साल लगते ही माँ-बाप उसके पीले हाथ करके पराये ठिकाने भेजने की चिन्ता करने लगे। वह न आँगन में समाती थी और न गगन में। छाछ और लड़की माँगने में कैसी शर्म ! रिश्ते-पर-रिश्ते आने लगे। उसके रूप की चर्चा चारों ओर हवा में घुल गई थी। सोलह साल पूरे करने मुश्किल हो गए। माँ की कोख में समा गई, पर घर के आँगन में न समा सकी। अचानक इस हवेली से नारियल आया। उसकी किस्मत कि घर वालों ने नारियल लौटाया नहीं। यह हवेली न होकर अगर कोई दूसरा घर होता, तब भी उसे तो जाना ही था। जिसके लिए घर वालों की मर्जी होती, उसी का हाथ थामना पड़ता।

दूल्हे के दिसावर चले जाने पर भूत उसका रूप धरकर रनिवास में आता है। दुल्हन उसे अपना पति समझकर निस्संकोच उसके पास आकर बैठ जाती है। भूत कहता है, "पहले पूरी छानबीन तो कर लो कि मैं कहीं दूसरा आदमी तो नहीं हूँ ! कोई मायावी तुम्हारे पति का रूप धरकर तो नहीं आ गया !" दुल्हन यह बात सुनकर पहले तो कुछ चौंकी फिर नज़र गड़ाकर पास बैठे व्यक्ति को अच्छी तरह देखा। हू-ब-हू वो ही चेहरा। वही ही रंग-रूप। वही नज़र। वही बोली। तुरन्त समझ गई कि पति उसके शील को परखना चाहता है। मुस्कराहट की आभा छितराते बोली, "मैं सपने में भी पराये मर्द की छाया तक का परस नहीं होने देती, तब खुली आँखों यह बात कैसे मुमकिन है ! अगर दूसरा आदमी होता तो मेरे शील की आग से कभी का भस्म हो चुका होता !"

पहले तो यह बात भूत को चुभी। होंठों पर आयी हुई बात को तुरन्त निगल गया कि तब तो इसके शील में अवश्य ही खोट है। वो भस्म हो जाता तो उसका शील सच्चा था। असलियत में दूसरा आदमी होते हुए भी जब वो भस्म नहीं हुआ तो उसका शील एकदम बुझा हुआ है। पर अगले ही पल बात का दूसरा पहलू सोचते ही उसका गुस्सा ठण्डा पड़ गया। वो उलटा बेहद खुश हुआ। सोचने लगा कि फकत चेहरे से ही क्या होता है ! अगर वो सच्चा पति होता तो व्यापार के लालच में औरत की यह माया छोड़ सकता था ?

हमारी सोच, हमारे विचार कभी अपने समय को बदलते हैं तो कभी-कभी समय और परिस्थितियों से प्रभावित भी होते हैं। तभी तो अपने बचपन को याद करती है तो अपनी वर्तमान स्थिति के विषय में दुल्हन सोचती है कि पति व्यापार और हिसाब-किताब में ही खोया रहता है। उसकी नज़र में हंड़िया के पैंदे और औरत के चेहरे में कोई फर्क नहीं है। फटता हुआ जोबन भी वैसा और फटती हुई मिट्टी भी वैसी। न रथ में पत्नी के मन की बात समझा और न ही रनिवास में। सूना रनिवास और फीकी सेज छोड़कर अपने व्यापार के लिए चल पड़ा। वापस मुड़कर भी नहीं देखा। और आज भूत वाली प्रीत की रोशनी के सामने तो सूरज भी धुँधला गया ! सात फेरेवाला पति जबरन रवाना हुआ तो उसका वश चला नहीं। भूत वाली इस प्रीत के सामने भी उसका वश कहाँ चला ! जाने वाले को रोक न सकी तो फिर रनिवास में आने वाले को कैसे रोके ?

भूत के माध्यम से लेखक ऐसी औरतों के चरित्र को बेनकाब करता है जो पतिव्रता नारियों की श्रेणी में आती हैं पर सच्चाई कुछ और होती है। भूत कहता है – "मैं कई ऐसी सती-सावित्री औरतों को जानता हूँ जो सहवास के समय पति के चेहरे में किसी और का चेहरा देखती हैं। यों कहने को तो वे पराये मर्द की छाया का भी परस नहीं करतीं। पर पति के बहाने दूसरे चेहरे के खयाल में कितना पातिव्रत्य है, उसकी सही पहचान जितनी मुझे है, उतनी खुद विधाता को भी नहीं है। पतिव्रता औरतों के तमाशे मैंने बहुत देखे हैं। डर तो फकत बदनामी का है। भेद खुलने का डर न हो तो स्वयं भगवान् भी पाप करने से न चूकें। अब जो भी तुम्हारी इच्छा हो, जाहिर कर दो। मैंने तो भूत होकर भी कोई बात नहीं छिपायी।"

एक तरह से भूत समूची मानव जाति का चरित्र खोलकर हमारे सामने रखता है चाहे वह स्त्री है चाहे पुरुष।

भूत के साथ दुल्हन ने खूबसूरत, प्रेममय समय बिताया था। जिस तरह उसका अन्त हुआ वह पीड़ादायक था। प्रेम का गला घौंटा जाए तो किसी भी प्रेमी को कैसे सहन हो, लेकिन प्रेमी अगर ब्याहता हो तो विवशता आ खड़ी होती है। भूत को कैसे छागल में बन्द कर पानी में बहा दिया गया, यह किस्सा परिणेते ने सौरी में आकर जच्चा को सुनाया। सुनकर जच्चा को ऐसा लगा गोया आग में तपा लाल-सुर्ख भाला उसके दिल में घोंपा जा रहा है। प्रसव-पीड़ा से भी यह पीड़ा हजार गुना अधिक थी। पर उसने न तो उफ की और न कोई निश्वास ही उसके मुँह से निकला। पाषाण-पुतली की तरह गुमसुम सुनती रही। क्योंकि उसने भूत से प्रेम किया था। भूत ने उसके मन की बात को सुना था, पति ने नहीं। चार साल वह किसी के साथ रही अब जीवन भर किसी और के साथ रहना होगा। उसका बस तो किसी बात पर भी नहीं चला। वह सोचती रही इस तरह तो जानवर भी आसानी से अपनी मरजी के खिलाफ इस्तेमाल नहीं किये जाते। एक दफा तो सर हिलाते ही हैं। पर औरतों की अपनी मरजी होती ही कहाँ है ? मसान न पहुँचें तब तक रनिवास और रनिवास छूटने पर सीधी मसान !

लेखक ने स्त्री की पीड़ा का बयान जिस संवेदनशीलता के साथ किया है लगता है जैसे बहू स्वयं कोई स्त्री नहीं साक्षात् वेदना ही स्त्री रूप धरकर कहानी में आ गई है। कुछ कहना-सुनना और करना तो जैसे उसके वश में था ही नहीं। जो पति की इच्छा, वही उसकी इच्छा। जो बापू की इच्छा, वही बेटे की इच्छा। जो लक्ष्मी की इच्छा, वही बापू की इच्छा। और जो लालच की इच्छा, वही लक्ष्मी की इच्छा।

यह कहानी एक प्रश्न बड़ी शिद्दत से उठाती है कि क्या ये घर-परिवार औरत की चुप्पी पर ही टिके हैं ? जिस दिन वह सच बोल गई, उस दिन भारतीय पारिवारिक ढाँचा ढह तो न जाएगा ?

5.3.06. प्राकृतिक सौन्दर्य

'दुविधा' कहानी में जितना महत्त्व या स्थान दुविधा का है, प्रेम का है, व्यापार का है उससे कहीं ज्यादा प्रकृति के सौन्दर्य का है। 'समकालीन भारतीय साहित्य' पत्रिका में रणजीत साहा ने अपने सम्पादकीय में लिखा है – "हमारे कई कवियों ने अपने कागज का इस्तेमाल कैनवस की तरह किया है।" यह पंक्ति बिज्जी के प्रकृति चित्रण पर सौ टक्के सही बैठती है। प्रकृति के अनेक रूप, अनेक बिम्ब कहानी में भरे पड़े हैं। लोक है तो प्रकृति है। बिना प्रकृति लोक की बात ही सम्भव नहीं है। कहानी की शुरुआत ही प्रकृति के सान्निध्य से होती है। बरात जंगल में विश्राम करने के लिए रुकी। वहाँ का सौन्दर्य देखिए – "घनी खेजड़ी की ठण्डी छाया। सामने हिलोरें भरता तालाब। कमल के फूलों से आच्छादित निर्मल पानी। सूरज सर पर चढ़ने लगा था। जेठ की तेज चलती गर्म लू से जंगल चीत्कार कर रहा था। ... ऊपर देखा पतली-पतली अनगिनत हरी साँगरियाँ-ही-साँगरियाँ। देखते ही आँखों में शीतलता दौड़ गई। पास ही एक विशाल बबूल था, पीले फूलों से अटा हुआ। चाँदी के समान सफेद हिलारियाँ।

इसी तरह दुल्हन की सुन्दरता को भी प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है। खेजड़ी के पेड़ पर भूत का निवास था। इत्र-फुलेल की खुशबू से महकते दुल्हन के उघड़े चेहरे की ओर देखा तो देखता ही रह गया – "क्या औरत का ऐसा रूप और यौवन भी हो सकता है ? गुलाब के फूलों की कोमलता, खुशबू और उनका रस मानों साँचे में ढला हो। देखकर भी ऐसे रूप पर विश्वास नहीं होता। बादलों का ठिकाना छोड़कर कहीं बिजली तो नहीं उतर आयी ! इन मदभरी आँखों की तो कोई उपमा ही नहीं। मानों तमाम कुदरत का रूप इस चेहरे में समा गया हो। हजारों औरतों का रूप देखा, पर इस चेहरे की तो रंगत ही निराली ! खेजड़ी की छाया तक चमकने लगी।"

दुल्हन का रथ जंगल से गुजर रहा हो और प्रकृति की बात न हो यह कहाँ का न्याय है। स्त्री प्रकृति प्रेमी होती है। दुल्हन के साथ दूल्हा बैठा विवाह में हुए खर्चे का हिसाब लगा रहा है और इधर दुल्हन का मन ढालुओं में अटक जाता है – "नजर न टिके, ऐसी तेज धूप। हरे-भरे केरों पर सुर्ख ढालू दमक रहे थे। कितने सुहाने ! कितने मोहक ! मुस्कराते ढालुओं में दुल्हन की नजर अटक गई। दूल्हे की बाँह पकड़कर दुल्हन अबोध बच्चे की तरह बोली, एक दफा बही से नजर हटाकर बाहर तो देखो। ये ढालू कितने सुन्दर हैं ! जरा नीचे जाकर दो-तीन अंजुली ढालू तो ला दो। देखो, ऐसी जलती धूप में भी ये फीके नहीं पड़े। ज्यों-ज्यों धूप पड़ती है, त्यों-त्यों रंग अधिक निखरता है। धूप में कैसा भी रंग या तो उड़ जाता है या साँवला पड़ जाता है।"

कैर, साँगरी, ढालू आदि की बातें वही कर सकता है जिसने गाँव को, प्रकृति को करीब से देखा हो। इतनी गहरी बात कि – "देखो, ऐसी जलती धूप में भी ये फीके नहीं पड़े। ज्यों-ज्यों धूप पड़ती है, त्यों-त्यों रंग अधिक

निखरता है। धूप में कैसा भी रंग या तो उड़ जाता है या साँवला पड़ जाता है।" – वही कर सकता है जिसने जंगल को, वनस्पति को करीब से देखा हो। जिसके हर काम में, रोज़मर्रा के जीवन में प्रकृति का दखल हो।

भूत दुल्हन के रूप-लावण्य की चमक में डूब कर मूर्च्छित हो जाता है। जब उसे होश आता है तो लगता है कहीं वो सपना तो नहीं था ? उसे ऐसा लगा ऐसा सूरज तो आज से पहले कभी नहीं उगा। बड़ा-सा गुलाबी गोला। तमाम दुनिया में रोशनी-ही-रोशनी। कैसी मन्द-मन्द हवा चल रही है ! हवा के अदृश्य झूले में झूलती हरियाली ! उसका मन नाना प्रकार के अनगिनत रूप धरकर कुदरत के कण-कण में समा गया।

अरे, आज से पहले तो कभी सूरज इस तरह अस्त नहीं हुआ ! पश्चिम दिशा में मानों गुलाल-ही-गुलाल छितरा गया हो। धरती पर न तो खटकती हुई रोशनी, न पूरा अँधेरा। न गगन में चाँद, न सूरज और न ही कोई तारा। गोया कुदरत ने झीना घूँघट डाल लिया हो। चेहरा भी दिखता है, घूँघट भी दिखता है। अब कुदरत ने फिर चुंदरी बदली। नवलख तारों जड़ी सांवली चुंदरी। धुँधला-धुँधला चेहरा दिख रहा है। धुँधले वृक्ष। धुँधली हरियाली। गोया सपने का ताना-बाना बुना जा रहा हो। पहले तो कुदरत कभी इतनी मोहक नहीं लगी। यह सब दुल्हन के चेहरे का करिश्मा है !

किसी के अप्रतिम सौन्दर्य का बखान करना हो और प्रकृति का सहारा न लिया जाए ऐसा नहीं हो सकता। भूत सेठ के लड़के का रूप धरकर गाँव की तरफ चल पड़ा। मन में न खुशी की सीमा थी, न आनन्द की। पहले तो उसके मन की आँधी बाहर प्रकट हुई और फिर उसके मन का प्रेम प्रकट हुआ प्रकृति के अनेक रूपों में। पलक झपकते ही प्रकृति ने रूप बदला, इसे जमीन का आदमी ही महसूस कर सकता है और इसकी कल्पना कर सकता है। दो चित्र लेखक ने प्रकृति के उभारे हैं, एक तो काली-पीली आँधी का जिसमें हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। और दूसरा उजाले के छितराने का और तड़ातड़ मूसलाधार पानी बरसने का। ऐसे ग्रामीण परिवेश का बिम्ब वही लेखक प्रस्तुत कर सकता है जिसने गाँव देखा ही नहीं हो बल्कि गाँव जिया हो। दोनों चित्र देखिए –

एक पहर दिन बाकी था तो भी काफी अँधेरा हो गया। उत्तर से विकराल काली-पीली आँधी आती नजर आयी। आँधी धीरे-धीरे चढ़ने लगी। धीरे-धीरे अँधेरा बढ़ने लगा। सूरज के होते हुए भी अँधेरा ! हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। कुदरत को भी कैसे-कैसे स्वप्न आते हैं ! कुदरत के इस स्वप्न के बिना जमीन पर बिछी हुई पैरों तले की धूल को सूरज ढकने का मौका कब हाथ लगता है ! जमीन पर पड़ी धूल आकाश पर चढ़ गई। अन्धड़ की मार से सारा वातावरण चीत्कार कर उठा। पहाड़ों तक की जड़ें हिला देने वाली आँधी ! खोखले दम्भ वाले विशाल वृक्ष चरर-मरर उखड़ने लगे। नम्रता रखने वाली लचीली झाड़ियाँ आँधी के साथ ही इधर-उधर झुकने लगीं। उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा। पैरों तले रौंदी जाने वाली घास का तो कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। हाल-चाल पूछती, दुलारती, सहलाती हुई आँधी ऊपर से निकल गई। सारी वनस्पति मानों पालने में झूलने लगी। पात-पात और कोंपल-कोंपल की ठीक से सँभाल हो गई। बड़े परिन्दों को झपाटे लगने लगे। छोटे पक्षी डालों से चिपककर बैठ गए। उड़ना मुमकिन न रहा। समूचे आकाश पर आँधी का राज्य हो गया। चारों ओर तेज सरसराहट। गोया जंगल कराह रहा हो। सूरज के तप-तेज को धरती की धूल निगल गई। अद्‌भुत है आँधी का यह नृत्य ! अद्‌भुत है

रेत की यह घूमर ! समूची कुदरत इस तूफान में छिप गई। सारा ब्रह्माण्ड एकाकार हो गया। न आकाश दिखता है, न सूरज। न पहाड़, न वनस्पति और न जमीन। निराकार। अगोचर। कुदरत की इस जरा-सी जम्हाई के सामने न इनसान के ज्ञान की कोई हस्ती है, न उसकी ताकत की कुछ औकात, न उसके अहंकार की कुछ क्षमता और न उसके क्रिया-कलाप की कोई हैसियत।

कुदरत की छवि का दूसरा चित्र देखिए –

थोड़ा-थोड़ा उजाला छितराने लगा। हाथ को हाथ सूझने लगा। पल-पल उजाले का अस्तित्व फैलने लगा। धीरे-धीरे कुदरत की छवि स्पष्ट दिखने लगी। पहाड़ की ठौर पहाड़, सोने की थाली-सा गोल सूरज। वृक्षों की ठौर वृक्ष। झाड़ियों की ठौर झाड़ियाँ। हवा की ठौर हवा। यह क्या जादू हुआ ? .... कि यकायक तड़ातड़ मूसलाधार पानी बरसने लगा। बूँद से बूँद टकराने लगी। गोया बादलों के मुँह खोल दिये गये हों। कुदरत स्नान करने लगी। उसका जर्रा-जर्रा नहा गया। नदी-नालों में पानी बहने लगा। चारों ओर पानी-ही-पानी। नहाती हुई कुदरत को देखकर सूरज की छुपी रोशनी सार्थक हुई।

इस तरह की प्राकृतिक दृश्यावली राजस्थान के किसी भी गाँव की हो सकती है। इस तरह पल-पल रंग बदलती प्रकृति की गोद में ग्रामीणों की दैनिक दिनचर्या चलती है। लू बता देती है कि महीना जेठ का है।

5.3.07. भाषा और शिल्प

कृति की भाषा ऐसी रचनात्मक होनी चाहिए जो रचना के अंतस् को उद्घाटित कर सके। उस समय को अंतरंगता से पकड़ सके जिसमें रचना की गई है। भाषा पात्रानुकूल होने के साथ ही देश, काल और परिवेश को उजागर करने में, गहरी संवेदना के साथ रचनाकार की मददगार साबित हो। 'दुविधा' कहानी की भाषा ऐसी ही है। चाहे वह दुल्हन की रूप-राशि को प्रकाशमान कर रही है, चाहे उदात्त प्रेम को बयां कर रही है और चाहे प्रकृति या लोकजीवन की बात कर रही है भाषा जीवन्त, सजीव और कल्पनाशील है। जब लेखक रेत के अन्धड़ और अन्धकार की बात करता है तो आँखों के सामने अन्धड़ आ जाता है। जब लेखक जेठ के महीने की बात कर रहा होता है तो लू के थपेड़े लगने लगते हैं। जब बारिश की बात करता है तो तन-मन भीग-सा जाता है। सुन्दरता की बात करता है तो चाँद और चाँदनी एक साथ दिखाई देने लगते हैं। लेखक ने अपनी अनूठी भाषा के माध्यम से 'दुविधा' के हर पात्र की मनःस्थिति को उसकी सम्पूर्णता में प्रकाशित करने में सफलता हासिल की है।

'विजयदान देथा रचना संचयन' पुस्तक की भूमिका में कैलाश कबीर लिखते हैं – "उनकी (विजयदान देथा की) भाषा पर डिंगल काव्य का बहुत गहरा असर है। उनकी भाषा की लय, अनुप्रास, कल-कल करते झरने की-सी रवानी, अनछुए प्रतीक, अनूठी उपमाओं पर यह असर देखा जा सकता है। बिज्जी के काव्यात्मक आनुवांशिक संस्कार (जेनेटिक मेमोरी) और बचपन में सीखी छन्द को जोड़नी का जाने-अनजाने उनकी भाषा पर असर पड़ा है, ऐसा मुझे लगता है। ... उनकी उपमाएँ और प्रतीक न केवल अनूठे होते हैं बल्कि पात्र के कर्म से जुड़े होते हैं। ... पात्र अगर बनिया है तो लेखक की भाषा देखें – "खुद भगवान् भी पक्का हिसाबी है ! हरेक की साँस

का पूरा हिसाब रखता है। बरसात की बूँद-बूँद, हवा की रग-रग और धरती के कण-कण का उसके पास एकदम सही लेखा है। कुदरत के हिसाब में भी जब भूल नहीं होती तो बनिए की बही में भूल कैसे खट सकती है।" (दुविधा) यह बात बिज्जी के सम्पूर्ण साहित्य पर लागू होती है।"

कैलाश कबीर आगे लिखते हैं – "डिंगल काव्य में परफेक्शन पर बहुत ज़ोर दिया जाता था। यह चेष्टा आपको बिज्जी के लेखन में भी मिलेगी। जैसे अगर कहीं गाय, भैंस या घोड़े के गुणों-अवगुणों का कोई प्रसंग है तो अनेक लोगों से मिलकर, पोथियाँ छानकर वे विस्तृत नोट्स लेंगे और उनका अपनी कहानियों में इस्तेमाल करेंगे। और यह काम वे डिंगल काव्य से भी अधिक कलात्मकता से करते हैं। इसी तरह वे नए-नए शब्द एकत्र करते हैं और उन्हें निहायत खूबसूरती से अपने लेखन में पिरोते हैं। यही कारण है कि सीताराम लालस के राजस्थानी 'सबद कोस' में अनेक शब्दों का स्रोत बिज्जी की 'बातां री फुलवाड़ी' (खण्ड 14) है।"

प्राकृतिक सौन्दर्य की तरह बिज्जी के लेखन में भाषिक और वैचारिक सौन्दर्य भी यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरा है। कुछ उदाहरण देखिए –

- दुल्हन तो यह बात कहकर तुरन्त रथ से कूद पड़ी। तितली की तरह केर-केर पर उड़ती रही। कुछ ही देर में ओढ़नी भरकर सुर्ख ढालू ले आयी।
- दुनिया की सारी दौलत के बदले भी बीता हुआ पल वापस नहीं लौटाया जा सकता।
- इनसान दौलत की खातिर है कि दौलत इनसान की खातिर, फकत इसी हिसाब को अच्छी तरह समझना है।
- सोने का माहात्म्य बड़ा है या काया का ? साँस का माहात्म्य बड़ा है या माया का ? इस सवाल के जवाब में ही जीवन के सारे अर्थ पिरोये हुए हैं।
- पायल की झनक-झनक झंकार सुनायी दी। इस झंकार से बढ़कर कोई सुर नहीं। सोलह सिंगार सजी दुल्हन रनिवास में आयी। इस सौन्दर्य से बढ़कर कोई छवि नहीं।
- इस रूप की तो छाया भी दमकती है।
- कोई बराबरी का हो तो छल-बल की ताकत भी आजमाए, पर नींद में सोये हुए का गला चाक करने पर तो तलवार भी कलंकित होती है।
- प्रसव-वेदना को भला बाँझ क्या समझे ! इस पीड़ा में ही कोख का चरम आनन्द निवास करता है। सच्चाई और कोख के सृजन की पीड़ा एक-सी होती है।
- फिर चिराग की रोशनी लुप्त हो गई और अँधेरा उजाले का रूप धरकर दिप-दिप करने लगा। सेज के मुरझाये हुए फूलों की पंखुड़ी-पंखुड़ी खिल उठी। रनिवास की रोशनी सार्थक हुई। रनिवास का अँधेरा सार्थक हुआ। आकाश के नवलख तारों की जगमगाहट आप ही बढ़ गई।
- बहू के आशा ठहरी।

- कोख में संतान के साथ-साथ सपने पलते हैं।
- चिकने रेशमी बालों पर अँगुलियाँ फिराते-फिराते रात फिसल गई।
- किसी पुराने खण्डहर की चमगादड़ों की तरह भीड़ इधर-उधर चक्कर लगाने लगी।
- वक्त आने पर जान देने को तैयार हैं, पर पानी की गठरी कैसे बाँधी जा सकती है !
- तत्पश्चात् बस्ती की इच्छानुसार ही हुआ। भला अपना राम-पद वह क्यूँ छोड़ती।
- इनसान के दिल में यादों का झंझट न रहे तो कितना अच्छा हो ! यह याद तो मानों खून ही निचोड़ डालेगी।
- भूतों के छल-बल में तो वो उस्ताद था, पर इनसानों के कपट की उसे रंचमात्र भी जानकारी नहीं थी।
- मैं कोई राजा नहीं हूँ, जो न्याय की कीमत वसूल करूँ।
- प्रीत के मालिक को आखिर बल खाती, भँवर बनाती, लहराती, उथेले खाती, कल-कल करती नदी की सेज मिली। उसका जीवन सफल हुआ। उसकी मौत सार्थक हुई।

5.3.08. रचनात्मक वैशिष्ट्य

लोककथाएँ अपने समय का आईना तो होती ही हैं बल्कि कभी-कभी ये लेखक की कल्पना का साथ पाकर नया ही रूप धरकर हमारे सामने प्रकट होती हैं। और कभी-कभी तो पुरानी होकर भी नई कहानी तक को आधुनिक बोध में पीछे छोड़ देती हैं। बिज्जी की कहानियाँ इसी तरह की बानगी प्रस्तुत करती हैं।

लोककथाएँ राजा-महाराजाओं और महल-मालियों से लेकर भेड़-बकरियाँ चराने वाले चरवाहे तक की बात कहती हैं। खेत-खलिहान से लेकर समूचे जमीन-आसमान की बातें करती हैं। ये खिलखिलाहट, फूल, सुगन्ध, इन्द्रधनुष, हर्ष-उल्लास की बात करती हैं तो उदासी, दुःख, पीड़ा की बात भी करती हैं। ये देवी-देवता की बात करती हैं तो भूत-प्रेतों की बातों में भी इन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है। ये लोककथाएँ रहस्य-रोमांच की बात भी करती हैं। इन लोककथाओं की सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि ये जीवन के प्रति राग पैदा करती हैं। श्रोता को जीवन के पास, धड़कनों के पास, साँसों के पास लाती हैं। उसे निराशा, उदासी और अवसाद की तरफ से खींच लाने का प्रयास करती हैं। जीवन के प्रति अटूट विश्वास जगाती ये लोक्कथाएँ कभी हँसाती हैं तो कभी रुलाती भी हैं। यह तब सम्भव हो पाता है जब लोककथाएँ सम्प्रेषणीय और रोचक हों। अपने इन्हीं गुणों के कारण लोककथाएँ अनेक कालों, देश-दुनिया की परिधि को पार करती हुई हम तक आती हैं।

आजकल की कई लम्बी कहानियाँ एक बैठक में नहीं पढ़ पाते वहीं लोककथाओं की एक किताब एक बैठक में पढ़ जाते हैं। और ये याद भी रह जाती हैं। इन्हें सुन-पढ़कर किसी और को सुना भी सकते हैं। यही इनकी खूबी है। 'दुविधा' को ही लें, प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यह पाठक को साथ लिए चलती है। कहीं भी अपने से अलग होने नहीं देती। एक कहानी में जैसे कई कहानियाँ समा गई हैं। दुल्हन के भोलेपन की कहानी, उसके अनूठे

रूप सौन्दर्य की कहानी, फिर भूत के मोहित हो जाने की कहानी, दुल्हन और भूत के कल्पना-लोक में विचरण की कहानी और फिर धरती पर उतर आने की कहानी, दूल्हे के व्यापार और हिसाब-किताब में रुचि की कहानी, स्त्री के दुख-दर्द और प्रेम की कहानी, ढालुओं की कहानी। लेखक ने पाठक की कल्पना के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ी। सारी बातें काफी विस्तार और कलात्मकता से कह दी हैं। इस कहानी में लेखक ने मानव जीवन में प्रेम और सौन्दर्य की स्थापना की है और बताया है कि इनके बिना मानव जीवन अधूरा है, सूना है।

'दुविधा' नाम से लगता है पात्रों के भीतर कोई द्वन्द्व बराबर चल रहा है। हाँ ! चलता भी है लेकिन लेखक की खूबी यह है कि इस सबके बीच में प्रेम के लिए चार साल लेखक ने निकाल लिए। कहते हैं प्रेमपूर्वक बिताया हुआ एक पल ही सौ साल के बराबर हो जाता है जबकि यहाँ तो चार साल मिले हैं। यह कहानी एक शाश्वत प्रश्न उठाती है कि क्या प्रेम का अन्त सदा ही त्रासद होता है ? लगता है जैसे यह एक प्रेम कहानी है जिसका अन्त दुखद है। भूत अपने को सच साबित करने के लिए जो-जो परीक्षाएँ ली जा रही थीं, दे रहा था। वह किसी भी कीमत पर दुल्हन को खुश देखना चाहता था। आखिर में भूत को पानी में बहा दिया गया वह रोता रहा। पर उसकी एक नहीं सुनी। शायद इस अन्त ने ही भूत के प्यार को अमर बना दिया। भूत का यही अन्त होना था। उसका मरना कहानी के लिए ज़रूरी था। विश्व की प्रेम कहानियों को देखें तो यही पाएँगे कि सबका अन्त दुखद हुआ। शायद प्रेम अभिशप्त होता है अधूरा रहने के लिए। शायद प्रेम का अर्थ मिलन कम, बिछोह ज्यादा होता है। शायद प्रेम का अर्थ खिलखिलाहट कम, आँसू ज्यादा होता है। बिज्जी के लेखन से यह स्पष्ट पता चलता है कि उनके लिए प्रेम और विश्वास से बड़ा मूल्य किसी और चीज का नहीं है।

अपने एक साक्षात्कार में बिज्जी कहते हैं – "मेरी कहानियों के तमाम अलौकिक, चमत्कारी और दैवीय प्रसंगों में मानवीय गरिमा स्थापित होती है। दूसरा मूल्य है धर्म और उसके आतंक का विरोध। तीसरा है धन की ताकत और पूँजीवाद का विरोध ...।" बिज्जी का यह कथन उनकी कहानी पर लागू होता है। वे धन के लोभी पति को दिसावर भेज देते हैं और भूत, जो बहू को प्रेम करता है, को साथ रहने का अवसर देते हैं।

बिज्जी का मानना था कि नैतिक बल शारीरिक शक्ति पर सदा भारी पड़ता है। 'विजयदान देथा रचना संचयन' पुस्तक में कैलाश कबीर एक घटना का जिक्र करते हैं। कहते हैं गाँव के कुछ लोगों ने बिज्जी और उनके चचेरे भाइयों को अपने पिताओं की मौत का बदला लेने के लिए उकसाया। लेकिन बिज्जी उनके बहकावे में नहीं आए। बिज्जी ने कहा – "यह व्यक्ति का नहीं व्यवस्था का दोष है। और मैं अपना बदला कलम से लूँगा, पिस्तौल से नहीं।" बिज्जी की इसी अवधारणा को हम साक्षात 'दुविधा' कहानी के भूत में देख सकते हैं। भूत को जब राजा के पास ले जाया जा रहा था तो उसे रस्सी से बाँधा गया, उसने आनाकानी नहीं की। सेठ के बेटे ने जब भूत से पूछा – "मुझे तो बता कि तू है कौन ?" इस समय भूत चाहता तो न्याय करने वाले पंचों की गर्दनें एक साथ मरोड़ सकता था। कई करतब कर सकता था। किसी के शरीर में घुसकर उसका सत्यानाश कर सकता था। वह तो महाबली था। पर उसने कुछ नहीं किया क्योंकि वह दुल्हन से प्रेम करता था। वह सबके दिलों पर राज करना चाहता था। भूत ताकत से नहीं प्रेम से दिल जीतना चाहता था।

रचना में कभी-कभी कोई वाकया या घटना पाठक को असम्भव और अटपटी लगती हैं लेकिन रचनाकार की अपनी धारणाएँ होती हैं, अपने सपने होते हैं, कुछ कल्पनाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ होती हैं वह उन्हें अपनी रचना के माध्यम से पूरा करना चाहता है। कैलाश कबीर कहते भी हैं कि – "बिज्जी के यहाँ धीरे-धीरे लोक कथाओं के कलेवर, मैसेज, प्रभाव, बंदिश, संवाद इत्यादि कला के साँचे में परिष्कृत होने लगे। लोक कथाओं के बीज को वे अपने हिसाब से पुष्पित-पल्लवित करने लगे। उनके माध्यम से वे अपने नजरिए, अपने दर्शन, अपने मॉरल को प्रस्तुत करने लगे।

5.3.09. शब्दावली

खेजड़ी	:	एक प्रकार का वृक्ष जो अधिकांशतः पश्चिमी राजस्थान में पाया जाता है। इसे राजस्थान का शमी वृक्ष भी कहा जाता है।
हिलोरें	:	जल में उठने वाली तरंग या लहर; हिल्लोल।
जेठ	:	बैसाख और आषाढ़ के बीच का हिन्दी महीना।
मनुहार	:	रूठे व्यक्ति को मनाने के लिए की जाने वाली मीठी बातें; प्रार्थना, विनती; आदर-सत्कार।
हिलारियाँ	:	बबूल की फली।
सांगरियाँ	:	शमी वृक्ष की फली जिसे उबालकर बहुधा शाक बनाया जाता है।
भूत	:	प्रेत, पिशाच।
इत्र-फुलेल	:	सुगन्ध या खुशबू के लिए फूलों या कृत्रिम रसायनों से बनाया जाने वाला तरल पदार्थ (सेंट)।
परस-स्पर्श	:	त्वचा का वह गुण जिससे छूने, दबाने आदि का अनुभव होता है। छूने की क्रिया या भाव।
कुदरत	:	प्रकृति, निसर्ग, ईश्वरीय शक्ति, सामर्थ्य आदि।
खट सकना	:	साथ में टिके रहना; निभना।
केर	:	एक प्रसिद्ध काँटेदार झाड़ी जिसमें पत्तियाँ नहीं होतीं, करील।
अंजुली	:	दोनों हथेलियों को ऊपर की ओर जोड़कर बनने वाला गड्ढा; करसंपुट।
नौलखा हार	:	नौ लाख मूल्य का हार; बहुमूल्य।
छुहारा	:	खजूर की जाति का एक सूखा मेवा; ख़ुरमा।
निंबोली	:	नीम के पेड़ पर लगने वाला छोटा सा फल जो पककर बहुत मीठा हो जाता है।
निहोरे	:	कृतज्ञता, उपकार, अहसान, निवेदन।
दिसावर	:	दूसरा देश, परदेश, विदेश। व्यापारियों की बोलचाल में वह स्थान या देश जहाँ कोई माल या सामान भेजा जाता हो या जहाँ से आता हो।
तख़मीना	:	मात्रा, मान आदि की जानकारी करने के लिए अंकों या संख्याओं आदि के सम्बन्ध में किया जाने वाला अनुमान, अटकल या अंदाज, किसी कार्य के लिए व्यय आदि का अनुमान।
ठौर	:	स्थान, जगह।

झुरनी (झुरना) : दुख या चिन्ता से सूख जाना, क्षीण होना / किसी व्यक्ति, घटना या बात से अत्यधिक खिन्न होना।
तिजारत : सौदागरी, व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय, लेन-देन।
रनिवास : रानी के रहने का महल, अन्तःपुर।
धारोष्ण दूध : तुरन्त का दुहा हुआ दूध जो इसी कारण कुछ गरम या उष्ण भी हो।
चुंदरी : स्त्रियों के ओढ़ने का पतला कपड़ा, चुनरी।
नौली : चमड़े या कपड़े की बनी हुई एक लम्बी थैली जिसमें रुपए, हीरे-जवाहरात आदि डालकर कमर में लपेटी जाती है।
झपाटा : थप्पड़, तमाचा।
घूमर : राजस्थान का परम्परागत लोकनृत्य है जिसे औरतें घाघरा पहनकर करती हैं।
जोम : उत्साह, उमंग, जोश, आवेग, तीव्रता।
तदबीर : कार्य पूरा करने का साधन, अभीष्ट सिद्ध करने का साधन, प्रयास, उपाय, उद्योग।
सुथराई(सुथरापन) : साफ या सुथरे होने की अवस्था, गुण या भाव, सफाई।
मनौती : मन्नत, मानता।
दुराव : भेद बनाए रखने का भाव, छिपाव, छल, कपट।
कोख : गर्भाशय, उदर, पेट, जठर।
पहेली : किसी की बुद्धि की परीक्षा के लिए बनाया गया वाक्य या प्रश्न जिसे आसानी से बूझा या सुलझाया न जा सके। रहस्यमय बात। ऐसी समस्या जो आसानी से हल न की जा सके।
परकीया : वह (विवाहिता) नायिका जो गुप्त रूप से परपुरुष से प्रेम करती है।
सूप : अनाज फटकने के लिए बाँस एवं सरकण्डे की तीलियों से बना पात्र, छाज।
घूरा : कूड़ा-करकट फेंकने की जगह, कूड़े का ढेर, घूर।
हंड़िया : बड़े लोटे के आकार का तथा चौड़े मुँह वाला मिट्टी का बरतन, हांडी, हंडी।
सुमत : सुबुद्धि, सम्मति, अच्छा विचार, बुद्धिमान।
परिणेता(परिणीता) : पत्नी, विवाहिता / पति, विवाहित।
मेहर : प्रेम, कृपा, दया, करुणा।
मुनीम : हिसाब-किताब रखने वाला कर्मचारी, खजांची।
करील : एक प्रकार की काँटेदार झाड़ी।
सौरी : प्रसूति गृह, प्रसव की कोठरी।
कौतुक : कुतूहल, आश्चर्य, अचंभा, खेल-तमाशा, जिज्ञासा, हँसी-मज़ाक आदि।
अय्यारी, इन्द्रजाल : माया-प्रपंच, माया-जाल, जादूगरी, अद्‌भुत, आकर्षक और भ्रम में डालने वाला कार्य जो असम्भव होने पर भी सहजता से घट जाए।
रेवड़ : भेड़ों या बकरियों का दल या झुण्ड।
तड़ा : डंडा।
ढर्र-ढर्र : भेड़, बकरियों को बुलाने की आवाज।
छागल : छोटी मशक जिसमें पानी भरा जाता है।

हँसिया	:	लोहे का एक धारदार औज़ार जो अर्द्धचन्द्राकार होता है, जिससे खेत की फसल, तरकारी आदि काटी जाती है।
खाती	:	बढ़ई, एक जाति जो प्रायः जमीन खोदने का काम करती है; खतिया जाति, जमीन खोदने का काम करने वाले मजदूर।
लपसी	:	भिगोए गए गेहूँ से बनाया गया हलवा।
उरेहा (उरेहना)	:	तस्वीर बनाना, चित्र आँकना, आलेखन।
झींगुर	:	एक छोटा बरसाती कीड़ा जो झीं-झीं शब्द करने के लिए प्रसिद्ध है। झिल्ली।

5.3.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. विजयदान देथा रचना संचयन, चयन एवं सम्पादन : कैलाश कबीर, साहित्य अकादेमी, दिल्ली
2. राजस्थानी सबद कोस, सं. : पद्मश्री सीताराम लालस
3. वर्धा हिन्दी शब्दकोश, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, प्रधान सं. : रामप्रकाश सक्सेना
4. लोकसाहित्य विज्ञान, डॉ॰ सत्येन्द्र
5. लोककथा विज्ञान, श्रीचन्द्र जैन

5.3.11. बोध प्रश्न और अभ्यास

लघु उत्तरीय प्रश्न

01. भूत की किस बात से पता चलता है कि वह बहू से प्रेम करता है ?
02. किस पहेली से दुल्हन का सामना हुआ ?
03. सेठ के लड़के ने भूत की सारी दास्तान सौरी में अपनी दुल्हन को सुनाई तो उस पर क्या गुजरी ?
04. सेठ का लड़का प्रसन्न होकर गड़रिये को सोने की अँगूठी देने लगा तब गड़रिये ने क्या कहा ?
05. गड़रिये ने झगड़ा कैसे सलटाया ?
06. गड़रिया दिखने में कैसा है ?
07. सेठ का बेटा बनने के बाद सबके साथ भूत का व्यवहार कैसा था ?
08. लोगों की सोच के अनुसार सुलच्छनी बहू कैसी होती है ?
09. औरत का जीवन कैसा होता है ?
10. बस्ती के लोगों के सामने सेठ ने हाथ जोड़ते हुए क्या कहा ?
11. सेठ की हवेली के सामने मेला सा क्यों लग गया ?
12. सेठ का लड़का अपनी सच्चाई सिद्ध करने के लिए किस घटना का जिक्र कर रहा था ?
13. सेठ के लड़के ने व्यापारियों द्वारा बताई गई बातों पर भरोसा क्यों नहीं किया ?
14. सेठ के लड़के के लिए व्यापार ही सब कुछ है। यह किस बात से स्पष्ट होता है ?

एक वाक्य में जवाब दीजिए –

01. रथ में बैठे दूल्हे की क्या उलझन थी ?
02. दूल्हा दिखने में कैसा था ?
03. दुल्हन किस चीज के लिए हठ कर रही थी ?
04. शाम को रनिवास में घी के दीये जलाये गए। क्यों ?
05. दूल्हे ने दुल्हन को क्या नसीहत दी ?
06. भूत ने सेठ के लड़के से क्या-क्या बातें पूछी ?
07. भूत ने सेठ के लड़के से बात करने के बाद मन में क्या सोचा ?
08. भूत ने जब दुल्हन को अपने बारे में सब बातें बताई तो दुल्हन की क्या स्थिति हुई ?
09. औरत के रूप और मर्द के प्रेम की सर्वोच्च मर्यादा क्या है ?
10. दुल्हन को क्या बात समझ में नहीं आई ?
11. बुजुर्गों ने कब कहा कि "पानी की गठरी कैसे बाँधी जा सकती है ?"
12. लोग दोनों पतियों को बाँधकर कहाँ ले जा रहे थे ?
13. भूत से झूठ क्यों नहीं बोला गया ?
14. भूत ने युधिष्ठिर वाली मर्यादा कैसे निभाई ?\
15. लोग दोनों पतियों को बाँधकर ले जा रहे थे तो गड़रिये ने क्या कहा ?
16. गड़रिये ने सच्चे पति की आखिरी परख कैसे की ?
17. लोगों ने बिज्जी को अपने पिता की मौत का बदला लेने के लिए उकसाया तो बिज्जी ने क्या कहा ?

निम्नलिखित शब्दों का सदुपयोग करते हुए अधोलिखित वाक्यों में रिक्तस्थानों की पूर्ति कीजिए –

(चाक, पतियों, माँ, ढालू, नौली, प्रेरणा, हंसिये, गाज, व्यापार, प्रतिबिम्ब, गड़रिये, इनसान, साँगरियाँ ही साँगरियाँ, दौलत, दुल्हन, खेजड़ी, तमाशे, राजस्थानी, घूमर, घूरा)

01. दुल्हन मुँह फिराए, घूँघट हटाकर बैठ गई। ऊपर देखा, पतली-पतली अनगिनत हरी ..... ।
02. हिसाब और ..... का सुख ही सबसे बड़ा सुख है।
03. सूनी हरियाली। गहरी खेजड़ी। गहरी छाया। झूलती साँगरियाँ। पर कहाँ ..... ?
04. कमर पर हीरे-मोतियों की ..... बंधी हुई थी।
05. हठ करती हुई-सी बोली, "नहीं, मुझे तो बस ..... ला दो। आपका एहसान मानूँगी। आप तकलीफ न उठाना चाहें तो मुझे इजाजत दें, मैं तोड़ लाती हूँ।"
06. दुनिया की सारी ..... के बदले भी बीता हुआ पल वापस नहीं लौटाया जा सकता।
07. इनसान दौलत की खातिर है कि दौलत ..... की खातिर, फकत इसी हिसाब को अच्छी तरह समझना है।
08. और उधर उस ..... के नीचे मूर्च्छा टूटने पर भूत की आँखें खुलीं।

09. पर आँचल से दूध पीती यह बच्ची, बड़ी होकर औरत का ऐसा जीवन न भोगे तो ..... की सारी तकलीफें सार्थक हो जायें।
10. लोगों ने तड़े के मुँह पर बँधे ..... की तरफ देखा धार लगा हुआ था।
11. सेठ के लड़के ने तो होंठ ही नहीं खोले। गुस्सा तो ऐसा आया कि इस गँवार ..... की चटनी बना डाले। पर कहा कुछ नहीं।
12. साथ-साथ चलता यह शख्स ऐसा लग रहा है गोया वो शीशे में अपना ही ..... देख रहा हो।
13. एक साल पहले यह ..... कैसे गिरी ?
14. औरत की इस ज़िन्दगी में राम जाने कैसी-कैसी बातें सुननी पड़ेंगी, कैसे-कैसे अपमान सहने पड़ेंगे और कैसे-कैसे ..... देखने पड़ेंगे !
15. यों दो ..... का रिवाज चल निकला तो कैसे निभेगी ? अमीरों का तो कुछ नहीं, पर गरीबों का जीना हराम हो जाएगा।
16. अद्‌भुत है आँधी का यह नृत्य ! अद्‌भुत है रेत की यह ..... ! समूची कुदरत इस तूफान में छिप गई। सारा ब्रह्माण्ड एकाकार हो गया। न आकाश दिखता है, न सूरज। न पहाड़, न वनस्पति और न .....।
17. नींद में सोये हुए का गला ..... करने पर तो तलवार भी कलंकित होती है।
18. माँ-बाप की नजर में ..... बढ़ने में वक्त लगता हो तो बेटी का शरीर बढ़ने में भी कोई वक्त लगे।
19. बिज्जी ने ....., 'रूपम', 'परम्परा' आदि साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन किया।
20. बिज्जी ने सन् 1959 में ..... भाषा में लिखने का प्रण किया।

निम्नलिखित कथनों की पहचान कीजिए कि वह किसके द्वारा किसके प्रति कहा गया है –

01. अब मालूम हुआ, उनके डर से ही आप हिसाब में उलझे हुए हैं। पर सारी बातें अपनी-अपनी जगह शोभा देती हैं। विवाह के समय हिसाब में फँसना, यह कहाँ का न्याय है !
02. आपकी इच्छा। अपनी-अपनी पसन्द है। मेरा तो एक बार मन हुआ कि इन ढालुओं के बदले नौलखा हार केर में टाँक दूँ, तब भी कम है।
03. सेठजी, दिखती मक्खी निगली नहीं जा सकती। वक्त आने पर जान देने को तैयार हैं, पर पानी की गठरी कैसे बाँधी जा सकती है ! यह आदमी बढ़-बढ़कर कह रहा है, बहू से ढालुओं वाली बात पूछो तो सही, इसमें हर्ज ही क्या है ?
04. पर दौलत तो दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहे, तभी अच्छा है। व्यापार तो बनिये का पहला धर्म है। अभी तो दौलत बहुत बढ़ानी है। ऐसा बढ़िया मुहूर्त कैसे छोड़ा जा सकता है !
05. मैं कोई राजा नहीं हूँ, जो न्याय की कीमत वसूल करूँ। मैंने तो अटका काम निकाल दिया। और यह अँगूठी मेरे किस काम की !

06. सात चुटकियों के साथ ही जो इस छागल के अन्दर घुस जायेगा, वो ही रनिवास का असली मालिक है। जो मेरे न्याय को गलत बताएगा, उसके गले की खातिर मेरे तड़े का एक ही झटका काफी है, यह खयाल रखना।
07. फकत विवाह से क्या होता है ! विवाह की दुहाई उम्र-भर नहीं चल सकती। व्यापार वस्तुओं का होता है, प्रीत का नहीं। तुम तो प्रीत का भी व्यापार करने लगे ! इस व्यापार में ऐसी ही बरकत हुआ करती है !
08. क्यूँ माँगलिक धागे क्या दिसावर में नहीं खुल सकते ?
09. मुझे एक दफा सौरी में जाने दो। माँ-बेटी की खैरियत तो पूछ लूँ। न जाने कैसी तबीयत है ?
10. ऐसी बातों में औरतें सच नहीं बोलतीं ? हमें तो दूध में कालिख नजर आती है। फिर जो तुम्हारी समझ में आये, सो करो।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖